बुद्ध-वाणी

वियोगी हरि

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल

दिल्ली.

मूल्य दस आना

पूज्य मालवीयजी की अपील

"'सस्ता साहित्य मण्डल' ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्त
पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण व
इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस
दिल्ली

पहली बार २०००
सन १९३५.
मूल्य दस आना

पूज्य मालवीयजी की अपील

"'सस्ता साहित्य मण्डल' ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
दिल्ली

प्रस्तावना

आचार्य काका कालेलकरने एक जगह लिखा है कि, "बुद्ध-भगवान् की शिक्षा आज के युग के लिए विशेष रीति से अनुकूल है, विशेष रीति से पोषक है।" संसार में आज हर चीज का बड़ी बारीकी से विश्लेषण हो रहा है। विश्लेषण की कसौटी पर जो चीज खरी नहीं उतरती, उसे अपनाने क्या छूनेतक में दुनिया अब आनाकानी करने लगी है। मानवता के मूल में ओतप्रोत धर्म फिर इस व्यापक छानबीन से, इस बौद्धिक क्रांति से अछूता कैसे रह सकता था? संसार के छोटे-बड़े धर्म-मजहबों का भी इधर कुछ वर्षों से स्वतंत्र दृष्टि से विश्लेषणात्मक अध्ययन होनें लगा है। और इसीसे काका कालेलकरने वर्तमान शताब्दी को 'धर्म-मन्थन-काल' कहा है। इस धर्म-मन्थन-काल में इलहाम का 'आर्डिनेन्स' मानने को आज मनुष्य की आतमा तैयार नहीं, यद्यपि

कभी-कभी अंध-अश्रद्धावश आवेश में वह अविवेक का भी प्रदर्शन कर बैठती है। शुद्ध बौद्धिक कसौटी पर कसते समय यह देखा जाता है कि वह धर्म समभाव और समन्वय का कहांतक समर्थक है, वैषम्य और द्वेष की आग को वह उत्तेजन तो नहीं दे रहा है, और सर्वसाधारण का 'कल्याण' उसके द्वारा कहांतक संपादित होता है। किन्तु इस धर्मतुला को मैं एकदम नई कसौटी कहने के पक्ष में नहीं हूँ। धर्म की यह तराजू उतनी ही प्राचीन है, जितनी प्राचीन कि हमारी प्रज्ञा है। कई सदियोंतक हमारे अधर्ममूलक तअस्सुबने इस अनमोल चीज को ओझल जरूर कर रखा था, और कुछ अंशों में आज भी कर रखा है, पर जगत् के क्रांतदर्शी संतों और महापुरुषोंने अपना शोधन-कार्य तो सदा जारी ही रखा। समय-समय पर उन्होंने मनुष्य की बुद्धि पर पड़ा हुआ वह विभेदक पर्दा उठाया और उससे कहा कि—"देख, धर्म का सच्चा सनातनरूप यह है, **एष धर्मः सनातनः**।" भगवान् बुद्धने तो अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि, "आओ, और अपनी **'प्रज्ञा की आँख से'** धर्म को देखो—**एहि पश्यक धर्म**।" यही कारण है कि बुद्ध भगवान् की शिक्षा आज के युग के लिए विशेष रीति से अनुकूल है और विशेष रीति से पोषक है।

जहां अन्य धर्मोंने पात्र में रखी जानेवाली 'वस्तु' के विवेचन में अपने दार्शनिक ज्ञान की सारी पूंजी खर्च कर डाली है, वहां बौद्धधर्म में पात्र की सम्यक् शुद्धि पर ही सब से अधिक जोर दिया गया है, और यही इस मानवधर्म की सबसे बड़ी विशेषता है। और इसीसे आस्तिक और नास्तिक दोनों ही इस कल्याण-मूलक धर्म में समान समाधान पाते हैं। कोई विवाद नहीं, कोई

कलह नहीं। अष्टांगिकमार्गी या अन्तःशुद्धि का साधक द्वेषमूलक वाद-विवाद से अलग ही रहेगा। मैत्री, मुदिता और करुणा के शीतल जल में जिस मनुष्यने अपना रोम-रोम भिगो लिया है, वह विवाद, द्वेष और कलह की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता। वह किसके साथ तो राग करे और किसके साथ द्वेष?

यह सही है कि रूढ़िप्रिय मनुष्य की अंतड़ियों के घातक फोड़े में बुद्ध भगवान्नें नश्तर लगाया था, और उससे वह एक-बार क्रुद्ध हो चीख उठा था। पर वहां भी भगवान् की असीम करुणा काम कर रही थी। उन्हें तो तृष्णा-शल्याविद्ध मनुष्य के अंतर की पीड़ा हरनी थी, उसका सारा सड़ा मवाद निकालना था, उसका हृदय-घट शुद्ध करना था। रोगी के प्रलाप और अभिशाप से भगवान् डर जाते तो उसे 'ब्रह्मविहार' का आनंद-लाभ कैसे होता? पीछे, जब आंखें खुलीं तो अपने महाकारुणिक चिकित्सक को उसने जगत् का उद्धारक ही नहीं, ईश्वर का अवतार तक माना, और उसकी श्रद्धावनत अंतरात्मा से बरबस ये शब्द निकल पड़े—

बुद्धं शरणं गच्छामि;
धर्मं शरणं गच्छामि;
संघं शरणं गच्छामि।

× × × ×

समय के फेर से बौद्धधर्म आज अपनी जन्मभूमि भारत में प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सर्वथा लोप हो गया है। हमारे राष्ट्र पर, हमारे जीवन पर आज भी उस महान् मानवधर्म की अमिट छाप लगी हुई है। भले ही

हम अपनें को प्रत्यक्ष में बौद्ध न कहें, पर बौद्धधर्म का प्रेरणाप्रद प्रभाव हम भारतवासियों के जीवन में परोक्षतः कुछ-न-कुछ काम तो कर ही रहा है। प्रयाग में आज तीसरी नदी का प्रत्यक्ष दर्शन कहां होता है, पर त्रिवेणी के एक-एक कण का महत्व और अस्तित्व उस लुप्तधारा सरस्वती की ही वदौलत बना हुआ है।

पर इस तरह आत्म-संतोष कर लेने से काम नहीं चलेगा। भगवान् बुद्ध का हमारे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है। बौद्ध-वाङ्मय के प्रति हमारी यह भारी उदासीनता सचमुच अक्षम्य है। हमारी राष्ट्रभाषा का बौद्ध-साहित्य के प्रकाशन में तीसरा नंबर आता है। यह हमारे लिए भारी लज्जा और दुःख का विषय नहीं तो क्या है? बंगभाषा का बौद्ध-साहित्य के प्रकाशन में प्रथम स्थान है। उसके बाद मराठी का नंबर है। मराठी में आचार्य धर्मानन्द कौशांबीनें बड़ी योग्यता और विद्वत्तापूर्वक अनेक पाली ग्रन्थों का अत्यंत सुंदर अनुवाद किया है। कौशांबीजी के कुछ बौद्ध ग्रन्थों का गुजराती भाषांतर भी प्रकाशित हो चुका है। हिंदी में तो दो-तीन साल पहले, सिवा चार-पांच बुद्ध-जीवनियों और धम्मपद के तीन-चार अनुवादों के, कुछ था ही नहीं। इधर बेशक इस दिशा में हिंदीने अच्छी प्रगति की है। महापंडित त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायनने समस्त 'त्रिपिटक' (सुत्तपिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक) का हिंदी-अनुवाद करने का निश्चय किया है। 'मज्झिम निकाय' का अनुवाद तो प्रकाशित भी हो गया है। श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा संकलित 'बुद्धचर्या' भी हिंदी में एक अद्वितीय ग्रन्थ है। श्री सांकृत्यायनजी का संपादित आचार्य वसुबंधु-रचित 'अभिधर्मकोश' भी प्रकाशित हो चुका है। यदि

यही क्रम जारी रहा तो श्री सांकृत्यायनजी के कथनानुसार मूल बौद्ध-साहित्य के अनुवाद में हिंदी का स्थान भारतीय भाषाओं में ही प्रथम नहीं हो जायगा, बल्कि हमारी मातृभाषा यूरोपीय भाषाओं से टक्कर लेनें लगेगी।

अब दो शब्द प्रस्तुत पुस्तक पर। धम्मपद का मैं एक जमाने से भक्त हूँ। इधर श्रीधर्मानन्द कौशांबी और श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुवादित ग्रन्थ देखकर तो मैं 'कुसलस्स उपसंपदा' वाले बुद्ध-शासन पर आशिक हो गया हूँ। 'सुत्तनिपात' तो दो बार पूरा पढ़ा, तो भी तृप्ति नहीं हुई। पुस्तक पढ़ते समय अपने अत्यंत प्रिय स्थलों पर निशान लगाने की मेरी पुरानी आदत है। पढ़ते-पढ़ते मुझे सूझा कि भगवान् बुद्ध की सूक्तियों का लगे हाथों एक छोटा सा विषयवार संग्रह क्यों न कर डाला जाय? मित्रों में चर्चा की तो उन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया। उसी इच्छा और प्रोत्साहन का परिणाम यह 'बुद्धवाणी' नामक सूक्ति-संग्रह है।

आरंभ में आर्यसत्य-चतुष्टय, अष्टांगिक मार्ग, स्मृत्युपस्थान आदि बौद्धधर्म के मूल विषय कदाचित् पाठकों को ऊपर से कुछ नीरस से लगें, पर जरा मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे तो इन दार्शनिक सूक्तियों में उन्हें आत्म-तृप्तिकर आनंद-रस मिले बिना न रहेगा। अंत में 'सूक्तिकण' नामक एक खंड है, जिसमें विविध विषयों की सूक्तियों का संग्रह किया गया है। पाठकों से मेरा आग्रह है कि सूक्ति-कण को वे अवश्य आद्योपान्त पढ़ें।

कौन सूक्ति किस ग्रन्थ से ली गई है इसका निर्देश मैंने प्रत्येक सूक्ति-संग्रह-विभाग के अंत में कर दिया है। पुस्तक के अंत में

बौद्ध-साहित्य में प्रयुक्त खास-खास पारिभाषिक शब्दों का एक संक्षिप्त कोश भी दे दिया है।

'बुद्ध-वाणी' ने लोगों के हृदय में यदि बौद्ध-वाङ्मय के निर्मल सरोवर में अवगाहन करने की जरा भी लालसा जगाई तो मैं अपना यह तुच्छ प्रयास सफल समझूंगा।

दिल्ली,
श्रावण, सं० १९९२ } वियोगी हरि

ग्रन्थ-संकेत-निर्देश

म. नि.	=	मज्झिम निकाय (राहुल सांकृत्यायन)
दी. नि.	=	दीघ निकाय
अं. नि.	=	अंगुत्तर निकाय
सं. नि.	=	संयुत्त निकाय
ध. प.	=	धम्मपद
सु. नि.	=	सुत्त निपात (धर्मानन्द कौशांबी-गुजराती संस्करण)
बु. च.	=	बुद्धचर्या (राहुल सांकृत्यायन)
बु. ली.	=	बुद्धलीला (धर्मानन्द कौशांबी-गुजराती संस्करण)
बु. दे.	=	बुद्धदेव (जगन्मोहन वर्मा)

विषय-निर्देश

बुद्ध-वाणी

भगवान् बुद्ध

नमो तस्स भगवतो
अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

卐

बुद्धं सरणं गच्छामि
धम्मं सरणं गच्छामि
संघं सरणं गच्छामि

बुद्ध-वाणी

बुद्ध-शासन

१. सारे पापों का न करना, 'कुशल धर्मों,' अर्थात् पुण्यों का संचय करना, और अपना चित्त परिशुद्ध रखना—यही बुद्धों की शिक्षा है।

*

---

१. सब्ब पापस्स अकरणं
कुसलस्स उपसंपदा;
सचित्त परियोदपनं
एतं बुद्धान सासनं।

२. बुद्धों की यह शिक्षा है :—

(१) निंदा न करना;

(२) हिंसा न करना;

(३) आचार-नियम-द्वारा अपने को संयत रखना;

(४) मित भोजन करना;

(५) एकांत में वास करना;

(६) चित्त को योग में लगाना।

---

२. अनुपवादो अनुपघातो,
पातिमोक्खे च संवरो;
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं
पंतञ्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो
एतं बुद्धान सासनं।

१—२. ध. प. (बुद्धवग्गो)

महामंगल

१. मूर्खों के सहवास से दूर रहना, सत्पण्डितों का सत्संग करना, और पूज्यजनों को पूजना ही उत्तम मंगल है।

२. अनुकूल प्रदेश का वास, पुण्यों का संचय और सन्मार्ग में मन की दृढ़ता—यही उत्तम मंगल है।

३. विद्या और कला का संपादन, सद्व्यवहार का अभ्यास तथा समयोचित भाषण—यही उत्तम मंगल है।

४. माता-पिता की सेवा, स्त्री-पुत्रादि की सँभाल और व्यवस्थित रीति से किये हुए कर्म—यही उत्तम मंगल है।

५. आदर, नम्रता, संतुष्टि, कृतज्ञता और बारबार सद्धर्म का सुनना—यही उत्तम मंगल है।

६. क्षमा, मधुर भाषण, संतों का सत्संग और बारबार धर्मचर्चा—यही उत्तम मंगल है।

७. तप, ब्रह्मचर्य, आर्यसत्यों* का ज्ञान तथा निर्वाणपद का साक्षात्कार—यही उत्तम मंगल है।

---

*दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध का मार्ग, इन चार सत्यों को भगवान् बुद्धने 'आर्यसत्य-चतुष्टय' कहा है।

१—७. सु. नि. (महामंगल सुत्त).

आर्यसत्य-चतुष्टय

१. पहला आर्यसत्य **दुःख** है। जन्म दु
व्याधि दुःख है, मृत्यु दुःख है; अप्रिय का मि
का विछुड़ना दुःख है, जिसे चाहें वह न मिले
संक्षेप में, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और वि
स्कंध (समुदाय) ही दुःख है।

२. **दुःखसमुदय** नाम का दूसरा आ
जो पुनर्भवादि दुःख का मूल कारण है। यह
उत्पन्न हुई है। सांसारिक उपभोगों की तृण
की तृष्णा, और आत्महत्या करके संसार
तृष्णा इन तीन तृष्णाओं से मनुष्य अनेक
करता है और दुःख भोगता है।

३. तीसरा आर्यसत्य **दुःखनिरोध** है
और अनालय है। तृणा का निरोध करने
होती है, देहदंड या कामोपभोग से मोक्षलाभ

४. चौथा आर्यसत्य **दुःख-निरोधगा**
इसी आर्यसत्य को **अष्टांगिक मार्ग** कहते हैं।

(१) सम्यक् दृष्टि,
(२) सम्यक् संकल्प,
(३) सम्यक् वचन,

(५) सम्यक् आजीव,

(६) सम्यक् व्यायाम,

(७) सम्यक् स्मृति,

(८) सम्यक् समाधि ।

दुःख का निरोध इसी मार्ग पर चलने से होता है ।

५. **दुःख** नामक पहला आर्यसत्य पूर्व धर्मों में नहीं सुना गया था । यह दुःख नामक आर्यसत्य **परिज्ञेय** है ।

६. **दुःखसमुदय** नाम का दूसरा आर्यसत्य पूर्व धर्मों में कभी नहीं सुना गया था । यह दुःखसमुदय नाम का आर्यसत्य **त्याज्य** है ।

७. **दुःखनिरोध** नाम का तीसरा आर्यसत्य पहले के धर्मों में नहीं सुना गया था । यह दुःखनिरोध नाम का आर्यसत्य **साक्षात्करणीय कर्तव्य** है ।

८. **दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा** नाम का चौथा आर्य-सत्य पूर्व धर्मों में नहीं सुना गया था । यह दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा नामक आर्यसत्य **भावना करनेयोग्य** है ।

९. इस 'आर्यसत्य-चतुष्टय' से मेरे अंतर में चक्षु, ज्ञान, प्रज्ञा, विद्या और आलोक की उत्पत्ति हुई ।

१०. जब से मुझे इन चारों आर्यसत्यों का यथार्थ सुविशुद्ध ज्ञानदर्शन हुआ, तब से मैंने देवलोक में, मारलोक में, श्रमण-जगत् और ब्राह्मणीय प्रजा में, देवों और मनुष्यों में यह प्रगट किया कि मुझे अनुत्तर सम्यक् संबोधि* प्राप्त हुई और मैं **अभिसंबुद्ध**

---

* परमज्ञान, मोक्षज्ञान

हुआ, मेरा चित्त निर्विकार और विमुक्त हो गया। और यह अब मेरा अंतिम जन्म है।

११. परिव्राजक को इन दो **अंतों** (अतिसीमा) का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दोनों अंत कौन हैं? पहला अंत है काम-वासनाओं में कामसुख के लिए लिप्त होना। यह अंत अत्यंत हीन, ग्राम्य, अध्यात्ममार्ग से हटा देनेवाला, अनार्य्य और अनर्थकारी है। दूसरा अंत है शरीर को दंड देकर दुःख उठाना। यह भी अनार्यसेवित और अनर्थयुक्त है। इन दोनों अंतों को त्यागकर **मध्यमा प्रतिपदा** (अष्टांगिक मार्ग) का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। यह मध्यमा प्रतिपदा चक्षुदायिनी और ज्ञानप्रदायिनी है। इससे उपशम, अभिज्ञान, संबोधन और निर्वाण प्राप्त होता है।

१—११. बु. च. (धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र).

अष्टांगिक मार्ग

१. सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि, यह आर्य अष्टांगिक मार्ग है।

२. **सम्यक् दृष्टि,** दुःख का ज्ञान, दुःखोदय का ज्ञान, दुःख-निरोध का ज्ञान और दुःखनिरोध की ओर ले जानेवाले मार्ग का ज्ञान, इस आर्यसत्य-चतुष्टय के सम्यक् ज्ञान को सम्यक् दृष्टि कहते हैं।

३. **सम्यक् संकल्प,** निष्कर्मता-संबंधी, अर्थात् अनासक्ति संबंधी संकल्प, अहिंसासंबंधी संकल्प, और अद्रोहसंबंधी संकल्प को सम्यक् संकल्प कहते हैं।

४. **सम्यक् वचन,** असत्य वचन छोड़ना, पिशुन वचन अर्थात् चुगलखोरी छोड़ना, कठोर वचन छोड़ना और बकवाद छोड़ना सम्यक् वचन है।

५. **सम्यक् कर्मान्त** प्राणिहिंसा से विरत होना, बिना दी हुई वस्तु न लेना और कामोपभोग के मिथ्याचार (दुराचार) से विरत होना ही सम्यक् कर्मान्त है।

६. **सम्यक् आजीव,** आजीविका के मिथ्या साधनों को छोड़कर अच्छी सच्ची आजीविका से जीवन व्यतीत करना सम्यक् आजीव है।

७. **सम्यक् व्यायाम,** 'अकुशल' धर्म, अर्थात् पाप उत्पन्न न होने देने के लिए निश्चय करना, परिश्रम करना, उद्योग करना,

चित्त को पकड़ना और रोकना तथा कुशल धर्म, अर्थात् सत्कर्म की उत्पत्ति, स्थिति, विपुलता और परिपूर्णता के लिए निश्चय, उद्योग आदि करना ही सम्यक् व्यायाम है।

८. **सम्यक् स्मृति**, अशुचि, जरा, मृत्यु आदि दैहिक धर्मों का अनुभव करना तथा उद्योगशील अनुभवज्ञानयुक्त हो लोभ और मानसिक संताप को छोड़कर जगत् में विचरना ही सम्यक् स्मृति है।

९. **सम्यक् समाधि**, कुशल धर्मो अर्थात् सन्मनोवृत्तियों में समाधान रखना ही सम्यक् समाधि है।

१०. इस सम्यक् समाधि की प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यानरूपी चार पगडंडियां हैं।

पहले ध्यान में, वितर्क, विचार, प्रीति (प्रमोद) सुख और एकाग्रता का प्राधान्य होता है।

दूसरे ध्यान में, वितर्क और विचार का लोप हो जाता है; प्रीति, सुख और एकाग्रता इन तीन मनोवृत्तियों का ही प्राधान्य रहता है।

तीसरे ध्यान में, प्रीति का लय हो जाता है; केवल सुख और एकाग्रता की ही प्रधानता रहती है।

चौथे ध्यान में, सुख भी लुप्त हो जाता है; उपेक्षा और एकाग्रता का ही प्राधान्य रहता है।

*

११. अमृत की ओर ले जानेवाले मार्गों में अष्टांगिक मार्ग परम **मंगलमय मार्ग** है।

*

१२. दुःख आर्यसत्य, दुःख-समुदय आर्यसत्य, दुःखनिरोध आर्यसत्य और दुःखनिरोधगामिमार्ग आर्यसत्य, इन चार आर्य-सत्यों का ज्ञान न होनें से युगानुयुगोंतक हम सब लोग संसृति के पाश में वँधे पड़े थे। किन्तु अब इन आर्यसत्यों का वोध होने से हमने दुःख की जड़ खोद निकाली है, और हमारा पुनर्जन्म से छुटकारा हो गया है।

१.—१०. दी.नि. (महासतिपट्ठान सुत्त) ११. म. नि. (मागंदिय सुत्तन्त) ११. दी. नि. (महापरिनिव्वाण सुत्त)

जागृति के चार साधन

(चार स्मृत्युपस्थान)

१. शुद्ध होनें के लिए, शोक और दुःख से तरने के लिए, दौर्मनस्य (मानसिक दुःख) का नाश करने के लिए, सन्मार्ग प्राप्त करनें के लिए और निर्वाणपद का अनुभव लेने के लिए चार स्मृति-उपस्थानों का मार्ग ही एकमात्र सच्चा मार्ग है।

२. चार स्मृति-उपस्थान ये हैं :—

(१) अपनी देह का यथार्थ रीति से अवलोकन करना;

(२) वेदना* का यथार्थ रींति से अवलोकन करना;

(३) चित्त का यथार्थ रीति से अवलोकन करना;

(४) मनोवृत्तियों का यथार्थ रीति से अवलोकन करना।

ये चार स्मृति-उपस्थान अर्थात् जागृति के श्रेष्ठ साधन हैं।

३. अरण्य में वृक्ष के नीचे अथवा एकान्त में पालथी मारकर गर्दन से कमरतक शरीर सीधा रखकर जो भिक्षु जागृत अन्तः-करण से श्वास खींचता है और प्रश्वास बाहर निकालता है, उसका आश्वास और प्रश्वास दीर्घ है या ह्रस्व इसकी जिसे पूर्ण स्मृति होती है, जागृतिपूर्वक जो अपने प्रत्येक आश्वास-प्रश्वास का अभ्यास करता है, वह अपने आश्वास-प्रश्वास को भली भांति जानता है।

---

*इन्द्रिय और विषय के एकसाथ मिलने के बाद जो दुःख-सुख आदि विकार उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार वह आश्वास और प्रश्वास को सम्यक् रीति से जानता है, उसी प्रकार वह अपनी देह का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

४. जाते समय वह यह स्मरण रखता है कि 'मैं जा रहा हूँ'; खड़ा होता है तो 'मैं खड़ा हूँ' यह स्मरण रखता है; जब बैठा होता है तब यह स्मरण रखता है कि 'मैं बैठा हूँ'; बिस्तरे पर पड़ा होता है तो 'मैं बिस्तरे पर पड़ा हुआ हूँ,' यह स्मरण रखता है। उसे देह की समस्त क्रियाओं का ज्ञान होता है।

इस तरह वह अपनी देह का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

५. वह अपनी देह का नख से शिखतक अवलोकन करता है। केश, रोम, नख, दन्त, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, मूत्राशय, कलेजा, यकृत, तिल्ली, फेफड़े, आंत, अंतड़ियां, विष्ठा, पित्त, कफ, पीब, रक्त, पसीना, मेद, आंसू, चरबी, थूंक, लार और मूत्र ऐसी-ऐसी अपवित्र चीजें इस देह में भरी हुई हैं!

कायानुपश्यी योगी अपनी देह में भरे हुए इन तमाम अपवित्र पदार्थों का उसी प्रकार एक-एक करके अवलोकन करता है, जिस प्रकार कि हम विविध अनाजों की पोटली को खोलकर देख सकते हैं, कि इसमें यह चावल ह, यह मूंग है, यह उड़द है, यह तिल है और यह धान है।

६. वह कायानुपश्यी भिक्षु मरघट में जाकर अनेक तरह के मुर्दों को देखता है। कोई मुर्दा सूजकर मोटा हो गया है, किसी मुर्दे को कौओं, कुत्तों, और सियारोंने खाकर और नोच-नाचकर छिन्न-भिन्न कर डाला है, तो किसी की केवल शंख-सी सफेद हड्डियां

ही पड़ी हुई हैं। ऐसे भयावने मुर्दों की तरफ देखकर वह यह विचार करता है कि 'मेरी देह की भी एक दिन यही गति होनी है। यह हो नहीं सकता, कि मेरी देह इस नश्वर स्थिति से मुक्त हो जाय।'

वह यह स्मरण रखता है कि यह देह जब पैदा हुई है तब एक-न-एक दिन तो इसका नाश होगा ही। देह नाशवान् है इसका उसे हमेशा स्मरण रहता है।

वह अनासक्त हो जाता है। दुनिया में किसी भी वस्तु की उसे आसक्ति नहीं रहती।

इस प्रकार वह अपनी देह का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

७. कोई भिक्षु अपनी वेदनाओं का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। जब वह सुखकारी वेदना का अनुभव करता है, तो वह समझता है कि मैं सुखद वेदना का अनुभव कर रहा हूँ।

और जब दुःखकारी वेदना का अनुभव करता है, तब वह समझता है कि मैं दुःखद वेदना का अनुभव कर रहा हूँ।

जब वह सुख-दुःखरहित वेदना का अनुभव करता है, तब वह समझता है कि मैं सुख-दुःखरहित वेदना का अनुभव कर रहा हूँ।

उसे इस बात का स्मरण रहता है कि वह इस वेदना का लोभ से अनुभव कर रहा है या अलोभ से।

इस प्रकार वह आन्तरिक और बाह्य वेदना का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है। वह देखता है कि वेदना जब पैदा हुई है तब नाश उसका अवश्य होगा।

उसे यह स्मरण रहता है कि उसके अंग में वेदना है।

स्मृति और ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह वेदनानुपश्यी योगी अनासक्त हो जाता है। इस लोक की किसी भी वस्तु में वह आसक्ति नहीं रखता।

८. कोई भिक्षु अपने चित्त का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। मेरा चित्त सकाम है या निष्काम, सद्वेष है या विगत-द्वेष, समोह है या वीतमोह, संक्षिप्त है या विक्षिप्त, समाहित (एकाग्र) है या असमाहित, विमुक्त है या अविमुक्त, आदि सभी अवस्थाओं को वह जानता है। इस प्रकार उसे अपने और पराये चित्त का परिज्ञान हो जाता है।

वह जानता है कि चित्त का स्वभाव चंचल है। चित्त ऐसा क्यों है, इसकी उसे स्मृति होती है।

केवल स्मृति और ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं रखता। इस प्रकार वह चित्तानुपश्यी भिक्षु चित्त का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

९. कोई भिक्षु अपनी मनोवृत्तियों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। वह इस बात की ठीक-ठीक शोध करता है कि उसके अंत:करण में कामविकार, द्वेषवृद्धि, आलस्य, अस्वस्थता और संशय, ये ज्ञान के पांच आवरण हैं या नहीं।

इन आवरणों की उत्पत्ति कैसे होती है, इनके उत्पन्न होने पर इनका विनाश किस तरह किया जाता है, और इनके फिर से उत्पन्न न होनें का क्या उपाय है, इस सब को वह जानता है।

इस प्रकार इन पांच मनोवृत्तियों का वह यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

१०. फिर वह पांच स्कन्धों का यथार्थरीति से अवलोकन

करता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धों का उदय और अस्त कैसे होता है यह वह जानता है।

इस प्रकार वह धर्मानुपश्यी भिक्षु आभ्यंतर और बाह्य स्कन्धों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

११. फिर वह चक्षु, रूप इत्यादि आध्यात्मिक और बाह्य आयतनों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। चक्षु और रूप, कर्ण और शब्द, नासा और गंध, त्वचा और स्पर्श, मन और मनोवृत्ति इनके संयोग से कौन-कौन-से संयोजन पैदा होते हैं, और उनके उत्पन्न होने पर उन संयोजनों का नाश कैसे होता है, और संयोजन फिर उत्पन्न न हों इसका क्या उपाय है इस सबको वह जानता है।

१२. फिर वह सात बोध्यंगों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। स्मृति, धर्मप्रविचय (धर्मसंचय) वीर्य (उद्योग) प्रीति, प्रश्रब्धि (शांति), समाधि और उपेक्षा ये सात धर्म मेरे अंतःकरण में हैं या नहीं यह वह जानता है। यदि नहीं हैं तो ये संबोध्यंग किस प्रकार उत्पन्न किये जा सकते हैं, और उत्पन्न हुए संबोध्यंगों को भावना के द्वारा किस प्रकार पराकाष्ठातक पहुँचाया जा सकता है, यह सब वह जानता है।

इस प्रकार वह भिक्षु आध्यात्मिक और बाह्य मनोवृत्तियों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

१३. इसके अतिरिक्त वह भिक्षु चार आर्यसत्यों का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

यह दुःख है, यह दुःख का समुदय है, यह दुःख का निरोध है और यह दुःख-निरोध का मार्ग है, यह वह यथार्थरीति से जानता है।

इस प्रकार वह भिक्षु आध्यात्मिक और वाह्य मनोवृत्तियों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

१४. इन चार स्मृति-उपस्थानों की ऊपर कहे अनुसार सात वर्षतक भावना करने से भिक्षु को 'अर्हत्पद' की प्राप्ति हो जायगी। अधिक नहीं तो, वह 'अनागामी' तो हो ही जायगा, उसे फिर इस लोक में जन्म नहीं लेना पड़ेगा।

१५. सात वर्ष जाने दो, ऊपर कहे अनुसार जो भिक्षु इन चार स्मृति-उपस्थानों की भावना छै वर्ष, पांच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, दो वर्ष, एक वर्ष, इतना भी तो नहीं, तो सात मास, छै मास, पांच मास, चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास या सात ही दिन यथार्थरीति से करेगा, तो उसे 'अर्हत्पद' की प्राप्ति हो जायगी—और नहीं तो वह अनागामी तो हो ही जायगा।

१६. इन चार स्मृति-उपस्थानों का मार्ग शोक और कष्ट की विशुद्धि के लिए, दुःख और दौर्मनस्य के अतिक्रमण के लिए, सत्य की प्राप्ति के लिए और निर्वाण के साक्षात्कार के लिए **एकायन मार्ग** (निश्चित मार्ग) है।

१—१६. म. नि. (सतिपट्ठान सुत्तन्त)

सप्त धर्मरत्न

१. धर्म के इन सात रत्नों को तुम लोग अवश्य धारण करो—(१) स्मृत्युपस्थान, (२) सम्यक् प्रधान (प्रयत्न) (३) ऋद्धिपाद, (४) इन्द्रिय, (५) वल, (६) बोध्यंग, और (७) मार्ग।

२. **स्मृत्युपस्थान** चार प्रकार का है—(१) शरीर अपवित्र है, (२) संसार की सभी वेदनाएँ दुःखरूप हैं, (३) चित्त अनित्य है, और (४) संसार के समस्त पदार्थ अलीक अर्थात् क्षणिक हैं। इन चारों के स्मरण और भावना को चतुर्विध स्मृत्युपस्थान कहते हैं।

३. **सम्यक् प्रधान** चार प्रकार का है—(१) अर्जित पुण्य का संरक्षण, (२) अलब्ध पुण्य का उपार्जन, (३) पूर्व संचित पाप का परित्याग, और (४) नूतन पापों की अनुत्पत्ति का प्रयत्न।

४. **ऋद्धिपाद** अर्थात् असाधारण क्षमता की प्राप्ति के लिए (१) दृढ़ संकल्प, (२) चिंता अर्थात् उद्योग, (३) उत्साह और (४) आत्मसंयम करना।

५. इन्द्रियां पांच प्रकार की हैं—(१) श्रद्धा, (२) समाधि, (३) वीर्य, (४) स्मृति, और (५) प्रज्ञा।

६. **वल** भी पांच प्रकार का है—(१) श्रद्धावल, (२) समाधिवल, (३) वीर्यबल, (४) स्मृतिवल, और (५) प्रज्ञावल।

७. **बोध्यंग** सात प्रकार का है—(१) स्मृति, (२) धर्म-प्रविचय (धर्मान्वेषण) या पुण्य, (३) वीर्य, (४) प्रीति, (५) प्रश्रब्धि अर्थात् शांति, (६) समाधि, और (७) उपेक्षा।

८. **मार्ग** आठ प्रकार का है—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति, और (८) सम्यक् समाधि।

९. इन सैंतीस पदार्थों को लेकर मैंने धर्म की व्यवस्था की है। इन्हें मैंने '**सप्तत्रिंशत् शिक्षमाग धर्म**' कहा है।

भिक्षुओ ! तुम्हारा यह कर्तव्य है कि इस धर्म का श्रवण, मनन और निदिध्यासपूर्वक जगत् में प्रचार करो।

१—९. दी. नि. (महापरिनिव्वाण सुत्त)

ब्रह्म-विहार

१. मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार मनोवृत्तियों को 'ब्रह्मविहार' कहते हैं ।

२. मैत्रीपूर्ण चित्त से, करुणापूर्ण चित्त से, मुदितापूर्ण चित्त से और उपेक्षापूर्ण चित्त से जो भिक्षु चारों दिशाओं को व्याप्त कर देता है; सर्वत्र सर्वात्मरूप होकर समस्त जगत् को अवैर और अद्वेषमय चित्त से भर देता है उसे मैं 'ब्रह्मप्राप्त' भिक्षु कहता हूँ ।

*

३. मैत्रीचित्तविमुक्ति की प्रेमपूर्वक इच्छा करनें से, भावना करने से, अभिवृद्धि करने से, स्थापना करने से, उसका अनुष्ठान करने से और उसे उत्साहपूर्वक अंगीकर करने से मनुष्य को ये ग्यारह लाभ होते हैं :—

वह सुखपूर्वक सोता है; सुख से जागता है; बुरे स्वप्न नहीं देखता; सब का प्रिय होता है; भूत-पिशाचों का भय नहीं रहता; देवता उसकी रक्षा करते हैं; अग्नि, विष या हथयार उस पर कोई असर नहीं कर सकते; चित्त का तुरंत समाधान हो जाता है; मुख की कान्ति अच्छी रहती है; शांति से मरता है; और, निर्वाण न भी मिले, तो भी मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक को तो जाता ही है ।

*

४. विचारपूर्वक किये हुए कर्मों का फल बिना भोगे नष्ट नहीं होता। इस लोक में अथवा परलोक में कृतकर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। फिर इन कर्मों को जाने विना दुःख नष्ट नहीं होता। अतः आर्यश्रावक (गृहस्थ) लोभ से, द्वेष से और मोह से विमुक्त होकर सचेत अंतःकरण के द्वारा मैत्रीयुक्त चित्त से, करुणायुक्त चित्त से, मुदितायुक्त चित्त से और उपेक्षायुक्त चित्त से चारों दिशाओं को अभिव्याप्त कर देता है; अखिल जगत् को अवैर और द्वेषरहित मैत्रीसहगत चित्त से अभिव्याप्त कर देता है।

वह समझता है कि पूर्व में इन भावनाओं के न करनें से मेरा चित्त संकुचित था। पर अब उत्तम रीति से इस मैत्री भावना, इस करुणा भावना, इस मुदिता भावना और इस उपेक्षा भावना के करने से वह असीम और अनंत हो गया है। जो भी मर्यादित कर्म मेरे हाथ से हुआ होगा, वह अब इन अमर्यादित भावनाओं के कारण शेष नहीं रह सकता, वह इन भावनाओं के सामने टिक नहीं सकता।

५. मनुष्य यदि छुटपन से ही मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाचित्तविमुक्ति की भावना करे, तो उसके हाथ से पाप-कर्म होगा ही क्यों? और वह पाप नहीं करेगा, तो फिर उसे दुःख क्यों भोगना पड़ेगा?

६. यह मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाचितविमुक्ति की भावना क्या पुरुष क्या स्त्री सभी को करनी चाहिए।

१—२ अं. नि. (चतुक्कनिपात) ३ अं. नि. (मेत्तसुत्त) ४—६. अं. नि. (दसक निपात)

सत्य

१. असत्यवादी नरकगामी होते हैं, और वे भी नरक में जाते हैं, जो करके 'नहीं किया' कहते हैं ।

२. जो मिथ्याभाषी है, वह मुंडित होने मात्र से श्रमण नहीं हो जाता ।

*

३. जिसे जान-बूझकर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, उसका साधुपना औंधे घड़े के समान है; साधुता की एक बूंद भी उसके हृदय-घट के अंदर नहीं ।

४. जिसे जान-बूझकर झूठ बोलनें में लज्जा नहीं,उससे कौन सा पाप-कर्म करने को बचा ? इसलिए तू यह हृदय में अंकित कर ले, कि मैं हँसी-मजाक में भी कभी असत्य नहीं बोलूंगा ।

*

५. जितनी हानि शत्रु शत्रु की, और वैरी वैरी की करता है मिथ्या मार्ग का अनुगमन करनेवाला चित्त उससे कहीं अधिक हानि पहुँचाता है ।

*

६. सभा में, परिषद् में अथवा एकांत में किसी से झूठ न बोले; झूठ बोलने के लिए दूसरों को प्रेरित न करे, न झूठ बोलने-वाले को प्रोत्साहन दे—इसलिए असत्य का सर्वांश में परित्याग कर देना चाहिए ।

*

७. अगर कोई हमारे विरुद्ध झूठी गवाही देता है, तो उससे हमें अपना भारी नुकसान हुआ मालूम होता है। इसी तरह अगर असत्य भाषण से मैं दूसरों की हानि करूँ, तो क्या वह उसे अच्छा लगेगा ? ऐसा विचार करके मनुष्य को असत्यभाषण का परित्याग कर देना चाहिए, और दूसरों को भी सत्य बोलने का उपदेश करना चाहिए। उसे तो सदा ईमानदारी की ही सराहना करनी चाहिए।

*

८. असत्य का कदापि आश्रय न ले। न्यायाधीशने गवाही देने के लिए बुलाया हो तो वहां भी जो देखा है उसी को कहे, कि मैंने देखा है; और जो बात नहीं देखी, उसे 'नहीं देखी' ही कहे।

*

९. सत्यवाणी ही अमृतवाणी है; सत्यवाणी ही सनातनधर्म है। सत्य, सदर्थ और सद्धर्म पर संतजन सदैव दृढ़ रहते हैं।

१०. सत्य एक ही है, दूसरा नहीं। सत्य के लिए बुद्धिमान् लोग विवाद नहीं करते।

११. ये लोग भी कैसे हैं ! सांप्रदायिक मतों में पड़कर अनेक तरह की दलीलें पेश करते हैं, और सत्य और असत्य दोनों का ही प्रतिपादन कर देते हैं ! अरे, सत्य तो जगत् में एक ही है, अनेक नहीं।

१२. जो मुनि है, वह केवल सत्य को ही पकड़कर और दूसरी तमाम वस्तुओं को छोड़कर संसार-समुद्र के तीर पर आ जाता है। उसी सत्यनिष्ठ मुनि को हम शांत कहते हैं।

१—२. ध. प. (निरय वग्गो) ३–४ बु. च. (राहुलोवाद सुत्त) ५. ध. प. (चित्त वग्गो) ६. सु. नि. (धम्मिक सुत्त) ७. बु, ली. सं. (पृष्ठ २५५) ८. म. नि. (सालेय्यक सुत्त) ९. सु. नि. (सुभासित सुत्त) १०-११. सु. नि. (चूलवियूह सुत्त). १२. सु. नि. (अत्तदंड सुत्त)

अहिंसा

१. 'जैसा मैं हूँ वैसे ही वे हैं और जैसे वे हैं वैसा ही मैं हूँ' इस प्रकार अपने उदाहरण से (सर्वात्मैक्य) समझकर न किसी को मारे, न मारने को प्रेरित करे।

*

२. जहां मन हिंसा से मुड़ता है, वहां दुःख अवश्य ही शान्त हो जाता है।

*

३. अपनी प्राण-रक्षा के लिए भी जान-बूझकर किसी प्राणी का वध न करे।

*

४. मनुष्य यह विचार किया करता है कि मुझे जीने की इच्छा है, मरनें की नहीं; सुख की इच्छा है, दुःख की नहीं। यदि मैं मेरी ही तरह सुख की इच्छा करनेवाले प्राणी को मार डालूं तो क्या यह बात उसे अच्छी लगेगी? इसलिए मनुष्य को प्राणिघात से तो विरत ही हो जाना चाहिए, और उसे दूसरों को भी हिंसा से विरत करानें का प्रयत्न करना चाहिए।

*

५. वैरियों के प्रति वैररहित होकर, अहा! हम कैसा आनन्दमय जीवन विता रहे हैं, वैरी मनुष्यों के वीच अवैरी होकर विहार कर रहे हैं!

*

६. पहले तीन ही रोग थे—इच्छा, क्षुधा और बुढ़ापा। पशु की हिंसा से बढ़ते-बढ़ते वे अठ्ठानवे हो गये!

ये याजक, ये पुरोहित निर्दोष पशुओं का वध कराते हैं, धर्म का ध्वंस करते हैं। यज्ञ के नाम पर की गई यह पशु-हिंसा निश्चय ही निन्दित और नीच कर्म है। प्राचीन पंडितोंनें ऐसे याजकों की निन्दा ही की है।

※

७. पहले के ब्राह्मण यज्ञ में गाय का हनन नहीं करते थे। जैसे माता, पिता, भ्राता और दूसरे बन्धु-बान्धव हैं, वैसे ही ये गायें हमारी परम मित्र हैं। ये अन्न, बल, वर्ण और सुख देनेवाली हैं।

८. किन्तु मानुष भोगों को देखकर कालान्तर में ये ब्राह्मण भी लोभग्रस्त हो गये, उनकी भी नीयत बदल गई। मंत्रों को रच-रचकर वे इक्ष्वाकु (ओक्काक) राजा के पास पहुँचे, और उसके धनैश्वर्य की प्रशंसा करके उसे पशु-यज्ञ करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने उससे कहा, 'जैसे पानी, पृथिवी, धन और धान्य प्राणियों के उपभोग की वस्तुएँ हैं, उसी प्रकार ये गायें भी मनुष्यों के लिए उपभोग्य हैं। अतः तू यज्ञ कर।

९. तब उन ब्राह्मणों से प्रेरित होकर रथर्षभ राजाने लाखों निरपराध गायों का यज्ञ में हनन किया। जो बेचारी न पैर से मारती हैं, न सींग से, जो भेड़ की नाई सीधी और प्यारी हैं, और जो घड़ाभर दूध देती हैं, उनके सींग पकड़कर राजानें शस्त्र से उनका वध किया।

१०. यह देखकर देव, पितर, इन्द्र, असुर और राक्षस चिल्ला उठे, 'अधर्म हुआ, अधर्म हुआ, जो गाय के ऊपर शस्त्र गिरा!'

१. सु. नि. (नालक सुत्त) २. ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) ३. बु. च. (सोह सुत्त) ४. बु. लो. सं. (पृष्ठ २५५) ५. ध. प. (सुख वग्गो) ६—१०. बु. च. (ब्राह्मण धम्मिक सुत्त)

अमृत की खेती

१. मैं भी कृषक हूँ। मेरे पास श्रद्धा का बीज है। उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है।

प्रज्ञा मेरा हल है। ह्री (पाप करने में लज्जा) की हरिस, मन की जोत और स्मृति की फाल से मैं अपना खेत (जीवन-क्षेत्र) जोतता हूँ।

सत्य ही मेरा खुरपा है। मेरा उत्साह ही मेरा बैल है और यह योगक्षेम मेरा अधिवाहन है। इस हल को मैं नित्य निरंतर निर्वाण की दिशा में चलाया करता हूँ।

२. मैं यही कृषि करता हूँ। इस कृषि से कृपक को अमृत-फल मिलता है, और वह समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

१—२. सु. नि. (कसिभारद्वाज सुत्त)

मैत्री-भावना

१. शांतपद के जिज्ञासु एवं आत्महित कुशल मनुष्य का कर्तव्य यह है कि उसे सहनशील, सरलातिसरल, मधुरभाषी, मृदु और निरहंकारी बनना चाहिए।

२. हमें कोई ऐसा क्षुद्र आचरण नहीं करना चाहिए, जिससे कि सुज्ञ जन हमें दोष दें। हमें सदा यही भावना करनी चाहिए कि जगत् के समस्त प्राणी सुखी, सक्षेम और सानंद रहें।

३. चर हों या स्थावर, बड़े हों या छोटे, दृष्ट हों या अदृष्ट, हम से दूर रहते हो या पास, जगत् में जितने भी प्राणी हों वे सब आनंदित रहें।

४. न हम एक दूसरे को धोखा दें, न किसी जगह एक दूसरे का अपमान करें, और न खीझ या द्वेषबुद्धि से एक दूसरे को दुःख देने की मन में इच्छा रखें।

५. माता जिस प्रकार अपने स्नेह-सर्वस्व पुत्र को अपना जीवन खर्च करके भी पालती है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों के प्रति हमें असीम प्रेम रखना चाहिए।

६. सर्व प्राणियों के प्रति हमें ऊपर, नीचे और चारों ओर असंबाध, अवैर और असपत्न मैत्री की असीम भावना बढ़ानी चाहिए।

७. खड़े हों तब, चलते हों तब, बैठे हों तब या बिस्तरे पर पड़े हों तब, जबतक नींद न आजाय, तबतक हमें इस मैत्री भावना की स्मृति स्थिर रखनी चाहिए।

इसी अवस्था को इस लोक में 'ब्राह्म जीवन' कहते हैं।

❋

८. जिस मनुष्य के मन से लोभ, द्वेष और मोह ये तीन मनोवृत्तियां नष्ट हो गई हैं, वही चारों दिशाओं में प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव प्रसारित कर सकता है। अपने मैत्रीमय चित्त से चारों दिशाओं में बसनेवाले समस्त प्राणियों पर वह प्रेम की रस-वर्षा करता है। करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाओं का उसे अनायास ही सुलाभ हो जाता है।

१—७. सु. नि. (मेत्त सुत्त) ८. अं. नि. (कालाम सुत्त)

अक्रोध

१. 'मुझे अमुक मनुष्यने गाली दी, अमुकने मुझे मारा, अमुकने मुझे पराजित किया, अमुकने मुझे लूट लिया' इस प्रकार के विचार की जो लोग मन में गांठ बांध लेते हैं, और वैर भँजानें की इच्छा रखते हैं, उनका वैरभाव कभी शांत नहीं होता।

२. वैर तो उन्हींका शांत होता है, जो इस प्रकार के विचार हृदय से निकाल देते हैं कि 'मुझे अमुकनें गाली दी, अमुकने मुझे मारा, अमुकने मेरा पराभव किया, अमुकनें मुझे लूट लिया।'

३. वैर से वैर कभी शांत नहीं होता। वैर प्रेम से ही शांत होता है। यही सनातनधर्म है।

*

४. 'दूसरे भले ही न समझें, पर हम तो इस कलह से दूर ही रहेंगे,' ऐसा जो समझते हैं उनका द्वेष या कलह नष्ट हो जाता है।

५. लोगों की हड्डियां तोड़ डालनेवाले, दूसरों का प्राण ले लेनेवाले, गाय, घोड़ा, धन-संपत्ति आदि का हरण करनेवाले और राष्ट्र में विप्लव मचानेंवाले लोग भी अपना संघ बना लेते हैं, उनमें भी एका हो जाता है; तब तुम्हारा संघ क्यों नहीं बन सकता?

*

६. किसी से कटु वचन न बोलो। यदि बोलोगी, तो वह भी तुम से वैसा ही कटु वचन बोलेगा। झगडे से दुःख बढ़ता ही है। कटु वचन बोलने से, बदले में, तुम्हें दण्ड मिलेगा। टूटा हुआ कांसा जैसे निःशब्द रहता है, उसी तरह अगर तुम स्वयं चुप रहोगे, तो तुम निर्वाणपद प्राप्त कर लोगे; तुम्हें कलह नहीं सतायगा।

※

७. क्षमा के समान इस जगत् में दूसरा तप नहीं।

※

८. जो चढे हुए क्रोध को चलते हुए रथ की तरह रोक लेता है, उसीको मैं सच्चा सारथी कहूँगा; और लोग तो केवल लगाम पकड़नेवाले हैं।

९. अक्रोध से क्रोध को जीते, भलाई से बुराई को जीते, कृपण को दान से जीते, और झूठ बोलनेवाले को सत्य से जीते।

※

१०. क्रोध करनेवाले के ऊपर जो क्रोध करता है, उसका खुद उससे अहित होता है; पर जो क्रोध का जवाब क्रोध से नहीं देता, वह एक भारी युद्ध जीत लेता है। प्रतिपक्षी को क्रोधान्ध देखकर जो अत्यंत विवेक के साथ शांत हो जाता है, वह अपना और पराया दोनों का ही हित-साधन करता है।

※

११. तुझे कोई गाली दे, और गाली ही नहीं, तेरे गाल पर कोई थप्पड़ मार दे, या पत्थर या हथियार से तेरे शरीर पर कोई प्रहार करे, तो भी तेरे चित्त में विकार नहीं आना चाहिए, तेरे

मुहँ से गंदे शब्द नहीं निकलने चाहिए, तेरे मन में उस समय भी तेरे शत्रु के प्रति अनुकंपा और मैत्री का भाव रहना चाहिए, और किसी भी हालत में क्रोध नहीं आना चाहिए।

१२. मनुष्य तभीतक शांत और नम्र दीखता है, जबतक कोई उसके विरुद्ध अपशब्द नहीं कहता। पर जब उसे अपशब्द या निंदा सुनने का प्रसंग आता है, तभी इस बात की परीक्षा हो सकती है, कि वह वास्तव में शांत और नम्र है या नहीं।

१३. जो धर्म के गौरव से धर्म को पूज्य मानकर शांत और नम्र होता है उसी को सच्चा शांत और उसीको सच्चा नम्र समझना चाहिए। अपना मतलब साधने के लिए कौन शांत और नम्र नहीं बन जाता?

१४. कोई मौके से बोलता है तो कोई बेमौके से बोल देता है; कोई उचित बात कहता है तो कोई अनुचित बात कह देता है; कोई मधुर वचन बोलता है तो कोई कटु वचन बोलता है; कोई हित की बात कहता है तो कोई अहित की बात कहता है; कोई हितबुद्धि से बोलता है तो कोई द्वेषबुद्धि से बोलता है। इन सब प्रसंगों पर तुम्हारा चित्त विकार के वश नहीं होना चाहिए, तुम्हारे मुहँ से गंदे शब्द नहीं निकलने चाहिए, तुम्हारे अंतःकरण में दया और मैत्री रहनी चाहिए, क्रूरता और द्वेष नहीं; और तुम्हें ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि जिस मनुष्यने तुम्हारे विरुद्ध कोई बात कही है, उसे ही आधार बनाकर तुम समस्त संसार पर मैत्री भावना की सतत वर्षा कर सको।

१५. यदि कोई टोकरी और कुदाली लेकर यह कहे कि 'इस तमाम पृथिवी को मैं खोदकर फेंक दूंगा!' दूसरा मनुष्य लाख

का रंग, हल्दी का रंग और मजीठ का रंग लेकर कहे कि 'इस समस्त आकाश को मैं रँग डालूंगा !' और तीसरा मनुष्य घास की पूली सुलगाकर कहे कि 'इस गंगा नदी को मैं भस्म कर डालूंगा !' तो उन मनुष्यों के प्रयत्नों का पृथिवी, आकाश या गंगा नदी पर कोई असर पड़ने का नहीं। इसी प्रकार दूसरे लोगों के बोलने का तुम्हारे हृदय पर जरा भी बुरा असर नहीं पड़ना चाहिए।

१६. अगर चोर और लुटेरे आकर तुम्हारे शरीर के अंग आरे से काटने लग जायँ, और उस अवसर पर तुम्हारे मन में उन लुटेरों के प्रति क्रोध या द्वेष आ जाय, तो तुम मेरे सच्चे अनुयायी नहीं कहे जा सकते।

ऐसे प्रसंग पर भी तुम्हारे मन में द्वेष नहीं आना चाहिए, तुम्हारे मुहँ से बुरे शब्द नहीं निकलने चाहिए, तुम्हारे अंतःकरण में दया और मैत्री की भावना रहनी चाहिए, और अपने शत्रु को आधारस्वरूप मानकर समस्त संसार पर तुम्हें निस्सीम मैत्री भावना की रसवर्षा करनी चाहिए।

१—३. ध. प. (यमक वग्गो). ४—५. म. नि. (उपक्किलेस सुत्तन्त) ६. ध. प. (दण्ड वग्गो) ७. ध. प. (बुद्ध वग्गो). ८—६. ध. प. (कोध वग्गो) १०. बु. ली. सा. सं. (पृष्ठ ३०६) ११—१६. म. नि. (ककचूपम सुत्तन्त)

तृष्णा

१. प्रमाद-रत मनुष्य की तृष्णा लता की भांति बढ़ती ही जाती है। वह एक वस्तु से दूसरी वस्तुतक इस तरह दौड़ता रहता है, जैसे वन में बंदर एक फल के बाद दूसरे फल की इच्छा करता है।

२. यह जहरीली तृष्णा जिसे जकड़ लेती है, उसके शोक वीरन घास की तरह बढ़ते ही जाते हैं।

३. इस दुर्जेय तृष्णा को जगत् में जो काबू में कर लेता है, उसके शोक इस प्रकार झड़ जाते हैं, जिस प्रकार कमल के पत्ते पर से जल के बिंदु।

४. जैसे जड़ के दृढ़ होनें के कारण और उसके नष्ट न होने से वृक्ष कटा हुआ भी फिर से उग आता है, वैसे ही जबतक तृष्णा की जड़ न कटे, तृष्णारूपी अनुशय (मल) नष्ट न हो, तबतक दुःख बारबार पैदा होता ही रहेगा।

५. ये रागयुक्त संकल्प सोतों के रूप में चारों ओर बह रहे हैं, जिनके कारण तृष्णारूपी लता अंकुरित होती और जड़ पकड़ती रहती है। जहां भी कहीं तुम यह लता जड़ पकड़ती हुई देखो, वहीं प्रज्ञा की कुल्हाड़ी से उसकी जड़ काट डालो।

६. जाल में फँसे हुए खरगोश की तरह तृष्णा के पीछे पड़े हुए ये प्राणी इधर-उधर चक्कर काटते रहते हैं। संयोजनों अर्थात्

मन के वंधनों में जकड़े हुए ये मूढ़ लोग वारवार दुःख और क्लेश पाते हैं।

७. ये जो लोहे, लकड़ी या रस्सी के वंधन हैं, इन्हें वुद्धिमान् लोग दृढ़ वंधन नहीं कहते। इनकी अपेक्षा अधिक दृढ़ वंवन तो वह चिंता है, जो मणि, कुंडल, पुत्र और कलत्र के लिए की जाती है।

८. जो मनुष्य राग में रत रहते हैं वे अपनी ही बनाई धारा में इस प्रकार वह जाते हैं, जैसे मकड़ी अपने ही रचित जाल में फँस जाती है। धीर पुरुप इस धारा को काटकर समस्त आकांक्षाओं और दुःखों से रहित हो जाते हैं।

९. जो प्राणी तर्क-वितर्क आदि संशयों से पीड़ित है, और तीव्रराग में फँसा हुआ है तथा सदा सुख-ही-सुख की अभिलापा करता है, उसकी तृष्णा वढ़ती ही जाती है, और वह प्रतिक्षण अपने लिए और भी मजवूत वंधन तैयार करता जाता है।

१०. जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई, राग से जो विमुक्त हो गया, जो शब्द और उसका अर्थ जानता है और जिसे अक्षरों के क्रम का ज्ञान है, उसे 'महाप्राज्ञ' कहते हैं। निश्चय ही वह अंतिम शरीरवाला है, अर्थात् वह निर्वाण प्राप्त कर लेगा।

११. संसार-समुद्र के पार जाने का प्रयत्न न करनेवाले मूर्ख मनुष्य को ये ऐहिक भोग नष्ट कर देते हैं। भोग की तृष्णा में फँसकर वह दुर्वुद्धि मनुष्य अपने आपका ही हनन करता है।

*

१२. तृष्णा का साथी बनकर वारबार जन्म लेनेवाला मनुष्य मनुष्यत्व अथवा मनुष्येतर भाव को प्राप्त करके संसार-समुद्र को पार नहीं कर सकता।

१३. 'तृष्णा से दुःख की उत्पत्ति होती है'—तृष्णा में यह दोष देखकर भिक्षु को चाहिए कि वह वीततृष्ण, आदानविरहित (अपरिग्रही) और स्मृतिमान् होकर प्रवृज्या लेले।

१४. भवतृष्णा का उच्छेद कर देनेवाले शांतचित्त भिक्षु की जन्मपरंपरा नष्ट हो जाती है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

*

१५. मनुष्य जितना ही कामादि का सेवन करता है, उतनी ही उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है। काम के सेवन में क्षणमात्र के लिए ही रसास्वाद मालूम देता है।

१—११. ध. प. (तण्हा वग्गो) १२—१४. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) १५. म. नि. (मागंदिय सुत्तन्त)

अंतःशुद्धि

१. हे ब्राह्मण ! इन लकड़ियों को जलाकर तू क्यों शुद्धि मानता है ? यह शुद्धि नहीं है। यह तो एक बाह्य वस्तु है। पंडित लोग इसे शुद्धि नहीं कहते।

मैं यह 'दारु-दाह' छोड़कर अपने अंदर ही जोति जलाता हूं। नित्य अग्निवाला, नित्य एकान्तचित्तवाला होकर मैं ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता हूं। यही सच्ची शुद्धि है।

२. हे ब्राह्मण ! तेरा यह अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुआं है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है और हृदय जोति का स्थान है। आत्मा का दमन करने पर ही पुरुष को यह 'अन्त-र्ज्योति' प्राप्त होती है। यही सच्ची आत्म-शुद्धि है।

३. हे ब्राह्मण ! शीलरूपी घाटवाले निर्मल धर्मसरोवर में, जिसकी संतजन प्रशंसा करते हैं, नहाकर कुशल जन शुद्ध होते हैं। वे शरीर को बिना भिगोये ही पार उतर जाते हैं।

४. श्रेष्ठ शुद्धि की प्राप्ति सत्य, धर्म, संयम और ब्रह्मचर्य पर निर्भर करती है।

*

५. अरे मूर्ख ! यह जटा-जूट के रखा लेने से तेरा क्या बनेगा और मृगचर्म पहनने से क्या ? अंतर तो तेरा रागादि मलों से परिपूर्ण है, बाहर तू क्या धोता है ?

*

६. बाहुका, अधिक्कक, गया और सुंदरिका में, सरस्वती और प्रयाग तथा बाहुमती नदी में कलुषित कर्मोंवाला मूढ़ चाहे नित्य ही नहावे, पर शुद्ध नहीं होगा। क्या करेगी सुंदरिका, क्या करेगा प्रयाग और क्या करेगी यह बाहुलिका ? ये सब तीर्थ उस कृतकिल्विष (पापी) दुष्ट मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकते।

७. शुद्ध मनुष्य के लिए सदा ही फल्गू नदी है, सदा ही उपोसथ (व्रत का दिन) है। शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत तो सदा ही पूरे होते रहते हैं।

८. तू तो समस्त प्राणियों की कल्याण-कामना कर, यही तेरा तीर्थस्थान है। यदि तू असत्य नहीं बोलता, यदि तू प्राणियों की हिंसा नहीं करता, यदि तू बिना दिया हुआ नहीं लेता, और यदि तू श्रद्धावान् तथा मत्सर-रहित है, तो फिर गया जाकर क्या करेगा ? तेरे लिए तो यह क्षुद्र जलाशय ही गया है।

❊

९. पानी से शुद्धि नहीं होती। जो सत्यनिष्ठ और धर्मवान् है वही शुचि है,, वही शुद्ध है।

❊

१०. अंतःशुद्धि न दृष्टि से, न श्रुति से और न ज्ञान से ही प्राप्त होती है। शीलव्रत पुरुष भी आध्यात्मिक शुद्धि नहीं दिला सकता; पर इतने से यह न समझना कि ये निरर्थक हैं और इनका त्याग करने से शुद्धि प्राप्त होती है। जबतक सम, विशेष और हीन का भाव बना रहेगा, तबतक शुद्धि दुर्लभ है।

❊

११. जो तृष्णा के बंधन से नहीं छूटा उस मनुष्य की शुद्धि

न नग्न रहने से, न जटा रखाने से, न पंक लपेटने से, न भस्म रमाने से और न विभिन्न आसनों के लगाने से ही होती है।

*

१२. तू अपने किये पापों से अपने को ही मलिन बना रहा है। पाप छोड़दे तो स्वयं ही शुद्ध हो जायगा। शुद्धि और अशुद्धि अपनी ही है। अन्य मनुष्य अन्य मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

*

१३. जिन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है वे सभी अनित्य हैं, जो इस बात को प्रज्ञा की आंखों से देखता है, वह सभी दुःखों से उदासीन हो जाता है। चित्त-शुद्धि का यही सच्चा मार्ग है।

१४. जितनी भी संस्कृत या उत्पन्न वस्तुएँ हैं वे सभी दुःख-दायी ह। जो इस बात को जानता है और प्रज्ञा की आंखों से देखता है, वह सभी दुःखों से विरत हो जाता है। चित्त-शुद्धि का यही सच्चा मार्ग है।

१५. जितने भी धर्म या पदार्थ हैं वे सभी अनित्य हैं। जो इस बात को जानता है और प्रज्ञा की आंखों से देखता है, वह समस्त दुःखों से विरत हो जाता है। चित्त-शुद्धि का यही सच्चा मार्ग है।

१-४. बु. च. (अत्तदीपसुत्त) ५. ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) ६-८. म. नि. (वत्थ सुत्तन्त) ६. बु. च. (जटिल सुत्त) ११. ध. प. (दण्ड वग्गो) १२. ध. प. (अत्त वग्गो) १३-१५. ध. प. (मग्ग वग्गो)

चित्त

१. जिस समय मनुष्य का चित्त कामविकार से व्यग्र होता है और कामविकार के उपशमन का रास्ता उसे दिखाई नहीं देता, उस समय उस कामान्ध को यह नहीं सूझता, कि क्या तो स्वार्थ है और क्या परार्थ।

२. जिस समय उसका चित्त क्रोधाभिभूत अथवा आलस्य के कारण जड़वत्, भ्रांत अथवा संशयग्रस्त हो जाता है, उस समय वह यथार्थरीति से यह नहीं समझता कि अपना अथवा दूसरे का हित किसमें है।

३. बर्तन के पानी में काला रंग डाल देने के बाद जैसे उसमें हमें अपना प्रतिबिम्ब ठीकठीक नहीं दिखाई देता, उसी तरह जिसका चित्त कामविकार से व्यग्र हो जाता है, उसे अपने हित-अहित का ज्ञान नहीं रहता।

४. स्वच्छ पानी का बर्तन जब गरम हो जाता है, तब उस पानी से भाप निकलने लगती है और वह खौलने लगता है। उस समय मनुष्य उस खोलते हुए पानी में अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकता।

इसी तरह मनुष्य जब क्रोधाभिभूत होता है, तब उसकी समझ में यह नहीं आता कि उसका आत्महित किस में है।

५. उस बर्तन के पानी में अगर सिवार हो, तो मनुष्य उसमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकता।

इसी प्रकार जिसका चित्त आलस्य से पूर्ण होता है, वह अपना ही हित नहीं समझ सकता, दूसरों का हित कैसे समझ सकेगा ?

६. उस बर्तन का पानी अगर हवा से हिलने-डुलने लगे, तो उसमें मनुष्य अपना प्रतिविम्व कैसे देख सकता है ?

इसी प्रकार भ्रांतचित्त मनुष्य यह समझ ही नहीं सकता कि किसमें तो अपना हित है और किसमें पराया।

७. वह पानी अगर हाथ से हिला दिया गया हो, तो मनुष्य उसमें अपना प्रतिविम्व ठीकठीक नहीं देख सकता।

इसी तरह जिसका चित्र संशयग्रस्त होगया है, वह अपना और पराया हित-अहित समझ ही नहीं सकता।

८. वही पानी यदि निर्मल और शांत हो तो मनुष्य उसमें अपना प्रतिविम्ब स्पष्ट देख सकता है।

इसी प्रकार जिसका चित्त कामच्छंद, व्यापाद (क्रोध), आलस्य, भ्रांतता और संशयग्रस्तता इन पांच आवरणों से मुक्त होगया है, वही अपना और पराया हित यथार्थरीति से समझ सकता है।

*

९. जिस प्रकार पानी से निकलकर मछली थल में आ पड़ने-पर तड़फड़ाती है, उसी तरह यह चित्त राग, द्वेप और मोह के फंदे से निकलने के लिए कांपता है।

१०. कठिनाई से वश में आनेंयोग्य, चंचल और जहां-तहां दौड़नेंवाले चित्त का दमन करना अच्छा है। दमन किया हुआ चित्त ही शांति-दायक होता है।

११. कठिनाई से समझ में आनेयोग्य, अत्यंत चालाक और जहां-तहां दौड़नेवाले चित्त की वुद्धिमान् पुरुष को रक्षा करनी चाहिए; सुरक्षित चित्त से सदैव सुख मिलता है।

१२. दूर-दूरतक दौड़ लगानेवाले, एकाकी चलनेवाले शरीर-रहित और हृदय की गुफा में छिपे हुए इस चित्त को जो संयम में रखता है वही प्रवल मार (विषयों) के वंधन से मुक्त हो सकता है।

१३. जिसका चित्त स्थिर नहीं, जो सच्चे धर्म को नहीं जानता और जिसके हृदय में शांति नहीं, उसे पूर्ण ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है?

१४. जिसका चित्त मल-रहित और अकंप्य है, जो सदा ही पाप और पुण्य से विहीन है, उस सतत सजग रहनेवाले पुरुष के लिए कहीं भी भय नहीं।

१५. इस शरीर को घड़े के समान टूटजानेवाला समझकर इस चित्त को गढ़ के समान सुदृढ़ करके प्रज्ञा के अस्त्र से विषयों के साथ युद्ध करे; और जव विषयों को जीत ले तो उनके ऊपर कड़ी नजर रखे, असावधानी न करे।

१६. जितना हित माता-पिता या दूसरे भाई-वंधु कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक हित मनुष्य का संयत चित्त करता है।

१७. अगर मकान का छप्पर खराव है, तो उसकी दीवारें वगैरा अरक्षित ही समझनी चाहिए, धीरे-धीरे वह मकान भूमिसात् ही होने को है।

इसी तरह जो अपने चित्त को नहीं सँभालता, उस मनुष्य के कर्म विकारग्रस्त हो जाते हैं, और इसका अत्यंत अनिष्ट परिणाम

होता है। अपने चित्त को यदि वह सँभाल लेता है तो उसके सारे कर्म सुरक्षित रहते हैं, और वह शांति से प्राण-त्याग करता है।

१८. जिस जमय चित्त में जड़ता आ गई हो, उस समय प्रश्रब्धि (शांति), समाधि और उपेक्षा इन तीन वोध्यंगों की भावना करनी ठीक नहीं। किसी मनुष्य को आग सुलगानी हो, और वह चूल्हे में गीली लकड़ियां और गीला घासपात रखकर उसे फूंकनें लगे तो क्या आग सुलग जायगी ?

इसी प्रकार जिसका चित्त जड़ हो गया है, वह यदि प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीन वोध्यंगों की भावना करेगा, तो उसके चित्त को उत्तेजना मिलने की नहीं।

१९. उस समय तो धर्म-प्रविचय (धर्मान्वेषण), वीर्य (उद्योग या मनोवल) और प्रीति (हर्ष) इन तीन वोध्यंगों की ही भावनाएँ अत्यंत उपयोगी हैं। सूखी लकड़ी और सूखा घास डालनें से आग तुरंत सुलग जाती है ।

इसी तरह चित्त की जाड्यावस्था में धर्मप्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन संवोध्यंगों की भावना करने से चित्त की जड़ता दूर हो जाती है और उसे अवश्य उत्तेजना मिलती है।

२०. पर, जिस समय चित्त भ्रांत हो गया हो, उस समय धर्मप्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन वोध्यंगों की भावना करनी ठीक नहीं। इन वोध्यंगों की भावना से चित्तभ्रांति का उपशमन नहीं होता, बल्कि वह और भी अधिक भ्रांत हो जाता है।

२१. उस समय तो प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीन वोध्यंगों की भावना करनी चाहिए, क्योंकि इन वोध्यंगों से भड़का

हुआ चित्त ठिकाने पर आ जाता है, इन्ही बोध्यंगों की भावना से भ्रांतचित्त को शांति मिलती है ।

*

२२. केवल यह चित्त ही मरणशील मनुष्य का साथी है ।

*

२३. जिस प्रकार उस मकान में वर्षा का पानी सहज ही पैठ जाता है, जो ठीक तरह से छाया हुआ नहीं होता, उसी प्रकार असंयत (अभावित) चित्त में राग सहज ही प्रवेश कर जाता है ।

*

२४. जैसे अच्छी तरह छाये हुए मकान में वर्षा का पानी आसानी से नहीं पहुँच सकता, वैसे ही सुसंयत चित्त के अन्दर राग का प्रवेश नहीं हो सकता ।

---

१. ८—बुद्धलीला-सार-संग्रह (भाग ३, पृष्ठ २७०) ९–१६. ध. प. (चित्तवग्गो) १७. अं. नि. (कूटसुत्त) १८–२१. बु. ली. सं. (पृष्ठ २७१) २२. अं. नि. (दसक निपात) २३–२४. ध. प. (यमक वग्गो)

अनित्यता

१. अरे ! यह तेरा गर्वीला रूप एक दिन जीर्ण-शीर्ण हो जायगा। यह क्षणभंगुर शरीर रोगों का घर है। इस देह को सड़-सड़कर भग्न हो जाना है। आश्चर्य ही क्या—जीवन मरणान्त जो ठहरा।

२. इस जराजीर्ण शरीर के साथ कौन मूर्ख प्रीति जोड़ेगा ? इसकी हड्डियों को तो जरा देखो—शरदकाल की अपथ्य परित्यक्त लौकी की भांति, या कबूतरों की सी सफेद ये हड्डियां !

३. यह शरीर क्या है, हाड़ों का एक गढ़ है। यह गढ़ मांस और रक्त से लिपा हुआ है। इस गढ़ के भीतर बुढ़ापा, मृत्यु, अभिमान और डाहने अड्डा बना रखा है।

४. इस चौथे पन में तू पीले पत्ते की तरह जीर्ण हो गया है। देख, ये यमदूत तेरे सामने खड़े हैं। प्रयाण के लिए तो तू तैयार है, पर पाथेय (राह-खर्च) तेरे पास कुछ भी नहीं ! अतः अब भी तू अपने लिए रक्षा का स्थान बना, उद्योग कर, पंडित बन, अपना यह मल धो डाल, दोपरहित हो जा। इस प्रकार तू आर्यों का दुर्लभ दिव्यपद प्राप्त कर लेगा।

५. आयु तेरी अब समाप्त हो चली है। तेरा कोई निवास-स्थान भी यहां नहीं, न पाथेय ही है। अतः तू अपने लिए रक्षा का स्थान बना, उद्योग कर, पंडित बन, और अपना यह मल

पखारकर दोषरहित हो जा। इस तरह तू अब भी आर्यों का दुर्लभ दिव्यपद प्राप्त कर लेगा।

*

६. इस देह के भीतर कैसी-कैसी घिनौनी चीजें भरी हुई हैं—आंतें, यकृत्-पिंड, मूत्राशय, फेफड़े, तिल्ली, लार, थूंक, पसीना, चरबी, रक्त, पीव, पित्त, विष्ठा और मूत्र !

७. इस नौ दरवाजे की देह से कैसी-कैसी गंदी चीजें निकला करती हैं—आंख, कान, नाक, मुहँ ये सभी मलद्वार हैं। शरीर के एक-एक छेद से पसीना निकलता है।

८. जब इस देह में से प्राण निकल जाते हैं, तो यह फूल जाती है और नीली पड़ जाती है। मरघट में उसे फेंक देते हैं और तब सगे सम्बन्धी भी उस देह की उपेक्षा करते हैं।

९. कुत्ते, सियार, भेड़िये और कीड़े वहां उस देह को खाते हैं और कौए और गीध भी महोत्सव मनाते हैं।

१०. ऐसी क्षणभंगुर और घृणित देह पर जो गर्व और दूसरों की अवहेलना करता है, उसका कारण सिवा उसकी मूढ़ता के और हो ही क्या सकता है ?

*

११. जागो ! बैठ जाओ ! दृढ़ निश्चय के साथ शांति का अभ्यास करो। तुम्हें गाफ़िल देखकर यह मृत्युराज मार कहीं अपने मोहपाश में न फँसा ले !

१२. शल्य तुम्हारे शरीर में चुभा हुआ है, और तुम उससे पीड़ित हो रहे हो। आश्चर्य है कि इस दुःख-पीड़ा में भी तुम्हें नींद आरही है !

१३. अप्रमाद और प्रज्ञा के जरिये अपने शरीर में चुभा हुआ यह तीक्ष्ण शल्य निकाल लो ना ?

*

१४. अरे, यह जीवन कितना अल्प है ! सौ वर्ष पूरे होने के पहले ही यह समाप्त हो जाता है । और जो इससे अधिक जीता है वह भी एकदिन जराजीर्ण होकर मर जाता है ।

१५. मनुष्य जिसे मानता है कि यह मेरा है उसे भी एक दिन मृत्यु-द्वारा नष्ट होना ही है, यह समझकर बुद्धिमान् धर्मोपासक 'ममत्व' के ऊपर निर्भर न करे ।

१६. सपने में देखी हुई वस्तु को जागने के बाद जैसे मनुष्य देख नहीं सकता, वैसे ही वह अपने परलोकवासी प्रियजनों को नहीं देख सकता ।

१७. जो प्राणी परलोकवासी हो जाता है उसका यहां केवल नाम ही शेष रह जाता है ।

१८. ममत्व में लुब्ध मनुष्य न तो शोक का त्याग कर सकते हैं, न दुःख और डाह का ही ।

*

१९. ओह ! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतनाशून्य हो सूखे ठूंठ की तरह पृथिवी पर गिर रहेगा ।

*

२०. राग आदि के पुष्पों को चुननेवाले आसक्तियुक्त मनुष्य को मृत्यु उसी तरह पकड़ ले जाती है, जिस तरह कि सोये हुए गांव को बाढ़ बहा ले जाती है ।

*
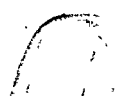
२१. सोये हुए गांव को जैसे भारी बाढ़ बहा ले जाती है, वैसे ही पुत्र कलत्रादि में आसक्त पुरुष को धोखे-ही-धोखे में मौत उठा ले जाती है।

२२. न पुत्र रक्षा कर सकता है, न पिता और न बंधु-बांधव ही। जब मौत आकर धर दबाती है, तब न जातिवाले रक्षक हो सकते हैं, न परिवारवाले।

*

२३. अनित्यता न तो नगर-धर्म है, न ग्राम-धर्म, और न वह कुलधर्म ही है। समस्त मनुष्यों और देवताओं का यही स्वभाव है कि एक-न-एक दिन उन्हें मरना ही होगा।

*

२४. मूर्ख सोचता है कि 'यह पुत्र मेरा है', 'यह धन मेरा है!' अरे, जब यह शरीर ही अपना नहीं है, तब किसका तो पुत्र और किसका धन ?

*

२५. जरा देखो तो इस विचित्र शरीर को। तमाम व्रण ही व्रण हैं। पीड़ित है, तो भी अनेक संकल्पों से युक्त है! अरे, इसकी स्थिति ही अनियत है। क्या ठिकाना, कब छूट जाय।

*

१—५. ध. प. (जरा वग्गो). ६—१०. सु. नि. (विजयसुत्त) ११—१३. सु. नि. (उट्ठान सुत्त) १४—१८. सु. नि. (जरासुत्त) १९. ध. प. (चित्त वग्गो) २०. ध. प. (पुप्फ वग्गो) २१—२२. ध. प. (मग्ग वग्गो) २३. थेरी अपदान (तृतीय भाणवार) २४. ध. प. (बाल वग्गो) २५. ध. प. (जरा वग्गो)

शोक किसके लिए ?

१. ऐसा कोई उपाय नहीं कि जिससे मृत्यु न हो। जिसने जन्म लिया है वह मरेगा अवश्य। प्राणियों का स्वभाव ही मृत्यु है।

२. पके हुए फलों को जिस तरह डाल से नीचे गिर पड़ने का भय है, उसी तरह जन्मे हुए प्राणियों को मृत्यु का हमेशा ही भय लगा रहता है।

३. कुम्हार के गढे हुए मिट्टी के वर्तन का जिस प्रकार फूटने पर पर्यवसान हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों के जीवन का मृत्यु में पर्यवसान होता है।

४. छोटा हो या बड़ा, मूर्ख हो या पंडित, सभी मृत्यु के अधीन हैं। ये सभी प्राणी मृत्युपरायण हैं।

५. मृत्यु और जरा से यह सारा संसार ग्रसित हो रहा है। यह तो लोक का स्वभाव ही है, ऐसा समझकर आत्मज्ञ पंडित शोक नहीं करते।

६. जिसके आने और जानें का मार्ग तुझे मालूम नहीं, और जिसके दोनों ही अंत तेरे देखने में नहीं आते, उसके लिए तू अकारथ ही शोक करता है।

७. कितना ही रोओ, कितना ही शोक करो, इससे चित्त को शांति तो मिलनें की नहीं। उलटा दुःख ही बढेगा, और शरीर पर भी शोक का बुरा प्रभाव पड़ेगा।

८. आप ही अपने को कष्ट देनेवाला मनुष्य क्षीणकाय और निस्तेज हो जाता है। शोक से उन मृत प्राणियों को कोई लाभ तो पहुंचता नहीं। अतएव यह शोक व्यर्थ ही है।

९. कोई सौ वर्ष या इससे भी अधिक जीवित रहे, तो क्या—एक-न-एक दिन तो उसे प्रियजनों के बीच से अलग होना ही है।

१०. अतः जो अपने को सुखी रखना चाहता है, उसे अपनें अंतःकरण से इस शोकरूपी शल्य को खींचकर फेंक देना चाहिए।

*

११. यह चीज मेरी है या दूसरों की, ऐसा जिसे नहीं लगता और जिसे ममत्व की वेदना नहीं होती, वह कभी यह कहकर शोक नहीं किया करता कि मेरी वह चीज नष्ट हो गई है।

*

१२. प्रिय वस्तु से ही शोक उत्पन्न होता है, और प्रिय से ही भय। प्रिय वस्तुओं के बंधन से जो मुक्त है, उसे शोक नहीं; फिर भय कहां से हो?

१३. प्रेम (मोहासक्ति) से ही शोक उत्पन्न होता है, और प्रेम से ही भय; प्रेम से जो मुक्त हो गया है उसे शोक कैसा—और फिर भय कहां से होगा?

१४. इसी प्रकार राग, काम और तृष्णा से शोक तथा भय उत्पन्न होता है। राग, काम और तृष्णा से जो विमुक्त है, उसका शोक से क्या संबंध—और फिर उसे भय कहां से होगा?

*

१५. मनुष्य तो है ही क्या, ब्रह्मा के भी वश की यह बात नहीं कि जो जराधर्मा है उसे जरा (बुढ़ापा) न सताये, जो मर्त्य

है उसकी मृत्यु न हो, जो क्षयवान् है उसका क्षय न हो और जो नाशवान् है उसका नाश न हो ।

१६. किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाने के प्रसंगपर मूढ़ लोग यह विचार नहीं करते कि 'यह वात तो है नहीं कि मेरे ही प्रिय-जन को वुढापा, व्याधि और मृत्यु का शिकार होना पड़ा है, यह तो सारे संसार का धर्म है, प्राणिमात्र जरा और मृत्यु के पाश में बँधे हुए हैं !'

१७. मूढ़ लोग विवेकान्ध होकर शोक-समुद्र में डूब जाते हैं, और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। न उन्हें अन्न रुचता है, न जल। उनके शरीर की कांति क्षीण पड़ जाती है। काम-काज सब बंद हो जाता है। उनकी यह दशा देखकर उनके शत्रु आनंद मनाते हैं, कि चलो अच्छा हुआ, इनका प्रियजन तो मरा ही, यह भी उसके वियोग में मरनेवाले हैं।

१८. पर बुद्धिमान् और विवेकी मनुष्य की वात इससे जुदी है। वह जरा, व्याधि, मरण, क्षय और नाश का शिकार होने पर यथार्थरीति से विचार करता है। यह देखकर कि इस विकार से तो जगत् में कोई भी अछूता नहीं वचा, वह शोक नहीं करता। वह अपने अंतःकरण से शोक के उस विषाक्त वाण को खींच-कर फेंक देता है, जिस वाण से विद्ध मूर्ख मनुष्य अपनी ही हानि करते हैं।

१–१०. सु. नि. (सल्ल सुत्त) ११. सु. नि. (अत्तदंड सुत्त) १२-१४ ध. प. (पिय वग्गो) १५–१८. अं. नि. (कोसल सुत्त)

विषयों का मीठा विष

१. नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा इन पांच इन्द्रियों के रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श से मनुष्य को जो सुख प्राप्त होता है, उसी को मैं विषयों की जहरीली मिठाई कहता हूं।

२. एक नौजवान आदमी व्यापार, खेती-पाती या नौकरी करके अपना निर्वाह करता है। अपने रोजगार-धन्धे में उसे भारी-से-भारी कष्ट झेलना पड़ता है, तो भी विषय-भोग की वस्तु प्राप्त करने के लिए वह दिन-रात प्रयत्न किया करता है। इतना परिश्रम करने पर भी, यदि उसकी मनचाही चीज उसे नहीं मिलती तो वह शोकाकुल होकर विचार-विमूढ़ वन जाता है।

३. यदि उसे अपने उद्योग में यश मिल गया और अपनी वांछित वस्तु प्राप्त हो गई, तो वह दिन-रात इसी चिन्ता में पड़ा रहता है, कि कोई दुष्ट राजा या चोर उसे लूट न ले जायँ, आग या वाढ़ से वह नष्ट न हो जाय और उससे दुश्मनी माननेवाले वन्धु-वान्धव कहीं उसे नुकसान न पहुँचा वैठें।

इन विचारों से उसका मन सदा ही शंकित और त्रस्त रहता है। और अगर उसकी आशंका सत्य निकली, तो उस मनुष्य के दुःख का पार नहीं रहता।

४. इन विषयों के लिए ही एक राजा दूसरे राजा के साथ, क्षत्रिय क्षत्रिय के साथ, ब्राह्मण ब्राह्मण के साथ, वैश्य वैश्य के साथ,

माता पुत्र के साथ, पुत्र माता के साथ, बाप लड़के के साथ, बहिन भाई के साथ, भाई बहिन के साथ और मित्र मित्र के साथ लड़ता है। इन विषयों के पीछे क्या-क्या काण्ड नहीं होते—गाली-गलौज होता है, हाथापाई होती है, हथयार चल जाते हैं और लोग मारे भी जाते हैं, और नहीं तो मरणांतक दुःख तो भोगना ही पड़ता है।

५. इन विषयों की प्राप्ति के लिए ही लोग लड़ने पर आमादा हो जाते हैं, और भीषण युद्धक्षेत्र में उतर पड़ते हैं। खूब घमासान युद्ध होता है, और रणक्षेत्र में कितने ही मनुष्य अस्त्र-शस्त्रों से मारे जाते हैं, कितने ही आहत होते हैं। विषयों की इस जहरीली मिठाई के पीछे उन्हें मरणान्तक दुःख भोगना पड़ता है।

६. इस विषय-भोग के लिए कितने ही मनुष्य चोरी करते हैं, डाका डालते हैं, राहगीरों पर टूट पड़ते हैं या दूसरों की स्त्रियों के साथ व्यभिचार करते हैं। विषय-भोग के शिकार उन चोरों, डाकुओं और व्यभिचारियों को पकड़कर राजा अनेक प्रकार का दण्ड देता है। उनके हाथ-पैर तोड़ डालते हैं, उनके नाक-कान काट लेते हैं या उनका सिर ही उड़ा देते हैं।

७. इस विषाक्त विषय-भोग के लिए ही मनुष्य मन, वचन और काया से इस लोक में घोर-से-घोर दुराचरण करता है, और मृत्यु के बाद दुर्गति को प्राप्त होता है।

८. विषयों की आसक्ति छोड़ देने से ही मनुष्य विषय-विमुक्त हो सकता है।

९. जो ज्ञानवान् मनुष्य विषय-माधुर्य, विषय-दोष और विषय-मुक्ति को यथार्थरीति से जानता है, वह स्वयं विषयों का

त्याग कर देता है, और दूसरों को भी विषयों के त्याग का उपदेश करता है।

१०. सौन्दर्य की मिठाई क्या है? किसी अत्यन्त सुरूपवती तरुणी को देखकर मन में जो मादक सुख उत्पन्न होता है, वही सौन्दर्य की मिठाई है।

११. पर इस सौन्दर्य की मिठाई में तो विकार है। वही सुन्दरी तरुणी जब वृद्धा हो जाती है, जब उसकी कमर झुक जाती है, बिना हाथ में लकड़ी लिये जब वह चल नहीं सकती, उसके सब अंग शिथिल पड़ जाते हैं, दांत गिर जाते हैं, बाल सन-से सफ़ेद हो जाते हैं, गर्दन हिलने लगती है, चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं, तब उसका वह पहले का सरस सौन्दर्य और ललित लावण्य विनष्ट हो जाता है। यह है सौन्दर्य का दोष।

१२. उस सुन्दरी तरुणी के शव को तुम श्मशान में पड़ा हुआ देखो, तो क्या तब भी तुम उस सौन्दर्य को विकारमुक्त मानोगे? कौओं और कुत्तों का खाया हुआ वह शव! कहां गया वह सरस सौन्दर्य, कहां गया वह ललित लावण्य, और कहां गया वह तरल तारुण्य?

१३. सौन्दर्य के विषय में आसक्ति न रखना ही सौन्दर्य-जन्य भय से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। सौन्दर्य की मिठास क्या है, उसमें दोष क्या है, और उस दोष से हम किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं, इस सब को जो बुद्धिमान् पुरुष यथार्थरीति से समझता है, वह स्वयं तो रूपरस के विषय से मुक्त हो ही जायगा, दूसरों को भी सौन्दर्य-मुक्ति के मार्ग पर चलने की शिक्षा देगा।

१—१३ म. नि. (महादुक्खक्खन्ध सुत्तंत)

वैराग्य

१. जैसे थोड़े पानी में मछलियां तड़पड़ाया करती हैं, वैसे ही एक दूसरे के साथ अंदर-ही-अंदर विरोध करके दौड़धूप करते हुए लोगों को देखकर मेरे अंतःकरण में भय का प्रवेश हुआ।

२. मुझे कुछ ऐसा लगने लगा कि यह जगत् असार है और समस्त दिशाएँ मानो कांप रही हैं। इस जगत् में मैंने अपने लिए आश्रय-स्थान खोजा, पर वह कहीं भी न मिला!

३. अरे, अंततक ये लोग लड़ते ही रहेंगे—यह देखकर मुझे दुनिया से अत्यंत अरुचि होगई। तब अपने ही हृदय में चुभा हुआ दुर्दर्श शल्य मुझे दिखाई दिया।

४. यदि शल्य से मनुष्य विधा हुआ है तो वह भागदौड़ मचायगा ही; पर यदि वह अंतर में विधा हुआ बाण खींचकर निकाल लिया जाय, तो अपनी सारी दौड़धूप बंद करके वह एक जगह स्थिर हो जायगा।

*

५. ओह! कैसी भयंकर आग लगी है! सब जल रहे हैं। नेत्रेन्द्रिय जल रही है। रूप जल रहा है। नेत्रेन्द्रिय से उत्पन्न विज्ञान भी जल रहा है। नेत्र का विषय जल रहा है।

६. ये सब किस आग से जल रहे हैं? राग की आग से, द्वेष की आग से और मोह की आग से ये सब जल रहे हैं। जन्म,

जरा, मृत्यु, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य आदि परिणामों से ये सब जल रहे हैं।

७. इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय और उसका विषय शब्द, घ्राणेन्द्रिय और उसका विषय गंध, जिव्हा और उसका विषय रस, त्वचा और उसका विषय स्पर्श, मन और उसका विषय धर्म—ये सभी जल रहे हैं। रागाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि इन्हें जला रही हैं।

८. जन्म, जरा, मृत्यु, शोक, और दुःख को जानकर श्रुतवान् आर्यश्रावक (गृहस्थ) को चाहिए कि वह चक्षु और रूप, श्रोत और शब्द, घ्राण और गंध, जिव्हा और रस, त्वचा और स्पर्श तथा मन और धर्म में आसक्त न हो, निर्वेद के द्वारा विराग-निधि प्राप्त करले।

९. विराग होने पर ही मनुष्य को ज्ञान उत्पन्न होता है, और तभी उसका जन्मक्षय होता है। ब्रह्मचर्यव्रत भी तभी समाप्त होता है। मनुष्य फिर यहां आकर जन्म नहीं लेता।

*

१०. मैं जराधर्मी हूँ, व्याधिधर्मी हूँ, मरणधर्मी हूँ, इन तमाम प्रिय वस्तुओं और प्रियजनों से निश्चय ही एक दिन वियोग होगा। मैं जो बुरा या अच्छा कर्म करूँगा, उसका मुझे ही भागीदार होना पड़ेगा। अतः कर्म ही मेरा धन है, और कर्म ही मेरा मित्र।

११. 'मैं जराधर्मी हूँ' ऐसा विचार करने से मनुष्य का यौवन-मद नष्ट होजाता है। इस तारुण्यमद के कारण मनुष्य काया, वचन और मन से पाप करता है; पर जो यह स्मरण रखता है कि मैं खुद जराधर्मी हूँ, उसका यह मद नष्ट होजाता है—नष्ट नहीं, तो कुछ कम तो हो ही जाता है।

१२. 'मैं व्याधिधर्मी हूँ' इस बात का चिंतन करनें से यह लाभ होता है कि जिस आरोग्यमद के कारण मनुष्य त्रिविध पापों का आचरण करता है वह नष्ट होजाता है—नष्ट नहीं, तो कुछ कम तो हो ही जाता है।

१३. 'मैं मरणधर्मी हूँ' इस बात का चिंतन करते रहने से मनुष्य का जीवितमद नष्ट होजाता है है। यही इस चिंतन का लाभ है।

१४. 'तमाम प्रिय वस्तुओं और प्रियजनों से एकदिन वियोग होने को है' इस बात का स्मरण रखने से मनुष्य प्रिय वस्तु अथवा प्रियजन के अर्थ पापाचरण करने में प्रवृत्त नहीं होता, और न उसे वियोग-दुःख का ही भाजन बनना पड़ता है।

१५. जिस वस्तु का जन्म हुआ है उसका नाश न हो, क्या यह शक्य है?

१–४. सु. नि. (अत्तदंड सुत्त) ५–९. बुद्धदेव (जगन्मोहन वर्मा) १०–१४. बु. ली. सं. (पृष्ठ २६३) १५. दी. नि. (महापरिनिब्बाण सुत्त)

वाद-विवाद

१. निंदा और स्तुति दोनों ही विवाद के विषफल हैं। ये क्षुद्र वस्तुएँ चित्त के उपशमन की कारणभूत नहीं बनतीं। अतः विवाद कल्याणप्रद नहीं है, ऐसा जाननेवाला कभी विवाद में नहीं पड़ता।

२. ये जो भिन्न-भिन्न मत-मतांतर हैं, उन सबको विद्वान् लोग स्वीकार नहीं करते। दृष्ट और श्रुत के विषय में जिसे राग उत्पन्न नहीं होता ऐसा निश्चल व्यक्ति विवाद में पड़कर क्यों चंचल होनें लगा ?

३. जिसे कुछ लोग परम धर्म मानते हैं उसे ही कुछ लोग हीन धर्म मानते हैं। ये सभी जब अपने को कुशल समझते हैं, तो फिर उनमें कौन वाद सच्चा है ?

४. वे कहते हैं कि हमारा ही धर्म परिपूर्ण है, और दूसरों का धर्म हीन है। इस प्रकार लड़ाई-झगड़ा खड़ा करके वे वाद-विवाद करते हैं, और कहते हैं कि हमारी ही दृष्टि सच्ची है !

५. मनुष्य यदि दूसरों की की हुई निंदा से ही हीन ठहरने लगे, तो फिर किसी भी पंथ का मनुष्य श्रेष्ठ नहीं ठहर सकता; क्योंकि अपने-अपने पंथ को दृढ़ (नित्य) समझनेवाले लोग दूसरों के पंथ को हीन ही कहते हैं।

६. और जिस तरह वे अपने-अपने पंथ की स्तुति करते हैं उसे देखते हुए तो यही निश्चय होता है कि वे सभी सद्धर्म की

पूजा करते है, और सभी पंथ सच्चे ठहरते हैं; क्योंकि उस प्रत्येक पंथ में शुद्धि का निर्देश तो है ही।

७. पर ब्राह्मण को दूसरों से कुछ सीखना नहीं है, और उस का यह आग्रह भी नहीं कि सब पंथों में यही पंथ श्रेष्ठ है। वह तो वाद-विवाद से परे चला जाता है, क्योंकि वह यह नहीं मानता कि कोई भी धर्मपंथ सर्वश्रेष्ठ है।

८. कुछ लोग यह समझते हैं कि जो हम जानते हैं, जो हम देखते हैं, केवल वही ठीक है और शुद्धि इसी दृष्टि से होगी। वे कहते हैं कि दूसरों के मार्ग से शुद्धि का मार्ग जुदा ही है। पर ऐसा कहने में उन्हें क्या मिलता है ?

९. देखनेवाला केवल नामरूप ही देखेगा, और उसे देखकर उतना ही उसे ज्ञान होगा। वह न्यून अथवा अधिक भले ही देखे, पर विज्ञ जन यह नहीं कहते कि शुद्धि इतने से ही होती है।

१०. अपने कल्पित किये हुए मत को महत्व देनेवाले और हठपूर्वक वाद-विवाद करनेवाले मनुष्य को उपदेश से समझाना या शांत करना कठिन है। जिस मत का वह आश्रय लेता है उसीमें कल्याण है और उसीमें शुद्धि है ऐसा वह कहता है और ऐसा ही मानता है।

११. किंतु ब्राह्मण की बात तो निराली ही है। वह कभी विकल्प में नहीं पड़ता। वह दृष्टि का आग्रह नहीं रखता। ज्ञान को भी वह महत्व नहीं देता। वह भिन्न-भिन्न मतों को जानता है, और उनके अनुयायी लोगों की उपेक्षा करता है।

१२. इस जगत् में ग्रन्थि का त्याग करके विवादापन्न लोगों के बीच मुनि स्वयं पक्षपाती नहीं होता। वह इस अशान्त लोक

में शांत और उपेक्षक बना रहता है। और जब दूसरे लोग अपने-अपने मत का आग्रह करते हैं, तब वह अनाग्रही रहता है।

१३. तृष्णा, काम, भव, दृष्टि और अविद्या इन पूर्व के आस्रवों (प्रवाहों) को तोड़कर वह नये आस्रवों का संचय नहीं करता। सांप्रदायिक मत-मतांतरों से वह मुक्त हो जाता है, और इस जगत्-पाश में बद्ध नहीं होता।

*

१४. जो सम, अधिक या न्यून समझता है, वही विवाद करता है। तीनों भेदों में जो अचल है, उसकी दृष्टि में सम क्या, अधिक क्या और न्यून क्या? जिसमें सम-विषम नहीं है, वह विवाद करे तो क्या और किसके साथ?

*

१५. सभी लोग इस बात का प्रतिपादन करते है, कि पंथ तो हमारा ही शुद्ध है, दूसरों के पंथों में शुद्धि कहां? जिस पंथ का हमने आश्रय लिया है, उसी पंथ में श्रेय है ऐसा कहनेवाले अपने को भिन्न-भिन्न पंथों में बांध लेते हैं।

१६. वे लोग वाद-विवाद करने के इरादे से सभा में जाकर एक दूसरे को मूर्ख ठहराते हैं। अपने को शास्त्रार्थ में कुशल समझनेवाले ये लोग वाहवाही लूटने की इच्छा से ही वाद-विवाद करते हैं।

१७. सभा में जब वे शास्त्रार्थ करते हैं, तब प्रशंसा लूटने की इच्छा से दूसरों पर वाणी का प्रहार करने लगते हैं। यदि वाद में वे हार जाते हैं तो मारे शर्म के मुहँ छिपा लेते हैं, और जब उनकी निंदा होती है तो क्रोध में आकर दूसरों के दोष ढूंढ़नें लगते हैं!

१८. वाद-विवाद में पड़कर मनुष्य या तो दूसरों पर आघात कर बैठता है या खुद अपने को ही चोट पहुँचाता है। विवाद में यह विष देखकर उससे निवृत्त हो जाना ही अच्छा है; कारण कि उसमें सिवा एक प्रशंसा के और कोई भी लाभ नहीं।

१९. सभा में कभी-कभी दूसरों के वाद को भंग करके वे प्रशंसा प्राप्त करते हैं, और इससे उन्हें खूब हर्ष होता है। विजय के गर्व में आसमान की तरफ सिर उठाकर चलते हैं! सभा में विजय क्या होती है, मानो उनका जीवन कृतकृत्य हो जाता है!

२०. पर उनका यह विजय-गर्व ही अंत में उनके अधःपात का कारण होता है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को वाद-विवाद में पड़ना ही नहीं चाहिए। वाद-विवाद से कुछ अंतःशुद्धि तो होती नहीं; तब फिर अहंकार बढ़ाने से लाभ?

२१. वाद-विवाद के युद्ध में प्रवृत्त करनेवाला मेरा अहंकार पहले ही नष्ट हो चुका है। अब विवाद करूँ तो कैसे?

२२. जिन्होंने प्रतिपक्ष-बुद्धि को नष्ट कर दिया है, और जो अपने पंथ की खातिर दूसरे पंथों के साथ विरोधभाव नहीं रखते, और जिन्हें यह प्रतीत नहीं होता कि हमारा ही पंथ सर्वश्रेष्ठ है, उनके पास जाकर, अरे वादी, तुझे क्या मिलने का है?

*

२३. ये मनुष्य तो अपने-अपने मत से चिपटकर और दूसरों के साथ वाद-विवाद करके अपने को कुशल कहलाना चाहते हैं! कहते क्या हैं कि जिन्हें हमारे मत का ज्ञान है वेही धर्म के त्राता हैं, और जो हमारे इस मत को बुरा बतलाते हैं, वे कभी मुक्त होने के नहीं!

२४. इस प्रकार झगड़ा-टंटा खड़ा करके ये लोग वाद-विवाद करते हैं, और दूसरों को बेवकूफ बनाते हैं। ये सब अपने को ही कुशल कहनेवाले हैं। इनके मत से फिर कौन-सा वाद सच्चा कहा जाय ?

२५. दूसरों के धर्म को न जाननेवाला मनुष्य यदि मूर्ख, पशु और हीनबुद्धि ठहराया जाय, तो फिर इन सांप्रदायिक मतों से चिपटे रहनेवाले सभी मूर्ख और सभी हीनबुद्धि ठहरेंगे !

२६. ये जो एक दूसरे को मूर्ख कहते हैं यह ठीक नहीं। क्योंकि ये अपने-अपने मत को ही सत्य मानते हैं, और दूसरों को मूर्ख ठहराते हैं।

२७. कुछ लोग जिसे युक्तियुक्त सत्य मानते हैं, उसे ही दूसरे तुच्छ और असत्य बताते हैं, और इस तरह व्यर्थ का टंटा खड़ा करके वाद-विवाद करते हैं। ये सब एक ही सत्य का प्रतिपादन क्यों नहीं करते ?

२८. हमारे ही मत में अत्यंत सार है, इस प्रकार के विचार को आश्रय देकर ये वाद-विवादी लोग अपने को कृतकृत्य मान रहे हैं! अहंकार में मत्त हो ये पूर्ण अभिमानी बन बैठे हैं। अपने मान से ही अपने को अभिषिक्त कर रहे हैं। यह सब सांप्रदायिकता को कलेजे से लगाने का परिणाम नहीं तो क्या है ?

२९. 'शुद्धि तो इसी पंथ में है,' ऐसा वे प्रतिपादन करते हैं, और कहते हैं कि दूसरे पंथों में शुद्धि नहीं। इस प्रकार अपने ही पंथ को दृढ़ बतलानेवाले ये संप्रदायपंथी भिन्न-भिन्न पंथों में निविष्ट हो रहे हैं !

३०. जो मनुष्य मेरे पंथ से भिन्न मत का प्रतिपादन करते हैं, वे शुद्धि के विरुद्ध जा रहे हैं और वे मुक्त नहीं हो सकते !

यही कारण है कि ये लोग अपने-अपने संप्रदाय के लोम-पाश म बंधे हुए हैं।

३१. जिस मनुष्यने तमाम रूढ़ मतों को छोड़ दिया है, वह फिर किसी के साथ वाद-विवाद नहीं करता ।

※

३२. अस्थिर मनुष्य ही वाद-विवाद में पड़ता है। निश्चल मनुष्य को क्या पड़ा है कि वह किसी के साथ वाद-विवाद करे? जिसमें न आत्मबुद्धि है न अनात्मबुद्धि, उसके पास सांप्रदायिकता का काम ही क्या? उसने तो अपनी सारी सांप्रदायिकता धोडाली है। फिर वह क्यों और किसके साथ वाद-विवाद करे?

१—१३. सु. नि. (महावियूह सुत्त) १४. सु. च. (मागंदिय सुत्तंत) १५—२२. अट्ठक वग्ग (पसूर सुत्त) २३—३१. सु. नि. (चूल वियूह सुत्त) ३२. सु. नि. (दुट्ठट्ठक सुत्त)

गृहस्थ के कर्त्तव्य

१. जिस आर्यश्रावक (गृहस्थ) को छै दिशाओं की पूजा करनी हो, वह चार कर्मक्लेशों से मुक्त हो जाए। जिन चार कारणों के वश होकर मूढ़ मनुष्य पापकर्म करने में प्रवृत्त होता है, उनमें से उसे किसी भी कारण के वश नहीं होना चाहिए। और संपत्ति-नाश के उसे छहो दरवाजे बंद कर देने चाहिए।

२. छै दिशाओं से यहां क्या तात्पर्य है ? माता-पिता को पूर्व दिशा, गुरु को दक्षिण दिशा, पत्नी को पश्चिम दिशा, बंधु-बांधव को उत्तर दिशा, दास और मजदूर को नीचे की दिशा तथा साधु-संत को ऊपर की दिशा समझना चाहिए।

३. चार कर्म-क्लेश क्या हैं ? हिंसा, चोरी, व्यभिचार और असत्यभाषण ये चार कर्म-क्लेश हैं। गृहस्थ को इनसे हमेशा दूर रहना चाहिए।

४. किन चार कारणों के वश होकर मूढ़ जन पापकर्म करते हैं ? स्वेच्छाचार, द्वेष, भय और मोह के कारण अज्ञ जन पाप करते हैं। आर्यश्रावक को इनमें से किसी भी कारण के वश होकर पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

५. संपत्ति-नाश के छै दरवाजे कौन-से हैं ? मद्यपान, रात में आवारागर्दी, नाच-तमाशे का व्यसन, जुआ, दुष्ट मनुष्यों की संगति और आलस्य।

६. मद्यपान के व्यसन से संपत्ति का नाश होता है, इसमें तो संदेह ही नहीं। फिर मद्यपान से कलह बढ़ता है, और वह रोगों का घर तो है ही। इससे अपकीर्ति भी पैदा होती है। यह व्यसन लज्जा को नष्ट और वुद्धि को क्षीण कर देता है। मद्यपान के ये छै दुष्परिणाम हैं।

७. जिसे रात में इधर-उधर घूमने-फिरने का चसका लग जाता है, उसका शरीर स्वयं अरक्षित रहता है। उसकी स्त्री और वाल-वच्चे भी सुरक्षित नहीं रह सकते। वह अपनी संपत्ति नहीं सँभाल सकता। उसे हमेशा यह डर लगा रहता है कि कहीं कोई मुझे पहचान न ले। उसे झूठ वोलनें की आदत पड़ जाती है। और वह अनेक कष्टों में फँस जाता है।

८. नाच-तमाशे देखनें में भी कई दोप हैं। नाच-तमाशा देखने-वाला हमेशा इसी परेशानी में पड़ा रहता है कि आज कहां नाच है, कहां तमाशा है, कहां गाना-वजाना है। अपने काम-धंधे का उसे स्मरणतक नहीं रहता।

९. जुआरी आदमी जुए में अगर जीत गया, तो दूसरे जुआरी उससे ईर्ष्या करने लगते हैं; और अगर हार गया तो उसे भारी दुःख होता है। और उसके धन का नाश तो होता ही है। उसके मित्र और उसके सगे संवंधी भी उसकी वात पर विश्वास नहीं करते। उनकी ओर से उसे वारवार अपमान सहन करना पड़ता है। उसके साथ कोई नया रिश्ता नहीं जोड़ना चाहता, क्योंकि लोगों को यह लगता है कि यह जुआरी आदमी अपने कुटुंव का पालन-पोषण करने में असमर्थ है।

१०. अव दुष्टों की संगति का दुष्परिणाम सुनो। धूर्त, दारू-खोर, लुच्चे, चोर आदि सभी तरह के नीच मनुष्यों का साथ होने से दिन-प्रतिदिन उसकी स्थिति गिरती ही जाती है, और अन्त में वह हीन-से-हीन दशा को पहुँच जाता है।

११. आलस्य के भी फल महान् भयंकर हैं। एक दिन आलसी आदमी इस कारण काम नहीं करता कि आज बड़ी कड़ाके की सरदी पड़ रही है; और दूसरे दिन वेहद गरमी के कारण वह काम से जी चुराता है! किसी दिन कहता है कि अव तो शाम होगई है, कौन काम करने जाय, और किसी दिन यह कहता है कि अभी तो वहुत सवेरा है, काम का वक्त अभी कहां हुआ? इस तरह आज का काम कल के ऊपर छोड़कर वह कोई नई संपत्ति तो उपार्जन कर नहीं सकता, और अपने पूर्वजों का पूर्वार्जित धन नष्ट करता जाता है।

१२. उपर्युक्त चारों कर्मक्लेशों, चारों पाप-कारणों और छओं विपत्ति-द्वारों का त्याग करने के वाद गृहस्थ को छै दिशाओं की पूजा आरंभ करनी चाहिए। उपर्युक्त प्रत्येक दिशा के पांच-पांच अंग हैं।

१३. माता-पितारूपी पूर्व दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं:—

(१) उनका काम करना;
(२) उनका भरण-पोषण करना;
(३) कुल में चले आये हुए सत्कर्मों को जारी रखना;
(४) माता-पिता की संपत्ति का भागीदार वनना;
(५) दिवंगत माता-पिता के नामपर दान-धर्म करना।

यदि इन पांच अंगों से माता-पिता की पूजा की जाय, तो वे अपने पुत्र पर पांच प्रकार का अनुग्रह करते हैं:—

(१) पाप से उसका निवारण करते हैं;

(२) कल्याणकारक मार्ग पर उसे लेजाते हैं;

(३) उसे कला-कौशल सिखाते हैं;

(४) योग्य स्त्री के साथ उसका विवाह कर देते हैं;

(५) उपयुक्त समय आनेपर अपनी संपत्ति उसे सौंप देते हैं;

१४. गुरुरूपी दक्षिण दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं:—

(१) गुरु को देखते ही खड़ा होजाना;

(२) गुरु बीमार पड़ें तो उनकी सेवा करना;

(३) गुरु जो सिखावें उसे श्रद्धापूर्वक समझ लेना;

(४) गुरु का कोई काम हो तो कर देना;

(५) वह जो विद्या दें उसे उत्तम रीति से ग्रहण करना।

शिष्य यदि इन पांच अंगों से गुरु की पूजा करता है, तो गुरु उसपर पांच प्रकार का अनुग्रह करता है:—

(१) सदाचार की शिक्षा देता है;

(२) उत्तम रीति से विद्या पढ़ाता है;

(३) जितनी भी विद्याएं उसे आती हैं, उन सब का ज्ञान शिष्य को करा देता है;

(४) अपने संबंधियों और मित्रों में उसके गुणों का बखान करता है;

(५) जब कहीं बाहर जाता है, तब ऐसी व्यवस्था कर देता है कि जिससे शिष्य को खाने-पीने की कोई अड़चन न पड़े।

१५. पत्नी-रूपी पश्चिम दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं:—

(१) उसे मान देना;

(२) उसका अपमान न होने देना;

(३) एक पत्नीव्रत का आचरण करना;

(४) घर का कारबार उसे सौंपना;

(५) उसे वस्त्र और आभूषणों की कमी न पड़ने देना।

पति यदि इन पांच अंगों से पत्नी की पूजा करता है तो वह अपने पति पर पांच प्रकार का अनुग्रह करती है:—

(१) घर में सुंदर व्यवस्था रखती है;

(२) नौकर-चाकरों को प्रेम के साथ रखती है;

(३) पतिव्रता रहती है;

(४) पति उसे जो संपत्ति देता है उसकी रक्षा करती है, उसे उड़ाती नहीं;

(५) घर के सब काम-काजों में सदा तत्पर रहती है।

१६. बंधु-बांधवरूपी उत्तर दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं:—

(१) जो वस्तु देनेयोग्य हो वह उन्हें देना;

(२) उनसे मधुर वचन बोलना;

(३) उनके उपयोगी बनना;

(४) उनके साथ निष्कपट व्यवहार रखना;

(५) समान भाव से बर्ताव करना।

जो आर्यश्रावक इन पांच अंगों से अपनें बंधु-बांधवों की पूजा करता है, उस पर वे पांच प्रकार का अनुग्रह करते हैं:—

(१) उस पर यकायक संकट आ पड़ने पर वे उसकी रक्षा करते हैं;

(२) संकट-काल में वे उसकी संपत्ति की भी रक्षा करते हैं;

(३) विपत्ति में उसे धीरज बंधाते हैं;

(४) विपत्काल में उसका त्याग नहीं करते;

(५) उसके बाद उसकी संतान पर भी उपकार करते हैं।

१७. सेवकों को सूचित करनेवाली जो नीचे की दिशा है, उसकी पूजा के पांच अंग ये हैं :—

(१) उनकी शक्ति देखकर उनसे काम करने को कहना;

(२) उन्हें यथोचित वेतन देना;

(३) बीमार पड़ें तो उनकी सेवा-शुश्रूषा करना;

(४) यथावसर उन्हें उत्तम भोजन देना;

(५) समय-समय पर उनकी उत्तम सेवा के बदले उन्हें इनाम इत्यादि देना।

इन पांच अंगों से मालिक अगर नौकरों की पूजा करता है, तो वे अपने मालिक पर पांच प्रकार का अनुग्रह करते हैं :—

(१) मालिक के उठनें के पहले वे उठते हैं;

(२) मालिक के सोने के बाद वे सोते हैं;

(३) मालिक के माल-असबाब की चोरी नहीं करते;

(५) उत्तम रीति से काम करते हैं;

(५) अपने मालिक का यश गाते हैं।

१८. साधु-संतों की जो ऊपर की दिशा है, उसकी पूजा के ये पांच अंग हैं :—

(१) शरीर से आदर करना;

(२) वचन से आदर करना;

(३) मन से आदर करना;

(४) भिक्षा के लिए आवें तो उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँचाना;

(५) उन्हें उनके उपयोग की वस्तु देना।

इन पांच अंगों से जो आर्य श्रावक साधु-संतों की पूजा करता है, उसपर वे साधु-संत छै प्रकार का अनुग्रह करते हैं:—

(१) पाप से उसका निवारण करते हैं;

(२) कल्याणकारक लार्ग पर उसे ले जाते हैं;

(३) प्रेमपूर्वक उस पर दया करते हैं;

(४) उसे उत्तम धर्म की शिक्षा देते हैं;

(५) शंका-निवारण करके उसके मन का समाधान करते हैं;

(६) उसे सुगति का मार्ग दिखा देते हैं।

१९. दान, प्रिय वचन, अर्थचर्या और समानात्मकता अर्थात् दूसरों को अपने समान समझना, ये **लोक-संग्रह** के चार साधन हैं। बुद्धिमान् मनुष्य इन चारों साधनों का उपयोग करके जगत् में उच्चपद प्राप्त करता है।

१—१९. बु. च. (सिगालोवाद सुत्त)

चार सहवास

१. सहवास चार प्रकार का होता है :—

(१) शव, शव के साथ वास करता है;

(२) शव देवी के साथ संवास करता है;

(३) देव शव के साथ संवास करता है;

(४) देव, देवी के साथ संवास करता है।

२. जिस घर में पति हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, शरा दुःशील, पापी, कृपण और कटुभापी होता है; और उसकी पत्नी भी वैसी ही दुष्टा होती है, वहां शव, शव के साथ वास करता है।

३. जिस घर में पति हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, शराबी, दुःशील, पापी, कृपण और कटुभाषी होता है; और उसकी पत्नी अहिंसक, अचौर, सदाचारिणी, सच्ची, नशा न करनेवाली, सुशीला, पुण्यवती, उदार और मधुरभाषिणी होती है, वहां शव देवी के साथ संवास करता है।

४. जिस घर में पति अहिंसक, अचौर, सदाचारी, सच्च मद्य-विरत, सुशील, पुण्यात्मा, उदार और मधुरभाषी होता है और उसकी पत्नी हिंसक, चोर, दुराचारिणी, झूठी, नशा कर वाली, दुःशीला, पापिनी, कंजूस और कटुभापिणी होती है, व देव शव के साथ सहवास करता है।

५. जिस घर में पति और उसकी पत्नी दोनों ही अहिंसक, अचौर, सदाचार-रत, नशाविरत, सुशील, पुण्यवंत, उदार और मधुरभाषी होते हैं, वहां देव देवी के साथ सहवास करता है।

१—५. अं. नि. (४ : २ . १ : ३)

मित्र और अमित्र

१. जो मद्यपानादि के समय या आंखों के सामने प्रिय बन-जाता है, वह सच्चा मित्र नहीं। जो काम निकलजाने के बाद भी मित्र बना रहता है वही मित्र है।

२. इन चारों को मित्र के रूप में अमित्र समझना चाहिए :–

(१) दूसरों का धन हरण करनेवाला;

(२) कोरी बातें बनानेवाला;

(३) सदा मीठी-मीठी चाटुकारी करनेवाला;

(४) हानिकारक कामों में सहायता देनेवाला।

३. जो बुरे काम में अनुमति देता है, सामने प्रशंसा करता है, पीठ पीछे निंदा करता है, वह मित्र नहीं, अमित्र है।

४. जो मद्यपान-जैसे प्रमाद के कामों में साथ और आवारा-गर्दी में प्रोत्साहन देता है और कुमार्ग पर ले जाता है वह मित्र नहीं, अमित्र है। ऐसे शत्रुरूपी मित्र को खतरनाक रास्ते की भांति छोड़ देना चाहिए।

५. वास्तविक सुहृद इन चार प्रकार के मित्रों को समझना चाहिए :—

(१) सच्चा उपकारी;

(२) सुख-दुःख में समान साथ देनेवाला;

(३) अर्थप्राप्ति का उपाय बतलानेवाला;

(४) सदा अनुकंपा करनेवाला ।

६. जो प्रमत्त, अर्थात् भूल करनेवाले की और उसकी संपत्ति की रक्षा करता है, भयभीत को शरण देता है, और सदा अपने मित्र का लाभ दृष्टि में रखता है, उसे उपकारी सुहृद समझना चाहिए ।

७. जो अपना गुप्त भेद मित्र को बतला देता है, मित्र की गुप्त बात को गुप्त रखता है, विपता में मित्र का साथ देता है, और उसके लिए अपने प्राण भी होम देने को तैयार रहता है, उसे ही सच्चा सुहृद समझना चाहिए ।

८. जो पाप का निवारण करता है, पुण्य का प्रवेश कराता है, और सुगति का मार्ग बतलाता है वही 'अर्थ-आख्यायी', अर्थात् अर्थप्राप्ति का उपाय बतानेवाला सच्चा सुहृद है ।

९. जो मित्र की बढ़ती देखकर प्रसन्न होता है, मित्र की निंदा करनेवाले को रोकता है, और प्रशंसा करने पर प्रशंसा करता है, वही सच्चा अनुकंपक मित्र है ।

ऐसे मित्रों की सत्कारपूर्वक माता-पिता और पुत्र की भांति सेवा करनी चाहिए ।

*

१०. जगत् में विचरण करते-करते अपने अनुरूप यदि कोई सत्पुरुष न मिले, तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचरे; मूढ़ के साथ मित्रता नहीं निभ सकती ।

*

११. जो छिद्रान्वेषण किया करता है, और मित्रता टूट जाने के भय से सावधानी के साथ वर्तता है, वह मित्र नहीं है ।

पिता के कंधे पर बैठकर जिस प्रकार पुत्र विश्वस्त रीति से सोता है उसी प्रकार जिसके साथ विश्वासपूर्वक वर्ताव किया जा सके, और दूसरे लोग जिसे फोड़ न सकें, वही सच्चा मित्र है।

*

१२. अकेला विचरना अच्छा है, किंतु मूर्ख मित्र का सहवास अच्छा नहीं।

*

१३. यदि कोई होशियार, सुमार्ग पर चलनेवाला और धैर्यवान् साथी मिल जाय, तो तमाम विघ्न-बाधाओं को झेलते हुए भी उसके साथ रहना चाहिए।

१—९. दी. नि. (सिगालोवाद सुत्त) १०. ध. प. (बाल वग्गो) ११. सु. नि. (हिरि सुत्त) १२. बु. च. (पारिलेयक सुत्त) १३. सु. नि. (खग्गविसाण सुत्त)

जाति नैसर्गिक कैसी ?

१. जाति मत पूछ, तू तो बस, एक आचरण पूछ। देख, आग चाहे जैसे काष्ठ से पैदा होती है। इसी प्रकार नीचकुल का मनुष्य भी धृतिमान्, सुविज्ञ और निष्पाप मुनि होता है।

*

२. तो क्या तुम ऐसा मानते हो कि यहां मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा विविध जातियों के सौ मनुष्यों को एकत्रित करे और उनसे कहे कि, "आप सब, जो क्षत्रिय-कुल से, ब्राह्मण-कुल से और राजन्य-कुल से उत्पन्न हैं, यहां आवें—और साखू की या शाल वृक्ष की अथवा चन्दन की या पद्मकाष्ठ की अरणी लेकर आग बनावें, तेज पैदा करें—

और, आप लोग भी आवें, जो चाण्डाल-कुल से, निषाद-कुल से, बसोर-कुल से, रथकार-कुल से और पुक्कस-कुल से उत्पन्न हुए हैं, और कुत्ते के पीने की, सूअर के पीने की कठौती (कठरी), धोबी की कठौती की या रेंड की लकड़ी की अरणी लेकर आग बनावें, तेज पैदा करें"—

तो क्या तुम मानते हो कि क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य-शूद्रकुलों से उत्पन्न पुरुषों-द्वारा साखू-शाल-चन्दन-पद्म की अरणी लेकर जो आग उत्पन्न की गई है, जो तेज पैदा किया गया है, वही अर्चिमान् (लौवाली), वर्णवान् और प्रभास्वर अग्नि होगी ?

और, चाण्डाल-निषाद-वसोर-रथकार-पुक्कस-कुलोत्पन्न पुरुषों-द्वारा श्वपान-कठरी की, शूकर-पान-कठरी की तथा रेंड-काष्ठ की अरणी लेकर जो आग उत्पन्न की गई है, जो तेज पैदा किया गया है, वह अर्चिमान्, वर्णवान् और प्रभास्वर अग्नि न होगी ? क्या उस आग से अग्नि का काम नहीं लिया जा सकेगा ?

*

३. यह तो तुम जानते ही हो कि जीव-जन्तुओं में एक दूसरे से वहुत-सी विभिन्नताएँ और विचित्रताएँ पाई जाती हैं, और उनमें श्रेणियां भी अनेक हैं ।

इसी प्रकार वृक्षों और फलों में भी विविध प्रकार के भेद-प्रभेद देखने में आते हैं, उनकी जातियां भी कई प्रकार की हैं।

देखो न सांप कितनी जातियों के हैं ! जलचरों और नभचरों के भी असंख्य स्थिर भेद हैं, जिनसे उनकी जातियां लोक में भिन्न-भिन्न मानी जाती हैं ।

४. परन्तु मनुष्यों में ? मनुष्यों के शरीर में तो ऐसा कोई भी पृथक् चिह्न (लिंग), भेदक चिह्न कहीं देखने में नहीं आता । उनके केश, सिर, कान, आंख, मुख, नाक, गर्दन, कंधा, पेट, पीठ, हथेली, पैर, नाखून आदि अंगों में कहां हैं वैसी स्थिर विभिन्नताएँ ?

५. जो मनुष्य गाय चराता है उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नहीं ।

६. जो व्यापार करता है वह व्यापारी ही कहलायगा, और शिल्प करनेवाले को हम शिल्पी ही कहेंगे, ब्राह्मण नहीं ।

७. दूसरों की परिचर्या करके जो अपनी जीविका चलाता है, वह परिचर ही कहा जायगा, ब्राह्मण नहीं ।

८. अस्त्र-शस्त्रों से अपना निर्वाह करनेवाला मनुष्य सैनिक ही कहा जायगा, ब्राह्मण नहीं।

९. अपने कर्म से कोई किसान है तो कोई शिल्पकार। कोई व्यापारी है तो कोई अनुचर। कर्म पर ही यह जगत् स्थित है। अपने कर्म से एक मनुष्य ब्राह्मण बन जाता है और दूसरा अब्राह्मण।

१०. प्राणि-हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, चुगलखोर, कटु-भाषी, बकवादी, लोभी, द्वेषी और झूठी धारणावाला चाहे ब्राह्मण हो चाहे क्षत्रिय अथवा वैश्य हो या शूद्र, मरने के बाद वह दुर्गति को प्राप्त होगा, नरकगामी होगा।

*

११. क्या केवल ब्राह्मण ही प्राणि-हिंसा, चोरी, दुराचार, झूठ, चुगलखोरी, कटुवचन, बकवाद, लोभ और द्वेष से विरत होकर सुगति को प्राप्त हो सकता है? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं?

१२. क्या केवल ब्राह्मण ही वैर-रहित और द्वेष-रहित होकर मैत्री की भावना कर सकता है? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं? नहीं, ऐसी भावना ब्राह्मण भी कर सकता है, क्षत्रिय भी कर सकता है, वैश्य भी कर सकता है और शूद्र भी कर सकता है।

१३. क्या ब्राह्मण ही मांगलिक स्नानचूर्ण लेकर नदी में मैल धो सकता है? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं?

१४. दो जुड़वां भाई हैं। एक तो अध्ययनशील और उपनीत, किन्तु दुराचारी और पापी है; और दूसरा अन्-अध्ययनशील, अन्-उपनीत, किन्तु शीलवान् और धर्मात्मा है। इनमें से यज्ञ अथवा

आतिथ्य में प्रथम भोजन आप किसे करायँगे ? उसी को ना, जो अन्-अध्ययनशील और अन्-उपनीत होते हुए भी शीलवान् और धर्मात्मा है ?

१५. माता-पिता के रज-वीर्य से जन्म लेनेवाला जीव न क्षत्रिय होता है, न ब्राह्मण—न वैश्य होता है, न शूद्र ।

※

१६. उच्चकुलवाला भी प्राणि-हिंसक, चोर, मिथ्याचारी, झूठा, चुगलखोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी और द्वेषी होता है। इसलिए मैं उच्चकुलीनता को श्रेय नहीं देता । साथ ही, उच्च-कुलीनता को मैं 'पापीय' भी नहीं कहता, क्योंकि उच्चकुलवाला मनुष्य भी अहिंसक, अचौर, मिथ्याचार-विरत, अद्वेषी आदि होता है ।

१७. नीचकुलोत्पन्न भी, इसी तरह, हिंसक होता है और अहिंसक भी; सच्चा होता है और झूठा भी; लोभी होता है और लोभ-विरत भी; द्वेषी होता है और अद्वेषी भी ।

※

१८. जिस आश्रय को लेकर आग जलती है, वही उसकी संज्ञा होती है। काष्ठ से जलनेवाली आग की संज्ञा काष्ठ-अग्नि, और गोमय (उपले) के आश्रय से जलनेवाली आग की संज्ञा गोमय-अग्नि होती है। किन्तु आग का काम इन सभी अग्नियों से लिया जा सकता है ।

※

१९. यवन और कम्बोज तथा दूसरे भी सीमान्त प्रदेशों में दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास । मनुष्य वहां आर्य से दास

हो सकता है, और दास से आर्य। फिर इसका कोई अर्थ नहीं, कि अमुक वर्ण ही जन्मना श्रेष्ठ वर्ण है।

*

२०. जो मनुष्य जातिवाद और गोत्रवाद के बन्धन में बँधे हुए हैं, वे अनुपम विद्याचरण सम्पदा से दूर ही हैं।

*

---

१. बु. च. (अत्तदीप सुत्त). २. म. नि. (अस्सलायण सुत्तन्त) ३—१०. म. नि. (वासेट्ठ सुत्तन्त) ११—१५. म. नि. (अस्सलायण सुत्तन्त) १६—१८. म. नि. (फासुकारि सुत्तन्त) १९. म. नि. (अस्सलायण सुत्तन्त) २०. बु. च. (अम्बट्ठ सुत्त)

ब्राह्मण किसे कहें ?

१. ब्राह्मण मैं उसे कहता हूँ, जो अपरिग्रही है। जिसने समस्त बंधन काटकर फेंक दिये हैं, जो भय-विमुक्त हो गया है और जो संग एवं आसक्ति से विरत है, मैं उसीको ब्राह्मण कहता हूँ।

२. जो बिना चित्त बिगाड़े गाली, हनन और बंधन को सहन करता है, क्षमा-बल ही जिसके साधन-सैनिकों का सेनानी है, मैं उसीको ब्राह्मण कहता हूँ।

३. जो अक्रोधी है, व्रती है, शीलवान् है, बहुश्रुत है, संयमी है और अंतिम शरीरवाला है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४. कमल के पत्ते पर जल की भांति, और आरे की नोक पर सरसों की तरह जो विषय-भोगों में लिप्त नहीं होता, मैं उसे ही ब्राह्मण कहता हूँ।

५. चर-अचर सभी प्राणियों में प्रहार-विरत हो जो न मारता है न मारने की प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

६. जो इस प्रकार की अकर्कश, आदरयुक्त और सत्यवाणी बोलता है कि जिससे जरा भी पीड़ा नहीं पहुँचती, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

७. बड़ी हो चाहे छोटी, मोटी हो चाहे पतली, शुभ हो या अशुभ जो संसार में किसी भी बिना दी हुई चीज को नहीं लेता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८. जिसने यहां पुण्य और पाप दोनों की ही आसक्ति छोड़ दी है, और जो शोकरहित, निर्मल और परिशुद्ध है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९. मानुष भोगों का लाभ छोड़ दिव्य भोगों के लाभ को भी जिसनें लात मार दी है, किसी भी लाभ-लोभ में जो आसक्त नहीं, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१०. राग और घृणा का जिसनें त्याग कर दिया है, जिसका स्वभाव शीतल है, और जो क्लेशरहित है ऐसे सर्वलोकविजयी वीर पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

११. जिसके पूर्व, पश्चात् और मध्य में कुछ नहीं है, और जो पूर्णतया परिग्रह-रहित है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

*

१२. जो ध्यानी, निर्मल, स्थिर, कृतकृत्य और आस्रव-(चित्तमल) रहित है, जिसने सत्य को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१३. जो न मन से पाप करता है, न वचन से और न काया से; मन, वचन और काया पर जिसका संयम है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१४. न जटा रखाने से कोई ब्राह्मण होता है, न अमुक गोत्र से, और न जन्म से ही। जिसने सत्य और धर्म का साक्षात्कार कर लिया, वही पवित्र है, वही ब्राह्मण है।

१५. जो गंभीर प्रज्ञावाला है, मेधावी है, मार्ग और अमार्ग का ज्ञाता है, और जिसने सत्य पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१६. जिसने तृष्णा का क्षय कर दिया है, जो भली भांति जानकर अकथ पद का कहनेवाला है, और जिसने अगाध अमृत प्राप्त कर लिया है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१७. जो पूर्वजन्म को जानता है, सुगति और अगति को जो देखता है, और जिसका पुनर्जन्म क्षीण हो गया है, तथा जो अभिज्ञा-(दिव्यज्ञान) परायण है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

❊

१८. मूर्खों की धारणा में यह चिरकाल से घुसा हुआ है कि 'ब्राह्मण जन्म से होता है'; ज्ञानी पुरुष यह कदापि नहीं कहेंगे कि ब्राह्मण जन्म से होता है।

१९. अमुक माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं किसी मनुष्य को ब्राह्मण नहीं कहता।

२०. जो पुरोहिताई से अपनी जीविका चलाता है वह ब्राह्मण नहीं, याचक है।

❊

२१. ब्राह्मण पर प्रहार नहीं करना चाहिए, और ब्राह्मण को भी उस प्रहारक पर कोप नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण पर जो प्रहार करता है उसे धिक्कार है। और उसे भी धिक्कार है, जो उसके लिए कोप करता है।

❊

२२. प्राचीन ब्राह्मणों के पास न पशु थे, न सुवर्ण, न धान्य। उनके पास तो एक स्वाध्याय का ही धन-धान्य था। वे तो ब्रह्मनिधि के धनी थे।

२३. वे संयतात्मा और तपस्वी होते थे। विषय-भोगों को छोड़कर वे सदा ज्ञान और ध्यान में ही निरत रहते थे।

२४. विविध वर्ण के वस्त्रों, शैयाओं और अतिथिशालाओं से समृद्ध राष्ट्र उन ब्राह्मणों को अभिवंदन करते थे ।

२५. ब्राह्मण अवध्य थे, अजेय थे और धर्म से अभिरक्षित थे ।

२६. प्राचीन काल के वे ब्राह्मण अड़तालीस वर्षतक अखंड कौमार ब्रह्मचर्य पालत करते थे ।

२७. उस युग के ब्राह्मण विद्या और आचरण की शोध में रहते थे ।

२८. वे लोग ब्रह्मचर्य, शील, अकुटिलता, मृदुता, तपस्या, सुप्रीति, अहिंसा, और क्षमा के प्रशंसक थे ।

✻

२९. ब्राह्मण कौन ? जो निष्पाप है, निर्मल है, निरभिमान है, संयत है, वेदांतपारंगत है, ब्रह्मचारी है, ब्रह्मवादी है और धर्मप्राण है, वही ब्राह्मण है ।

✻

३०. जिसने सारे पाप अपने अंतःकरण से दूर कर दिये, अहंकार की मलिनता जिसकी अंतरात्मा का स्पर्श भी नहीं कर सकती, जिसका ब्रह्मचर्य परिपूर्ण है, जिसे इस लोक के किसी भी विषय की तृष्णा नहीं, जिसने अपनी अंतर्दृष्टि से ज्ञान का अंत देख लिया, वही अपने को यथार्थरीति से ब्राह्मण कह सकता है ।

१—११ म. नि. (वासेट्ठ सुत्तन्त) १२—१७ ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) १८—२०. म. नि. (वासेट्ठ सुत्तन्त) २१. ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) २२—२८. बु. च. (ब्राह्मण धम्मिय सुत्त) २९. वि. पि. (महावग्ग) ३०. वि. पि. (महावग्ग)

चांडाल कौन ?

१. क्रोधी, वैर माननेवाला, पापी, गुणीजनों को दोप देनेवाला, मिथ्या दृष्टि रखनेंवाला और मायावी मनुष्य ही वृपल, अर्थात् चांडाल है।

२. जो प्राणियों का वध करता है, प्राणियों के ऊपर जो दयाभाव नहीं रखता, उसे चांडाल समझना चाहिए।

३. जो गांवों और नगरों को लूटता और वीरान कर देता है, दुनिया में जो लुटेरे के नाम से पहिचाना जाता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

४. जो मनुष्य कर्ज तो लेता है, पर जव लेनदार मांगने आता है तो साफ नट जाता है और कहता है कि मुझे तो तेरा कुछ देन ही नहीं, उसे चांडाल समझना चाहिए।

५. जो अपने लिए, दूसरों के लिए अथवा पैसे के लिए झ वोलता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

६. जो बलात्कार से अथवा प्रेम से अपने इष्टमित्रों की स्त्रि के साथ व्यभिचार करता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

७. जो समर्थ होते हुए भी अपने वृद्ध माता-पिता का प पोषण नहीं करता, उसे चांडाल समझना चाहिए।

८. लाभ का हितकर उपाय पूछने पर जो हानिकारक सुझाता है, अथवा संदिग्ध वचन वोलता है, उसे चांडाल चाहिए।

९. जो दूसरों के घर जाकर उनका आतिथ्य स्वीकार करता है, पर यदि वे लोग कभी उसके घर आ जायँ, तो वह उनका आदर-सत्कार नहीं करता, ऐसा मनुष्य चाण्डाल नहीं तो क्या है?

१०. जो अहंभाव के कारण पतित होकर आत्मस्तुति और परनिंदा करता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

११. जो मनुष्य क्रोधी, कृपण, मत्सरयुक्त, शठ और निर्लज्ज होता है और जिसे लोकनिंदा के भय की तनिक भी पर्वा नहीं, उसे चांडाल समझना चाहिए।

१२. जो अनर्ह (अयोग्य) होकर भी अपने को योग्य समझता है, वह ब्रह्मलोक में चोर है, और ऐसे पुरुष को वृषलाधम (नीचातिनीच चांडाल) कहते हैं।

१३. केवल जन्म से कोई वृषल या चांडाल नहीं होता, और न जन्म से कोई ब्राह्मण ही होता हैं। कर्म से मनुष्य चांडाल होता है, और कर्म से ही ब्राह्मण।

१—१३. सु. नि. (वसलसुत्त)

भिक्षु

१. जिस भिक्षुने शंकाओं का प्रवाह पार कर लिया है, जिसने तृष्णा का शल्य निकालकर फेंक दिया है, निर्वाण में जिसकी लौ लगी हुई है, जो निर्लोभी है और सदेवक जगत् का नेता है, उसे **मार्गजिन** भिक्षु कहते हैं।

२. निर्वाण-पद को जानकर जो धर्मोपदेश तथा धर्म का विवेचन करता है, उस शंका-निवारक मुनि को **मार्गदेशक** भिक्षु कहते हैं।

२. उत्तम रीति से उपदिष्ट धर्ममार्ग में जो संयमी है, स्मृतिमान् है और निर्दोष पदार्थों का सेवन करता है, उसे **मार्गजीवी** भिक्षु कहते हैं।

४. साधुओं का वेश धारण करके संघ में जबर्दस्ती घुस जानेवाला जो धृष्ट भिक्षु गृहस्थों की अपकीर्त्ति फैलाता है और जो मायावी, असंयमी तथा ढोंगी होते हुए भी साधु के रूप में दुनिया को ठगता फिरता है, उसे **मार्गदूषक** भिक्षु कहते हैं।

*

५. संघ में यदि कोई गृहासक्त, पापेच्छ, पाप-संकल्पी और पापाचारी भिक्षु देखने में आवे, तो तुम सब मिलकर उसका बहिष्कार करदो; उस कचरे को फेंकदो, संघ के उस सड़े हुए हिस्से को छील डालो।

*

६. काया और वचन से जो शान्त है, भलीभांति जो समाहित अर्थात् समाधियुक्त है, जिसने जगत् के तमाम लोभों को अस्वीकार कर दिया है, उस भिक्षु को 'उपशान्त' भिक्षु कहते हैं।

*

७. जो भिक्षु अपनी तरुणाई में बुद्ध के शासन (बुद्ध-धर्म) में योग देता है, वह इस लोक को इस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसे मेघों से मुक्त चन्द्रमा।

*

८. अतिशय प्रमोदयुक्त और बुद्ध-शासन में प्रसन्नचित्त भिक्षु उस सुखमय प्रशान्त पद को प्राप्त कर लेता है, जिसमें मनुष्य की समस्त वासनाएँ शान्त हो जाती हैं।

*

९. जो धर्म में रमण करता है, धर्म में रत रहता है, और धर्म का चिन्तन और धर्म का अनुसरण करता है, वह भिक्षु सद्धर्म से पतित नहीं होता।

*

१०. जो भिक्षु मैत्री भावना से विहार करता है और बुद्ध के शासन (धर्म) में श्रद्धावान् रहता है, वह सुखमय शान्तपद को प्राप्त कर लेता है, उसकी समस्त वासाएँ समाप्त हो जाती हैं।

*

११. भिक्षु को अपनी निन्दा सुनकर अस्वस्थ और स्तुति सुनकर गर्वोन्मत्त नहीं होना चाहिए। लोभ, मात्सर्य, क्रोध और निन्दा का उसे सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

१.—४. सु. नि. (चुन्द सुत्त) ५. सु. नि. (धम्मचरिय सुत्त) ६—१०. ध. प. (भिक्खुवग्गो) ११. सु. नि. (तुवट्टक सुत्त)

सम्यक् परिव्राजक

१. जो लौकिक एवं दिव्य कामसुख में आसक्त नहीं, वही धर्मज्ञ भिक्षु संसार का अतिक्रमण करके सम्यक् परिव्राजक हो सकता है।

२. जो भिक्षु निन्दा, क्रोध और कृपणता का त्याग कर देता है, वह अनुरोध-विरोध से मुक्त होकर इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक कहा जाता है।

३. प्रिय और अप्रिय का त्याग करके जो सर्वत्र अनासक्त, अनाश्रित तथा संयोजनों से विमुक्त है वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है।

४. उपाधि को जो निस्सार समझता है और ग्रहण करने में जो लोभ (छन्दराग) का निरसन करता है, इस जगत् में वही सम्यक् परिव्राजक है।

५. भलीभांति धर्म का तत्व समझकर जो मन, वचन और कर्म से दूसरों के साथ अविरोध रीति से वर्ताव करता है, जो निर्वाण-पद की इच्छा रखता है, उसीको मैं इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक कहूँगा।

६. लोभ और आसक्ति को छोड़कर जो छेदन-बन्धन से विरत हो गया है, शंकाओं को पार कर गया है, और जिसके हृदय से तृष्णा का शल्य निकल गया है, वही भिक्षु इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है।

७. अपना कर्तव्य धर्म समझकर जो भिक्षु किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है।

८. जिसके आस्रव (दोष) क्षीण तथा अहंकार नष्ट हो गया है, जो कामसुखों को लात मारकर संसार-समुद्र को पार कर गया है; और जो दान्त, शान्त और स्थिरात्मा है, वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है।

९. जो अतीत और अनागत संस्कारों की कल्पना को पार कर गया है, जिसकी प्रज्ञा अत्यन्त विशुद्ध है और जो समस्त आयतनों से मुक्त हो गया है वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है।

*

१०. 'आर्यसत्यों' को जानकर और धर्म को समझकर तथा आस्रवों का विनाश स्पष्टतापूर्वक देखकर जो समस्त उपाधियों का क्षय कर देता है, वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है।

*

११. ऊपर, नीचे और चारों ओर अथवा मध्य में जो भी दुःखकारक कर्म है, उसे त्यागकर जो विचारपूर्वक वर्तता है, जिसने माया, मान, क्रोध और नामरूप को नष्ट कर दिया है उस पूर्णत्वप्राप्त पुरुष को सम्यक् परिव्राजक कहते हैं।

१—१०. सु. नि. (सम्मा परिव्वाजनिय सुत्त) ११. सु. नि. (सभिय सुत्त)

प्रश्नोत्तरी

१. प्रश्न—(१) जूठन क्या है ?

(२) दुर्गन्ध क्या है ?

(३) मक्खियां क्या हैं ?

उत्तर—(१) लोभ और राग जूठन है।

(२) द्रोह दुर्गन्ध है।

(३) अकुशल वितर्क, अर्थात् बुरे विचार मक्खियां हैं।

※

२. प्रश्न—(१) जगत् का संयोजन क्या है ?

(२) उसकी विचारणा (चिंता) क्या है ?

(३) किस धर्म के नाश से उसे निर्वाण प्राप्त होता है ?

उत्तर—(१) लोभ या तृष्णा जगत् का संयोजन है।

(२) वितर्क उसकी विचारणा है।

(३) तृष्णा के नाश से जगत् को निर्वाण प्राप्त होता है ?

※

३. प्रश्न—किस प्रकार के वर्ताव से मनुष्य के विज्ञान (चित्त की धारा) का निरोध होता है ?

उत्तर—आंतरिक और वाह्य वेदनाओं का अभिनंदन न करते हुए जो वर्तता है, उसका विज्ञान निरुद्ध हो जाता है।

※

४. प्रश्न—(१) यह जगत् किससे ढंका हुआ है?
(२) किसके कारण यह प्रकाशित नहीं होता?
(३) इसका अभिलेपन क्या है?
(४) इसे महाभय क्या है?

उत्तर—(१) यह जगत् अविद्या से ढँका हुआ है।
(२) मात्सर्य और प्रमाद के कारण यह प्रकाशित नहीं होता।
(३) वासना इसका अभिलेपन ह।
(४) जन्मादि दुःख इसका महाभय है।

५. प्रश्न—(१) चारों ओर जो ये प्रवाह बह रहे हैं, इनका निवारक क्या है?
(२) प्रवाहों का नियमन क्या है?
(३) ये प्रवाह किस वस्तु से रोके जा सकते हैं?

उत्तर—(१) जगत् में जो ये प्रवाह बह रहे हैं उनकी निवारक स्मृति है।
(२) स्मृति ही उन प्रवाहों की नियामक है।
(३) प्रज्ञा से वे रोके जा सकते हैं।

६. प्रश्न—'प्रज्ञा' और 'स्मृति' इन नामरूपों का निरोध कहां होता है?

उत्तर—नाम और रूप का पूर्णतः निरोध विज्ञान के निरोध से होता है।

७. प्रश्न—संसार की तरफ मनुष्य किस प्रकार देखे, कि जिससे मृत्युराज उसकी ओर न देख सके ?

उत्तर—सदैव स्मृति रखते हुए इस तरह देख कि जगत् शून्य है। इस भांति आत्मदृष्टि को त्याग देनेवाला मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है। इस प्रकार संसार की तरफ देखनेवाले मनुष्य की ओर मृत्युराज नहीं देखता।

※

८. प्रश्न—जो कामोपभोगों से विमुक्त है, तृष्णा से रहित है, और संशयों को पार कर गया है, उसका मोक्ष किस प्रकार का होता है ?

उत्तर—जो कामोपभोगों से विमुक्त है, तृष्णा से रहित है और संशयों से पार होगया है, उसके लिए मोक्ष-जैसा कोई पदार्थ रहता ही नहीं। (वही उसका मोक्ष है।)

९. प्रश्न—(१) वह वासना-रहित होता है, या उसकी कोई वासना बाकी रहती है ?

(२) वह प्रज्ञावान् होता है, या प्रज्ञा की कल्पना करनेवाला ?

उत्तर—(१) वह वासना-रहित होता है, उसकी कोई वासना शेष नहीं रहती।

(२) वह प्रज्ञावान् होता है, प्रज्ञा की कल्पना करनेवाला नहीं। वह मुनि सर्वथा कामभव में अनासक्त और अकिंचन होता है।

※

१०. प्रश्न—महान् भयानक बाढ़ के बीचोबीच संसार के मध्यभाग में खड़े हुए, जरा-मृत्युपरायण मनुष्य के लिए कौन-सा द्वीप शरणस्थान है ?

उत्तर—आकिंचन्य और अनादान (ग्रहण न करना) ही उसके लिए महान् विशाल द्वीप है, जिसे मैं जरा और मृत्यु का क्षय करने-वाला 'निर्वाण' कहता हूं।

यह जानकर जो स्मृतिमान् लोग इसी जन्म में परिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं, वे मार (विषय) के वश नहीं होते, वे मार का अनुसरण नहीं करते।

*

११. प्रश्न—इस जगत् में लोग अनेकों को मुनि कहते हैं, पर क्या उनका यह कहना ठीक है ? वे ज्ञानसंपन्न पुरुष को मुनि कहते हैं या केवल व्रतादि उपजीविका-संपन्न को ?

उत्तर—दृष्टि से, श्रुति से अथवा ज्ञान से कोई मुनि नहीं होता, ऐसा पंडितजन कहते हैं। मन के समस्त विरोधों का नाश करके जो निर्दुःख और निस्तृष्ण होकर रहता है उसे ही मैं मुनि कहता हूँ।

१२. प्रश्न—(१) इस जगत् में किसे संतुष्ट कहना चाहिए ?
(२) तृष्णाएँ किसे नहीं हैं ?
(३) कौन दोनों अंतों को जानकर मध्य में स्थित हो प्रज्ञा से लिप्त नहीं होता ?
(४) 'महापुरुष' किसे कहते हैं ?
(५) इस जगत् में कौन तृष्णा को पार करता है ?

उत्तर—(१) जो कामोपभोगों का परित्याग करके ब्रह्मचारी, वीततृष्ण और सदैव स्मृतिमान् रहता है, उसे ही संतुष्ट कहना चाहिए।

(२) उसे ही तृष्णाएँ नहीं सतातीं।

(३) वह दोनों अंतों को जानकर मध्य में स्थित हो प्रज्ञा से लिप्त नहीं होता।

(४) उसे ही मैं 'महापुरुष' कहता हूँ।

(५) इस जगत् में वही महापुरुष तृष्णा-तरंगिणी को पार कर सकता है।

१३. प्रश्न—इस जगत् में जो ये अनेक तरह के दुःख दिखाई देते हैं, वे कहां से उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—ये दुःख उपाधियों से उत्पन्न होते हैं। जो अविद्वान् मंदबुद्धि मनुष्य उपाधियां करते हैं वे बारंबार दुःख भोगते हैं। अतएव दुःख का उत्पत्ति-कारण जाननेवाले बुद्धिमान् मनुष्य को उपाधि नहीं करनी चाहिए।

१४. प्रश्न—बुद्धिमान् मनुष्य किस तरह ओघ (भवसागर) जन्म, जरा, शोक, परिदेव और दुःख को पार करते हैं?

उत्तर—ऊपर, नीचे, चारों ओर और मध्य में जो कुछ भी दिखाई देता है, उसमें से तृष्णा, दृष्टि और विज्ञान (चित्तधारा) को हटा देनेवाला पुरुष संसार पर आश्रय नहीं रखता।

इस प्रचार चलनेवाला स्मृतिवान्, अप्रमत्त और विद्वान् भिक्षु ममत्व को छोड़कर इसी लोक में जन्म, जरा, शोक, परिदेव और दुःख का त्याग कर देता है।

जो ब्राह्मण वेदपारग, अकिंचन और कामभव में अनासक्त होगा, वही इस संसार-सागर को विश्वासपूर्वक पार कर सकेगा।

इस जगत् में वही विद्वान् और वेदपारग मनुष्य है, वही भव और अभव में आसक्ति का त्याग कर सकता है, वही निस्तृष्ण, निर्दुःख और वासना-रहित है, और वही जन्म, जरा और मृत्यु को पार कर सकता है।

*

१५. प्रश्न—किस हेतु से प्रेरित हो ऋषि, क्षत्रिय, ब्राह्मण और अन्य मनुष्य इस जगत् में देवताओं को उद्देश करके भिन्न-भिन्न यज्ञ करते हैं ?

उत्तर—ये सब इसलिए भिन्न-भिन्न यज्ञ करते हैं कि उनका पुनर्जन्म हो और बारबार जरा और मृत्यु के ग्रास बनें।

१६. प्रश्न—यज्ञकर्म में अप्रमादी रहकर क्या ये लोग जन्म और जरा को पार कर सकते हैं ?

उत्तर—ये लोग देवताओं की प्रार्थना करते हैं, स्तुति करते हैं, आशा प्रगट करते हैं, हवन करते हैं, और अपने लाभ के लिए कामसुख की याचना करते हैं। यज्ञ में फँसे हुए ये भवलोभासक्त मनुष्य जन्म और जरा को कदापि पार नहीं कर सकते ?

१७. प्रश्न—तो फिर देवलोक और नरलोक में कौन मनुष्य जन्म और जरा को पार कर सकता है ?

उत्तर—दुनिया की छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं को प्रज्ञा से जानकर जिस मनुष्यने अपनी तमाम तृष्णाएँ नष्ट करदी हैं, जो शान्त, वीतधूम, रागादि-विरत और आशा-रहित है, वही जन्म और जरा को पार कर सकता है।

१८. प्रश्न—राग और दोष कहां से उत्पन्न होते हैं ? आरति, रति और हर्ष कहां से पैदा होते हैं ?

मन में वितर्क कहां से होता है, जिससे यह मन उस पतंग के समान मँड़राता रहता है, जिसे बालक इधर-उधर उड़ाया करते हैं ?

उत्तर—यही आत्मा राग और दोष का निदान है। इसीसे अरति, रति और हर्ष उत्पन्न होते हैं। इसीसे मन में वितर्क उत्पन्न होता है। यह उस पतंग के समान है जिसे अबोध बालक इधर-उधर उड़ाया करते हैं। ये राग आदि स्नेह से आत्मा में न्यग्रोध (बरगद) के स्कन्ध के समान उत्पन्न होते हैं और कामों में बारबार 'मालू' नामक लता की भांति लपटते रहते हैं।

जो इनका निदान जानते हैं, वे आनन्द-लाभ करते हैं; और इस संसार-समुद्र को, जो अत्यन्त दुस्तर है, पार करके निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं, और उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

*

१९. प्रश्न—(१) श्रेष्ठ धन कौन-सा है ?
(२) सुचिर सुख देनेवाला कौन है ;
(३) जगत् में अत्यन्त स्वादिष्ट कौन पदार्थ है ?
(४) किस प्रकार का जीवन व्यतीत करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष है ?

उत्तर—(१) श्रद्धा ही श्रेष्ठ धन है।
(२) धर्म ही सुचिर सुख देनेवाला है।
(३) सत्य ही संसार में अत्यन्त स्वादिष्ट पदार्थ है।

(४) प्रज्ञा से जीवन-निर्वाह करनेवाला पुरुष ही संसार में श्रेष्ठ है।

२०. प्रश्न—(१) ओघ को कैसे पार कर सकते हैं ?

(२) मृत्यु-महोदधि के उस पार किसके सहारे जा सकते हैं ?

(३) दुःख का अन्त किससे कर सकते हैं ?

(४) परिशुद्धि किससे होती है ?

उत्तर—(१) श्रद्धा से ओघ को पार कर सकते हैं।

(२) अप्रमाद के सहारे मृत्यु महोदधि के उस पार जा सकते हैं।

(३) वीर्य (उद्योग) से दुःख का अन्त हो सकता है।

(४) और, प्रज्ञा से परिशुद्धि प्राप्त हो सकती है।

२१. प्रश्न—(१) प्रज्ञा किससे प्राप्त होती है ?

(२) धन किससे मिलता है ?

(३) कीर्ति किससे प्राप्त होती है ?

(४) किस प्रकार इस लोक से परलोक पहुँचकर मनुष्य शोक नहीं करता ?

उत्तर—(१) श्रद्धावान् प्रमाद-विरहित कुशल पुरुष निर्वाण की प्राप्ति के लिए आर्हत धर्म की परिसेवा (उपासना) से प्रज्ञा प्राप्त करता है।

(२) प्रत्युपकारी सहनशील पुरुष अप्रमाद के द्वारा विपुल धन प्राप्त करता है।

(३) सत्व से वह कीर्त्ति-लाभ करता है।

(४) जिस गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार धर्म होते हैं, वही इस लोक से परलोक में जाकर शोक नहीं करता।

※

२२. प्रश्न—(१) किन गुणों के प्राप्त करने से मनुष्य **भिक्षु** होता है ?

(२) भिक्षु **सुशान्त** कैसे होता है ?

(३) **दान्त** किसे कहते हैं ?

(४) **बुद्ध** के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—(१) जो स्वयं अपने तैयार किये हुए मार्ग पर परिनिर्वाण प्राप्त करता है, जिसे कोई शंका नहीं रहती, जो शाश्वत दृष्टि और उच्छेद-दृष्टि का त्याग करके कृतकृत्य हो जाता है और पुनर्जन्म का क्षय कर देता है, वही **भिक्षु** है।

(२) जो हर जगह उपेक्षायुक्त और स्मृतिमान् होकर इस अखिल जगत् में किसी की भी हिंसा नहीं करता, जो उत्तीर्ण और विमुक्त हो गया है, और जिसमें न राग रहा है न द्वेष, वही **सुशान्त** है।

(३) इस अखिल जगत् में जिसकी इंद्रियां वाहर से तथा भीतर से वश में होगई हैं, और जो भावितात्मा पुरुष उत्तम लोकों

को जानकर मृत्यु की प्रतीक्षा करता है, वही **दांत** है।

(४) समस्त विकल्प, संसार तथा जन्म-मरण को जानकर और विगतरज, निष्पाप एवं विशुद्ध होकर जो जन्मक्षय का लाभ करता है, उसे **बुद्ध** कहते हैं।

*

२३. प्रश्न—(१) मनुष्य किन गुणों की प्राप्ति से **ब्राह्मण** होता है?

(२) मनुष्य **श्रमण** कैसे होता है?

(३) **स्नातक** के क्या लक्षण हैं?

(४) **नाग** किसे कहते हैं?

उत्तर—(१) जो मनुष्य समस्त पापों को हृदय से निकाल बाहर कर देता है, जो विमल, समाहित और स्थितात्मा होकर संसार-सागर को लांघ जाता है, जो 'केवली' और अनाश्रित होता है, उसे **ब्राह्मण** कहते हैं।

(२) पुण्य और पाप को त्यागकर जो पुरुष शांत हो गया है, इहलोक और परलोक दोनों को जानकर जो विगतरज हो गया है, और जो जन्म तथा मरण के उस पार चला गया है, उसे **श्रमण** कहते हैं।

(३) जो समस्त जगत् में बाहर और भीतर से तमाम पापों को पखारकर विकल्पबद्ध

देवताओं और मनुष्यों के बीच विकल्प को प्राप्त नहीं होता, उसे **स्नातक** कहते हैं।

(४) जो इस जगत् में एक भी पाप नहीं करता, और जो सभी संयोगों और बंधनों को तोड़कर कहीं भी बद्ध नहीं होता, उस पुरुष को इन गुणों के कारण **'नाग'** कहते हैं।

※

२८. प्रश्न—(१) **क्षेत्रजिन** किसे कहते हैं ?

(२) मनुष्य **कुशल** कैसे होता है ?

(३) **पंडित** के क्या लक्षण हैं ?

(४) **मुनि** किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) दिव्य, मानवी और ब्रह्मक्षेत्र—इन तीनों क्षेत्रों को जानकर जो तीनों के मूल बंधन से मुक्त हो गया है, उसे **क्षेत्रजिन** कहते हैं।

(२) दिव्य, मानवी और ब्रह्मकोश—इन तीनों कोशों को जानकर जो तीनों के बंधन से मुक्त हो गया है, उसे **कुशल** कहते हैं।

(३) आध्यात्मिक (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन) और बाह्य आयतनों (रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श, धर्म) को जानकर जो विशुद्धप्रज्ञ मनुष्य पाप और पुण्य के उस पार चला गया है उसे **पंडित** कहते हैं।

(४) अखिल लोक में अध्यात्मविषयक और बाह्यविषयक तथा साधुओं और असाधुओं का धर्म जानकर जो आसक्ति के उस पार चला गया है, उसे **मुनि** कहते हैं। उसकी पूजा मनुष्य क्या देवता भी करते हैं।

*

२५. प्रश्न—(१) किन गुणों की प्राप्ति से मनुष्य **वेदपारग** कहलाता है ?

(२) मनुष्य **अनुविदित** कैसे होता है ?

(३) **वीर्यवान्** के क्या लक्षण हैं ?

(४) मनुष्य **आजन्य** कैसे होता है ?

उत्तर—(१) श्रमण और ब्राह्मणों के जितने वेद हैं उन सब को जानकर और उन्हें पार करके जो समस्त वेदनाओं के विषय में वीतराग हो जाता है, वह **वेदपारग** है।

(२) भीतर और बाहर से रोगों का मूल यह संसार और नामरूप है, अतः सर्व रोगों के मूल बंधन से जो मुक्त हो जाता है उसे **अनुविदित** कहते हैं।

(३) जो इस लोक में समस्त पापों से विरत हो गया और जिसने निरय-दुःख को पार कर लिया है, वह **वीर्यवान्** हैं; इन गुणों के कारण ही उसे **वीर्यवान्**, **प्रधानवान्** (प्रयत्नवान्) और **धीर** कहते हैं।

(४) भीतर और वाहर के समस्त संगकारणों को तोड़कर जो सभी प्रकार की आसक्ति के वंधन से मुक्त हो गया है उसे, इन गुणों के कारण, **आजन्य** कहते हैं।

※

२६. प्रश्न—(१) किन गुणों को प्राप्त करके मनुष्य **श्रोत्रिय** होता है ?

(२) मनुष्य **आर्य** किन गुणों से होता है ?

(३) मनुष्य **आचरणवान्** कैसे होता है ?

(४) परिव्राजक किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) जितने भी निंदित और अनिंदित धर्म हैं उन सब को सुनकर और जानकर जो मनुष्य उनपर विजय प्राप्त करके निःशंक, विमुक्त और सर्वथा निर्दुःख हो जाता है, उसे **श्रोत्रिय** कहते हैं।

(२) जो विद्वान् मनुष्य आस्रवों और आलयों का उच्छेद करके गर्भवास की जड़ काट डालता है, और जो त्रिविध (काम, रूप और अरूप) पंकमय संज्ञा को लांघकर विकल्प को प्राप्त नहीं होता, वह **आर्य** है।

(३) जिसने आचरण में पूर्णत्व प्राप्त कर लिया है, जिसे कुशल धर्मों का पूर्णज्ञान है, और जो कहीं भी वद्ध नहीं होता, जो विमुक्त है और जिसमें प्रत्याघात-

वृद्धि का सर्वथा अभाव है, वह आचरण-
वान् है।

(४) ऊपर, नीचे और चारों ओर अथवा मध्य में जितने भी दुःखकारक कर्म हैं, उन्हें त्यागकर जो विचारपूर्वक वर्तता है, जिसने माया, मान, क्रोध और नामरूप को नष्ट कर दिया है उस पूर्णत्वप्राप्त पुरुष को परिव्राजक कहते हैं।

❊

२७. प्रश्न—कलह और विवाद तथा परिदेव, शोक और मत्सर कहां से उत्पन्न होते हैं? और अहंकार, अतिमान, तथा कलंक का उत्पत्ति-स्थान क्या है?

उत्तर—कलह और विवाद तथा परिदेव, शोक और मत्सर एवं अहंकार, अतिमान तथा कलंक का उत्पत्ति-स्थान प्रियवस्तुएँ हैं।

२८. प्रश्न—(१) इस जगत् में वस्तुएँ प्रिय कैसे होती हैं?
(२) यह लोभ किससे पैदा होता है?
(३) लोगों के लड़ाई-झगड़ों की जड़ यह आशा और निष्ठा किससे उत्पन्न होती है?

उत्तर—(१) इस जगत् में राग (छंद) के कारण वस्तुएँ प्रिय होती हैं।
(२) राग की ही बदौलत यह लोभ पैदा होता है।
(३) यह राग ही तमाम लड़ाई-झगड़ों की जड़ आशा और निष्ठा का जनक है।

२९. प्रश्न—(१) जगत् में राग कहां से पैदा होता है ?
(२) योजनाएँ कहां से उत्पन्न होती हैं ?
(३) क्रोध, लुच्चाई, कुशंका और दूसरे दोष कहां से पैदा होते हैं ?

उत्तर—(१) जगत् में जिन्हें सुख और दुःख कहते हैं उन्हींसे राग पैदा होता है।
(२) रूपों में हानि और लाभ देखकर जगत् में यह मनुष्य योजनाएँ बनाया करता है।
(३) क्रोध, लुच्चाई, कुशंका और दूसरे दोष भी सुख-दुःख के ही कारण उत्पन्न होते हैं।

३०. प्रश्न—(१) सुख और दुःख होने का क्या कारण है?
(२) किन वस्तुओं के नष्ट होजाने से सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होते ?
(३) लाभ और हानि का उत्पत्ति-स्थान क्या है ?

उत्तर—(१) सुख और दुःख का कारण स्पर्श है। स्पर्श से ही ये सुख-दुःख पैदा होते हैं ?
(३) स्पर्श न हो तो ये भी पैदा न हों।
(४) लाभ और हानि का भी उत्पत्ति-स्थान यह स्पर्श ही है।

३१. प्रश्न—(१) जगत् में स्पर्श कहां से पैदा होता है ?
(२) परिग्रह किससे उत्पन्न होता है ?
(३) और, किसके नाश से यह स्पर्श उत्पन्न नहीं होता ?

उत्तर—(१) नाम और रूप के आश्रय से स्पर्श पैदा होता है।

(२) इच्छा के कारण परिग्रह उत्पन्न होता है। इच्छा यदि नष्ट हो जाय, तो फिर ममत्व न रहे।

(३) रूप-विचार नष्ट हो जानें से स्पर्श उत्पन्न नहीं होता।

३२. प्रश्न—(१) रूप-विचार किन गुणों से युक्त होने से नष्ट होता है?

(२) सुख और दुःख का नाशक क्या है?

(३) इनका कैसे नाश होता है?

उत्तर—इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है। जो संज्ञा* का विचार नहीं करता, अथवा असंज्ञा का भी विचार नहीं करता, जो असंज्ञी भी नहीं, और रूप-संज्ञी भी नहीं, उसका रूपविचार नष्ट हो जाता है। कारण यह है कि प्रपंच की कल्पना इस संज्ञा से ही पैदा होती है।

३३. प्रश्न—(१) मुनि के क्या लक्षण हैं?

(२) केवली किसे कहते हैं?

(३) मनुष्य बुद्ध कैसे होता है?

उत्तर—(१) जो पूर्वजन्मों को तथा स्वर्ग और नरक को जानता है, जिसका जन्मक्षय हो गया

---

* इंद्रिय और विषय के एकसाथ मिलने पर, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना के बाद 'यह अमुक विषय है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसे संज्ञा कहते हैं।

है, और जो अभिज्ञा-तत्पर है, वही मुनि है।

(२) रागों से जो सर्वथा मुक्त है, जो चित्त की विशुद्धि को जानता है, जिसका जन्म-मरण नष्ट और ब्रह्मचर्य पूर्ण हो गया है, उसे केवली कहते हैं।

(३) जिसने समस्त धर्मों को पार कर लिया है, उसे बुद्ध कहते हैं।

---

१. अं. नि. (३: २: ६) २—१७. सु. नि. (पारायण वग्ग) १८—१९. बुद्धदेव (ना. प्र. का.) २०—२१. सु. नि. २२—२६. सु. नि. (सभियसुत्त) २७—३२. सु. नि. (कलहविवाद सुत्त) ३३. म. नि. (ब्रह्मायु सुत्तंत)

अंतिम उपदेश

१. भिक्षुओ ! जहांतक तुम लोग बारबार एकत्र होकर संघ का कार्य करते रहोगे, जबतक तुम में ऐक्य रहेगा, ऐक्य से तुम संघ के सब कृत्य करते रहोगे, जहांतक संघ के किसी नियम का भंग नहीं करोगे, जहांतक तुम अपने संघ के वृद्ध भिक्षुओं को मान देते रहोगे, जहांतक तुम अपनी तृष्णा की अधीनता स्वीकार न करोगे, जहांतक तुम एकान्तवास में आनंद मानोगे, और जबतक तुम इस बात की चिंता रखोगे कि तुम्हारे सब साथी सुखी रहें, तबतक तुम्हारी उत्तरोत्तर उन्नति ही होती जायगी, अवनति नहीं।

२. भिक्षुओ ! अभ्युन्नति के ये सात नियम मैं बनाये देता हूँ, इन्हें ध्यानपूर्वक सुनो :—

(१) गृहसंबंधी निजी काम में आनंद न मानना;

(२) व्यर्थ का बकवाद करने में आनंद न मानना;

(३) निद्रा में समय बिताने में आनंद न मानना;

(४) भीड़भाड़ पसंद करनेवाले भिक्षुओं के साथ समय बिताने में आनंद न मानना;

(५) दुर्वासनाओं के वश न होना;

(६) दुष्टों की संगति में न पड़ना;

(७) समाधि में अल्प सफलता पाकर उसे बीच में ही न छोड़ देना।

६. अब तुम लोग अपने को ही अपना अवलंबन बनाओ। इस संसार-समुद्र में अपने मन को ही द्वीप बनाओ, धर्म को अपना द्वीप बनाओ। अपनी ही आत्मा की शरण में जाओ, और धर्म की शरण में जाओ।

जो पुरुष मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा इन चार स्मृत्युपस्थानों की भावना करता है, वह अपने लिए आत्मद्वीप बना लेता है, धर्मद्वीप बना लेता है। यही आत्मशरण है, यही धर्म-शरण है।

*

७. भिक्षुओ! तुम्हारा ब्रह्मचर्य चिरस्थायी रहे, और यदि तुम्हें ऐसा अनुभव होता हो, कि तुम्हारे उस ब्रह्मचर्य के द्वारा बहुत-से लोगों का कल्याण हो, बहुत-से लोगों को सुख मिले, तो मेरे सिखाये हुए 'कुशल धर्म' का सम्यक् रीति से अध्ययन और उसकी शुद्ध भावना करो।

*

८. जो मनुष्य मेरे उपदेश के अनुसार सावधानी के साथ धर्म का आचरण करेगा, वह पुर्नजन्म से छुटकारा पा जायगा, उसका दुःख नष्ट हो जायगा।

*

९. मेरे परिनिर्वाण के पश्चात् मेरे शरीर की पूजा करने की माथापच्ची में न पड़ना। मैंने तुम्हें जो सन्मार्ग बताया है, उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करना।

*

१०. तुम्हारे मन में यह विचार आसकता है कि बुद्ध के देहावसान के बाद हमारा कोई शास्ता (शासनकर्त्ता) नहीं रहा; पर

३. भिक्षुओ ! अभ्युन्नति के और भी सात नियम कहता हूँ, उन्हें सुनो :—

(१) श्रद्धालु बने रहना;

(२) पाप-कर्म से लजाते रहना;

(३) लोकपवाद का भय रखना;

(४) विद्या का संचय करना;

(५) सत्कर्म करने में उत्साह रखना;

(६) स्मृति को जाग्रत बनाये रखना;

(७) प्रज्ञावान् रहना ।

※

४. शीलभ्रष्ट मनुष्य की पांच प्रकार से हानि होती है :—

(१) दुराचरण से उसकी संपत्ति का नाश होता है;

(२) उसकी अपकीर्ति फैलती है;

(३) किसी भी सभा में उसका प्रभाव नहीं पड़ता;

(४) शांति से वह मृत्यु नहीं पाता;

(५) मरने के बाद वह दुर्गति को प्राप्त होता है ।

५. सदाचारी मनुष्य को, उसके सदाचरण के कारण, यह पांच प्रकार का लाभ होता है :—

(१) सदाचरण से उसकी संपत्ति की वृद्धि होती है;

(२) लोक में उसकी कीर्ति बढ़ती है;

(३) हरेक सभा में उसका प्रभाव पड़ता है;

(४) शांति से वह मृत्यु पाता है;

(५) मरने के बाद वह सुगति को प्राप्त होता है ।

※

६. अब तुम लोग अपने को ही अपना अवलंबन बनाओ। इस संसार-समुद्र में अपने मन को ही द्वीप बनाओ, धर्म को अपना द्वीप बनाओ। अपनी ही आत्मा की शरण में जाओ, और धर्म की शरण में जाओ।

जो पुरुष मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा इन चार स्मृत्युपस्थानों की भावना करता है, वह अपने लिए आत्मद्वीप बना लेता है, धर्मद्वीप बना लेता है। यही आत्मशरण है, यही धर्म-शरण है।

*

७. भिक्षुओ ! तुम्हारा ब्रह्मचर्य चिरस्थायी रहे, और यदि तुम्हें ऐसा अनुभव होता हो, कि तुम्हारे उस ब्रह्मचर्य के द्वारा बहुत-से लोगों का कल्याण हो, बहुत-से लोगों को सुख मिले, तो मेरे सिखाये हुए 'कुशल धर्म' का सम्यक् रीति से अध्ययन और उसकी शुद्ध भावना करो।

*

८. जो मनुष्य मेरे उपदेश के अनुसार सावधानी के साथ धर्म का आचरण करेगा, वह पुनर्जन्म से छुटकारा पा जायगा, उसका दुःख नष्ट हो जायगा।

*

९. मेरे परिनिर्वाण के पश्चात् मेरे शरीर की पूजा करने की माथापच्ची में न पड़ना। मैंने तुम्हें जो सन्मार्ग बताया है, उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करना।

*

१०. तुम्हारे मन में यह विचार आसकता है कि बुद्ध के देहावसान के बाद हमारा कोई शास्ता (शासनकर्त्ता) नहीं रहा; पर

मेरे न रहने के बाद मैंने तुम्हें जिस धर्म और विनय की शिक्षा दी है, वही तुम्हारा शास्ता होगा।

※

११. मैं तुमसे कहता हूँ कि संस्कार अर्थात् कृतवस्तु नाशवान् है, अतः सावधानी के साथ जीवन के लक्ष्य का संपादन करो।

१—११. दी. नि. (महापरिनिब्बाण सुत्त)

सूक्ति-कण

सूक्ति-कण

१. दूसरे की त्रुटियों या कृत्य और अकृत्य की खोज में न रहो। तुम तो अपनी ही त्रुटियों और कृत्य-अकृत्यों पर विचार करो।

*

२. उस काम का करना अच्छा नहीं, जिसे करके पीछे पछताना पड़े, और जिसका फल रोते-बिलखते भोगना पड़े।

*

३. उसी काम का करना ठीक है, जिसे करके पीछे पछताना न पड़े, और जिसका फल मनुष्य प्रसन्नचित्त से ग्रहण करे।

*

४. पाप-कर्म दूध की तरह तुरंत नहीं जम जाता; वह तो भस्म से ढंकी हुई आग की तरह थोड़ा-थोड़ा जलकर मूढ़ मनुष्य का पीछा करता है।

*

५. जैसे महान् पर्वत हवा के झकोरों से विकंपित नहीं होता, वैसे ही बुद्धिमान् लोग किसी की निंदा और स्तुति से विचलित नहीं होते।

*

६. वही पुरुष शीलवान्, बुद्धिमान् और धार्मिक है, जो न अपने लिए और न दूसरे के लिए पुत्र, धन आदि की इच्छा करता है और जो अधर्म से अपनी समृद्धि नहीं चाहता।

*

७. सहस्रों अनर्थक वाक्यों से वह एक सार्थक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शांति प्राप्त होती है।

सहस्रों अनर्थक गाथाओं से वह एक सार्थक गाथा श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शांति प्राप्त होती है।

*

८. जो अभिवादनशील और सदा वृद्धों की सेवा करनेवाले हैं, उनके ये चारों धर्म बढ़ते हैं—आयु, वर्ण, सुख और बल।

*

९. एक दिन का सदाचारयुक्त और ज्ञानपूर्वक जीना सौ वर्ष के शीलरहित और असमाहित जीवन से अच्छा है।

*

१०. यह समझकर पाप की अवहेलना न करे कि 'वह मेरे पास नहीं आयेगा।' एक-एक बूंद पानी से घड़ा भर जाता है। इसी तरह मूर्ख मनुष्य अगर थोड़ा-थोड़ा भी पाप संचय करता है, तो वह एक दिन पाप-समुद्र में डूब जाता है।

*

११. जो शुद्ध, पवित्र और निर्दोष पुरुष को दोष लगाता है, उस मूर्ख को उसका पाप लौटकर लगता है, जैसे वायु के रुख फेंकी हुई धूल अपने ही ऊपर आ पड़ती है।

*

१२. मनुष्य स्वयं ही अपना स्वामी है; दूसरा उसका स्वामी या सहायक हो सकता है? अपने को जिसनें भलीभाँति दमन कर लिया, वह सहज ही एक दुर्लभ सहायक प्राप्त कर लेता है।

*

१३. अनुचित और अहितकर कर्मो का करना आसान है। हितकर और शुभ कर्म परम दुष्कर हैं।

*

१४. जो पहले प्रमाद में था, और अब प्रमाद से निकल गया, वह इस लोक को मेघ-माला से उन्मुक्त चन्द्रमा की भांति प्रकाशित करता है।

*

१५. जो अपने किये हुए पापों को पुण्य से ढँक देता है, वह इस लोक को इस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसे बादलों से उन्मुक्त चन्द्रमा।

*

१६. जिसने धर्म छोड़ दिया है, जो झूठ बोलता है, और परलोक का मजाक उड़ाता है, उसके लिए कोई भी पाप अकरणीय नहीं।

*

१७. श्रेष्ठ पुरुष का पाना कठिन है। वह हर जगह जन्म नहीं लेता। धन्य है वह सुख-सम्पन्न कुल, जहां ऐसा धीर पुरुष उत्पन्न होता है।

*

१८. विजय से वैर पैदा होता है; पराजित पुरुष दुखी होता है। जो जय और पराजय को छोड़ देता है, वही सुख की नींद सोता है।

*

१९. राग के समान कोई आग नहीं; द्वेष के समान कोई पाप नहीं। पंचस्कंधों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) के समान कोई दुःख नहीं, और शांति के समान कोई सुख नहीं।

※

२०. भूख सब से बड़ा रोग है; शरीर सब से बड़ा दुःख है—इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। यथार्थ में, निर्वाण ही परमसुख है।

※

२१. आरोग्य परमलाभ है। संतोष परमधन है। विश्वास परमबंधु है। और निर्वाण परमसुख है।

※

२२. सत्पुरुषों का दर्शन अच्छा है। संतों के साथ रहना सदा सुखकारक है। मूर्खों के अदर्शन (अलग रहने) से मनुष्य सचमुच सुखी रहता है।

※

२३. मूर्खों की संगति में रहनेवाला मनुष्य चिरकालतक शोक-निमग्न रहता है। मूर्खों की संगति शत्रुओं की संगति की तरह सदा ही दुःखदायक होती है। और धीर पुरुषों का सहवास अपने बंधु-बांधवों के समागम के समान सुखदायी होता है।

※

२४. सच बोलना, क्रोध न करना और याचक को यथेच्छ दान देना—इन तीन बातों से मनुष्य देवताओं के निकट स्थान पाता है।

※

२५. यह पुरानी बात है, कुछ आज की नहीं कि, जो नहीं बोलता उसकी भी लोग निंदा करते हैं, और जो बहुत बोलता है उसे भी दोष लगाते हैं ! इसी तरह मितभाषी की भी निंदा करते हैं। संसार में ऐसा कोई नहीं, जिसकी लोग निंदा न करें। बिल्कुल ही निंदित या बिल्कुल ही प्रशंसित पुरुष न कभी हुआ, न होगा, और न आजकल है।

*

२६. काया के कोप से बच; काया पर दमन कर; काया के दुश्चरित को छोड़, काया के सुचरित का आचरण कर।

*

२७. वाणी के कोप से बच; वाणी को संयत रख; वाणी के दुश्चरित को छोड़, वाणी के सुचरित का आचरण कर।

*

२८. मन के कोप से बच; मन को वश में कर; मन के दुश्चरित को छोड़, मन के सुचरित का आचरण कर।

*

२९. राग के समान कोई आग नहीं; द्वेष के समान कोई अरिष्ट ग्रह नहीं; मोह के समान कोई जाल नहीं, और तृष्णा के समान कोई नदी नहीं।

*

३०. जैसे, सुनार चांदी के मैल को दूर कर देता है, उसी तरह बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह अपने मलों (पापों) को प्रति-क्षण थोड़ा-थोड़ा दूर करता रहे।

*

३१. यह लोहे का मोरचा ही है जो लोहे को खा जाता है। इसी प्रकार पापी के पाप-कर्म ही उसे दुर्गति को पहुँचाते हैं।

*

३२. उपासना का मोरचा अनभ्यास है। मकान का मोरचा उसकी वेमरम्मती है। शरीर का मोरचा आलस्य है, और संरक्षक का मोरचा प्रमाद है।

*

३३. जो प्राणियों की हिंसा करता है, जो झूठ बोलता है, जो संसार में न दी हुई चीज को उठा लेता है अर्थात् चोरी करता है, जो पराई स्त्री के साथ सहवास करता है, जो शराब पीता है, वह मनुष्य इस लोक में अपनी जड़ आप ही खोदता है।

*

३४. दूसरे का दोष देखना आसान है, किन्तु अपना दोष देखना मुश्किल है। लोग दूसरों के दोषों को भुस के समान फटकते फिरते हैं, किंतु अपनें दोषों को इस तरह छिपाते हैं जैसे चतुर जुआरी हरानेवाले पासे को छिपा लेता है।

*

३५. जो दूसरों के दोषों को ही सदा देखा करता है, और हमेशा हाय-हाय करता रहता है, उसकी वासनाएँ बढ़ती ही जाती हैं, और वह उनका नाश नहीं कर सकता।

*

३६. बहुत बोलने से कोई पंडित नहीं होता। जो क्षमाशील, वैर-रहित और अभय होता है वही पंडित कहा जाता है।

*

३७. वह धर्मधर नहीं जो बहुत बोलता है। वही धर्मधर है, और वही धर्मविषयों में अप्रमादी है, जो पढा चाहे थोड़ा हो पर धर्म का ठीक-ठीक आचरण करता है।

✻

३८. यदि किसी के सिर के बाल पक जायें, तो इससे वह स्थविर या बड़ा नहीं हो जाता। उसकी उम्र भले ही पक गई हो किंतु वह व्यर्थ ही वृद्ध कहा जाता है।

✻

३९. बड़ा असल में वही है, जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, जो मल से रहित और धीर है।

✻

४०. जो पुरुष ईर्ष्यालु, मात्सर्ययुक्त और शठ है, वह बहुत बोलने या सुंदर रंगरूप के कारण साधु नहीं हो सकता।

✻

४१. साधु वही है, जिसके दोष जड़मूल से नष्ट हो गये हैं। जो विगतदोष और मेधावी है, वही साधु है।

✻

४२. अनियमित और मिथ्याभाषी मनुष्य मूंड़ मुंडानेमात्र से ही भिक्षु नहीं हो जाता। क्या ऐसा मनुष्य भिक्षु हो सकता है जो वासना और लोभ से युक्त हो ?

✻

४३. वही असल में भिक्षु है, जिसने छोटे-बड़े सब पाप त्याग दिये हैं। जिसके पाप शमित होगये हैं, वही श्रमण कहा जाता है।

✻

४४. भिक्षा मांगनेमात्र से कोई भिक्षु नहीं होता। भिक्षु वही होता है, जो धर्मानुकूल आचरण करता है।

※

४५. जो पाप और पुण्य से ऊँचा उठकर ब्रह्मचारी बन गया है, जो लोक में धर्म के साथ विचरता है, उसीको भिक्षु कहना चाहिए।

※

४६. अज्ञानी और मूढ़ मनुष्य केवल मौन रहनें से मुनि नहीं हो जाता। वही मनुष्य मुनि है, जो तराजू की तरह ठीकठीक जांच करके सुव्रतों का ग्रहण और पापों का त्याग करता है। जो दोनों लोकों का मनन करता है वही सच्चा मुनि है।

※

४७. जो प्राणियों की हिंसा करता है वह आर्य नहीं। समस्त प्राणियों के साथ जो अहिंसा का वर्ताव करता है वही आर्य है।

※

४८. यदि थोड़ा सुख छोड़ देनें से विपुल सुख मिलता हो तो बुद्धिमान् पुरुष विपुल सुख का खयाल करके उस थोड़े से सुख को छोड़ दे।

※

४९. दूसरे को दुःख देकर जो अपना सुख चाहता है, वह वैर के जाल में फँसकर उससे छूट नहीं सकता।

※

५०. ऐसे ही उन्मत्त और प्रमत्त लोगों के आस्रव (चित्त के मल) बढ़ते हैं, जो कर्तव्य को छोड़ देते हैं और अकर्तव्य को करते हैं।

※

५१. जो नित्य शरीर की अनित्य गति को विचारते हैं, जो अकर्तव्य से दूर रहते और कर्तव्य कृत्य को करते हैं, उन ज्ञानी सत्पुरुषों के आस्रव अस्त हो जाते हैं।

*

५२- श्रद्धावान्, शीलवान्, यशस्वी और धनी पुरुष जिस-जिस देश में जाता है, वहां वह पूजा जाता है।

*

५३. हिमालय के धवल शिखरों के समान संतजन दूर से ही प्रकाशते हैं। और, असंत लोग इस तरह अदृष्ट रहते हैं, जैसे रात में छोड़ा हुआ वाण।

*

५४. काषाय वस्त्र पहननेवाले बहुत-से पापी और असंयमी मिलेंगे। ये सब अपने पाप-कर्म के द्वार से नरकलोक को जायँगे।

*

५५. असंयमी और दुराचारी मनुष्य राष्ट्र का अन्न व्यर्थ खावे इससे तो आग में गरम किया हुआ लोहे का लाल गोला खा जाय वह अच्छा।

*

५६. परस्त्रीगमन करने से अपुण्य-लाभ, बुरी गति, भय और थोड़ी देर का सुख, यही मिलता है। इसलिए मनुष्य को परस्त्रीगमन नहीं करना चाहिए।

*

५७. जैसे असावधानी से पकड़ा हुआ कुश हाथ को काट

देता है, उसी तरह असावधानी के साथ संन्यास ग्रहण करने से नरक की प्राप्ति होती है ।

*

५८. दुष्कृत (पाप) का न करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि दुष्कृत करनेवाले को पीछे पछताना पड़ता है । सुकृत का करना ही श्रेष्ठ है, जिससे मनुष्य को अनुताप न करना पड़े ।

*

५९. मुनि को गांव में इस तरह विचरना चाहिए, जिस तरह भौंरा फूल के रंग और सुगंध को न बिगाड़ता हुआ उसके रस को लेकर चल देता है ।

*

६०. कोई भी सुगंध चाहे वह चंदन की हो चाहे तगर की या चमेली की, वायु से उलटी ओर नहीं जाती । किंतु सत्पुरुषों की सुगंध वायु से उलटी ओर भी जाती है । सत्पुरुषों की सुगंध सभी दिशाओं को सुवासित करती है ।

*

६१. चंदन या तगर, कमल या जूही इन सब की सुगंध से सदाचार की सुगंध श्रेष्ठ है ।

*

६२. तगर और चंदन की जो गंध है वह अल्पमात्र है, और जो यह सदाचारियों की उत्तम गंध है, वह देवताओं तक पहुँचती है ।

*

६३. चाहे कितनी ही धर्म-संहिताओं का पाठ करे, किंतु प्रमादी मनुष्य उन संहिताओं के अनुसार आचरण करनेवाला

नहीं होता, अतः वह श्रमण अर्थात् साधु नहीं हो सकता। वह तो उस ग्वाले के सम्मान है जो दूसरों की गायों को गिनता रहता है।

*

६४. जो पुरुष राग-द्वेषादि कषायों (मलों) को बिना छोड़ ही काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण कर लेता है, और जिसमें न संयम है न सत्य, वह काषाय वस्त्र धारण करनें का अधिकारी नहीं।

*

६५. जिसने कषायों (मलों) का त्याग कर दिया है, जो सदाचारी, संयमी और सत्यवान् है वही काषाय वस्त्र धारण कर सकता है।

*

६६. जिस प्रकार कलछी दाल-तरकारी के स्वाद को नहीं समझ सकती, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य सारी जिंदगी पंडितों की सेवा में रहकर भी धर्म और ज्ञान का रस प्राप्त नहीं करसकता।

*

६७. जिस प्रकार जीभ दाल-तरकारी को चखते ही स्वाद पहचान लेती है, उसी प्रकार विज्ञपुरुष पंडितों की सेवा में मुहूर्त मात्र रहकर भी धर्म और ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

*

६८. जबतक पाप का परिपाक नहीं होता, तभीतक मूर्ख मनुष्य को वह मधु-सा मीठा लगता है। किन्तु जब पाप-कर्म के फल लगने लगते हैं, तब उस मूर्ख को भारी क्लेश होता है।

*

६९. जिनके पास कोई मालमता नहीं, जो संचय करना नहीं जानते, जिनका भोजन नियत है, जिन्हें जगत् शून्यता-स्वरूप दिखाई देता है, और जिन्होंने निर्वाणपद प्राप्त कर लिया है, उनकी गति उसी प्रकार मालूम नहीं हो सकती, जिस प्रकार कि आकाश में पक्षियों की गति।

*

७०. सौ वर्ष के आलसी और हीनवीर्य जीवन की अपेक्षा एक दिन का दृढ़ कर्मण्यता का जीवन कहीं अच्छा है।

*

७१. न आकाश में, न समुद्र में, न पर्वतों की खोह में कोई ऐसा ठौर है, जहां पापी प्राणी अपने किये हुए पापकर्मों से त्राण पा सके।

*

७२. बुढ़ापेतक सदाचार का पालन करना सुखकर है। स्थिर श्रद्धा सुखकर है। प्रज्ञा का लाभ सुखकर है। और पापकर्मों का न करना सुखकर है।

*

७३. जिसने हाथ, पैर और वाणी को संयम में रखा है, वही सर्वोत्तम संयमी है। मैं उसीको भिक्षु कहता हूं, जिसकी अंतरात्मा आनंद-रत है, जो संयत है, एकांतसेवी है और संतुष्ट है।

*

७४. जिस भिक्षु की वाणी अपने वश में है, और जो थोड़ा बोलता है, जो उद्धत नहीं है, और धर्म को प्रकाश में लाता है, उसीका भाषण मधुर होता है।

*

७५. न तो अपनें लाभ का तिरस्कार करे, और न दूसरों के लाभ की स्पृहा।

*

७६. इस नामरूपात्मक जगत् में जिसे बिल्कुल ही ममता नहीं, और जो किसी वस्तु के न मिलने पर उसके लिए शोक नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है।

*

७७. ध्यान में रत रहो, प्रमाद मत करो। तुम्हारा चित्त भोगों के चक्कर में न पड़े। प्रमाद के कारण तुम्हें लोहे का लाल-लाल गोला न निगलना पड़े। और दुःख की आग से जलते समय तुम्हें यह कहकर क्रन्दन न करना पड़े कि 'हाय यह दुःख है'।

*

७८. जैसे जूही की लता कुम्हलाये हुए फूलों का त्याग कर देती है, वैसे ही तुम राग और द्वेष को छोड़ दो।

*

७९. अपने को अपने आप उठा, अपनी आप परीक्षा कर। इस प्रकार तू अपनी आप रक्षा करता हुआ विचारशील हो सुख-पूर्वक इस लोक में विहार करेगा।

*

८०. मनुष्य आप ही अपना स्वामी है, अपनी गति अपनेतक ही है। इसलिए तू अपने को संयम में रख, जैसे वनिया अपने घोड़े को अपने काबू में रखता है।

*

८१. धर्मपूर्वक माता-पिता का भरण-पोषण करे, धर्मपूर्वक व्यवहार और वाणिज्य करे। गृहस्थों को इस प्रकार आलस्य और प्रमाद छोड़कर अपना धर्म-पालन करना चाहिए।

※

८२. दुःख का समूल नाश करने के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत-पालन अत्यंत आवश्यक है।

※

८३. हंस, क्रौंच, मोर, हाथी और मृग ये सभी पशु-पक्षी सिंह से भय खाते हैं। कौन शरीर में बड़ा है और कौन शरीर में छोटा, यह तुलना करना व्यर्थ है।

इसी प्रकार मनुष्यों में भी बौने शरीर का होते हुए भी यदि कोई प्रज्ञावान् है, तो वही वास्तव में बड़ा है। भारी भरकम शरीर के होते हुए भी मूर्ख मनुष्य को हम बड़ा नहीं कह सकते।

※

८४. संसर्ग होने से स्नेह उत्पन्न होता है। स्नेह से दुःख होता है। यह स्नेह ही दोष है, ऐसा समझकर गेंड़ा के सींग की तरह एकाकी ही रहना चाहिए।

※

८५. देख, यह आसक्ति है; इसमें सुख थोड़ा है, आस्वाद कम है, और दुःख अधिक है। सावधान! यह मछली फँसाने का आंकड़ा है।

※

८६. जैसे कोई मनुष्य किसी प्रचंड धार की नदी में उतरकर तैर न सकनें के कारण बह जाता है और दूसरों को पार नहीं

उतार सकता; वैसे ही जिस मनुष्यने धर्मज्ञान का संपादन नहीं किया, और विद्वानों के मुख से अर्थपूर्ण वचन नहीं सुने, जो स्वयं ही अज्ञान और संशय में डूबा हुआ है, वह दूसरों का किस प्रकार समाधान कर सकता है ?

८७. समाधान तो वह ज्ञानी पुरुष ही कर सकता है, जो विद्वान्, संयतात्मा, बहुश्रुत तथा अप्रकंप्य होता है, और जिसनें श्रोतावधान के द्वारा निर्वाणज्ञान का संपादन किया है ।

*

८८. तू तो निष्काम निर्वाण का चिंतन कर और यह अहंकार की वासना छोड़ दे । अहंकार का त्याग करने पर ही तुझे सुचिर शांति मिलेगी ।

*

८९. जो निंदनीय मनुष्य की प्रशंसा अथवा प्रशंसनीय पुरुष की निंदा करता है, वह अपने ही मुख से अपनी हानि करता है, और इस हानि के कारण उसे सुख प्राप्त नहीं होता ।

*

९०. जुए में धन गँवाने से जो हानि होती है वह कम है, किंतु सत्पुरुषों के सम्बन्ध में अपना मन कलुषित करना तो सर्वस्व-हानि से भी बढ़कर आत्महानि है ।

*

९१. मूर्ख मनुष्य दुर्वचन बोलकर खुद ही अपना नाश करते हैं ।

*

९२. जो छिछला या छिछोरा होता है वही ज्यादा आवाज करता है, पर जो गंभीर होता है, वह शांत रहता है । मूर्ख अधभरे

घड़े की तरह शोर मचाते हैं, पर प्रज्ञावान् गंभीर मनुष्य सरोवर की भांति सदा शांत रहते हैं ।

※

९३. जो संयतात्मा पुरुष सब कुछ जानते हुए भी बोलते नहीं हैं, वे ही मुनि मौनव्रत के योग्य हैं ।

※

९४. यह अविद्या ही महान् मोह है, जिसके कारण मनुष्य चिरकाल से संसार में पड़ा है । किंतु जो विद्यालाभी प्राणी होता है, वह बारबार जन्म नहीं लेता ।

※

९५. जो भी दुःख पैदा होता है, वह सब संस्कारों से ही पैदा होता है, संस्कारों के निरोध से दुःख की उत्पत्ति असंभव होजाती है।

※

९६. इस सारे प्रपंच का मूल अहंकार है । इसका जड़मूल से नाश कर देना चाहिए । अहंकार के समूल नाश से ही अंतःकरण में रमनेवाली तृष्णाओं का अंत हो सकता है ।

※

९७. 'अनात्मा में आत्मा है,' ऐसा माननेवाले और नामरूप के बंधन में पड़े हुए इन मूढ़ मनुष्यों की ओर तो देखो ! वे यह समझते हैं कि 'यही सत्य है !'

९८. वे जिस-जिस प्रकार की कल्पना करते हैं उससे वह वस्तु भिन्न ही प्रकार की होती है, और उनकी कल्पना झूठी ठहरती है; क्योंकि जो क्षणभंगुर होता है वह नश्वर तो है ही ।

९९. पर आर्य लोग मानते हैं कि निर्वाण ही अविनश्वर है और वही सत्य है; और वे सत्यज्ञान के बलपर तृष्णारहित होकर निर्वाण-लाभ करते हैं।

*

१००. जिस प्रकार सांप के फन से हम अपना पैर दूर रखते हैं, उसी प्रकार जो कामोपभोग से दूर रहता है वह स्मृतिमान् पुरुष इस विषभरी तृष्णा का त्याग करके निर्वाण-पथ की ओर अग्रसर होता है।

*

१०१. वासना ही जिसका उद्देश हो, और संसारीसुखों के बंधन में जो पड़ा हुआ हो, उसे छुड़ाना कठिन है; क्योंकि जो आगे या पीछे की आशा रखता है, और अतीत या वर्तमान काल के कामोपभोग में लुब्ध रहता है, उसे कौन छुड़ा सकता है?

*

१०२. सोने-चांदी-के लाखों-करोड़ों सिक्कों को मैं श्रेष्ठ धन नहीं कहता। उसमें तो भय-ही-भय है—राजा का, अग्नि का, जल का, चोर का, लुटेरे का और अपने सगे संवंधियोंतक का भय है।

१०३. श्रेष्ठ और अचंचल तो मैं इन सात धनों को मानता हूँ—श्रद्धा, शील, लज्जा, लोक-भय, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा। इस सप्तविध धन को कौन लूट सकता है, और कौन छीन सकता है?

*

१०४. लोभ, द्वेष और मोह ये पाप के मूल हैं; अलोभ, अद्वेष और अमोह ये पुण्य के मूल हैं।

१०५. ये जो चंद्र और सूर्य आकाश-मंडल में प्रकाशित हो रहे हैं, और ब्राह्मण जिन्हें नित्य स्तोत्रों के गान से रिझाते और पूजते हैं, उन चंद्र-सूर्य की ओर जाने का मार्ग क्या ये ब्राह्मण बतला सकेंगे ?

जिन चंद्र-सूर्य को ये ब्राह्मण प्रत्यक्ष देख सकते हैं, उनतक पहुँचने का मार्ग जब वे न जान ही सकते हैं, न बतला ही सकते हैं, तो उस ब्रह्मसायुज्यता के मार्ग का ये क्या उपदेश करेंगे, जिसे न उन्होंने ही कभी देखा है और न उनके आचार्योंने ही ? यदि ब्रह्मसायुज्यता के मार्ग का वे उपदेश करते हैं तो यह एक विचित्र ही बात है !

*

१०६. जो स्मृतिमान् मनुष्य अपने भोजन की मात्रा जानता है उसे अजीर्ण की तकलीफ नहीं होती। वह आयु का पालन करते-करते बहुत बरसों के बाद वृद्ध होता है।

*

१०७. कोई-कोई स्त्री तो पुरुष से भी श्रेष्ठ निकलती है। यदि वह बुद्धिमती, सुशीला और बड़ों का आदर करनेवाली तथा पतिव्रता हो तो उसे कौन दोष दे सकता है ? उसके गर्भ से जो पुत्र जन्म लेता है वह शूरवीर होता है। ऐसी सद्भाग्यवती स्त्रीके गर्भ से जन्म लेनेवाला पुत्र साम्राज्य चलाने की पात्रता रखता है।

*

१०८. कृपण के धन की कैसी बुरी गति होती है ! कृपण मनुष्य से उसके जीवन-काल में किसी को भी सुख नहीं पहुँचता। उसका इकट्ठा किया हुआ सारा धन अन्त में राजा के खजाने में

जाता है, या चोर लूट लेते हैं, अथवा उसके शत्रु उसे तिड़ी-बिड़ी कर देते हैं।

कृपण के धन की वैसी ही गति होती है, जैसी जंगल के उस तालाब की, जिसका पानी किसी के काम नहीं आता, और वह वहीं-का-वहीं सूख जाता है।

*

१०९. जरा और मरण तो भारी-भारी पर्वतों से भी भयंकर हैं ! हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सैनिकों की चतुरंगिणी सेना से कहीं जरा और मृत्यु की पराजय हो सकती है ? जरा और मृत्यु के घर यह भेदभाव नहीं कि यह ब्राह्मण है और यह चाण्डाल।

*

११०. सदाचार-रत मनुष्य इस लोक में प्रशंसा पाता है, और परलोक में सद्गति।

*

१११. अपने हाथ से कोई अपराध हो गया हो तो उसके लिए पश्चात्ताप करना, और भविष्य में फिर कभी वह अपराध न करना, यह आर्य गृहस्थ का कर्तव्य है।

*

११२. धर्म को जानकर जो मनुष्य वृद्धजनों का आदर-सत्कार करते हैं, उनके लिए इस लोक में प्रशंसा है और परलोक में सुगति।

*

११३. भिक्षुओ ! मैं तुम्हारी सेवा न करूँ तो कौन करेगा ? तुम्हारी यहां माता नहीं, पिता नहीं, जो तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा

करते। तुम एक दूसरे की सेवा न करोगे, तो फिर कौन करेगा? जो रोगी की सेवा करता है वह मेरी ही सेवा करता है।

※

११४. लोभ के फंदे में फँसा हुआ मनुष्य हिंसा भी करता है, चोरी भी करता है, परस्त्री-गमन भी करता है, झूठ भी बोलता है, और दूसरों को भी वैसा ही करने के लिए प्रेरित करता है।

※

११५. तुम खुद अपनी आंख से देखो, कि यह धर्म अकुशल है, अतः त्याज्य है, इसे हम ग्रहण करेंगे तो हमारा अहित ही होगा। अकुशल धर्म का त्याग तुम अपनी प्रज्ञा से करो—श्रुत से या मत-परम्परा से नहीं; प्रामाण्य शास्त्रों की अनुकूलता से या तर्क के कारण नहीं; न्याय के हेतु से या अपने चिरचिंतित मत के अनुकूल होनें से नहीं; और वक्ता के आकार अथवा उसके भव्यरूप से प्रभावित होकर भी नहीं।

※

११६. मुक्त पुरुष सर्वदा सुख की नींद सोता है। रागादि से रहित, नितान्त अनासक्त और निर्भय पुरुष आन्तरिक शान्ति में विहार करता हुआ सदैव सुख की नींद सोता है।

※

११७. कटु वाक्य सुनकर हमें उन्हें मन में न लाना चाहिए।

※

११८. हानि-लाभ को न देखकर सौ वर्ष जीने की अपेक्षा हानि-लाभ को देखकर एक दिन का जीना अच्छा है।

※

११९. जो परवश है वह सब दुःख है। सुख तो एक स्ववशता में ही है।

※

१२०. मूर्ख तबतक नहीं समझता, जबतक कि वह पाप में पचता नहीं। पाप में जब वह पचने लगता है, तभी उसकी समझ में आता है कि 'अरे! यह तो पाप-कर्म है।'

※

१२१. हत्या का फल हत्या है, निंदा का फल निंदा है और क्रोध का फल क्रोध। जो जैसा करता है, वैसा ही फल उसे मिलता है।

※

१२२. रंग या रूप से मनुष्य सुज्ञेय नहीं होता। किसीको देखते ही उसपर विश्वास न कर लेना चाहिए। रूप और रंग से कितने ही मनुष्य संयमी-से मालूम होते हैं।

१२३. ऐसे बने हुए मनुष्य मिट्टी के नकली कुण्ड की तरह या सोने से मढे तांबे के टुकड़े की तरह होते हैं। ऊपर से सुन्दर, किन्तु भीतर से वे महान् अशुद्ध होते हैं।

※

१२४. तुझे इस बात का अभ्यास करना चाहिए, कि मेरे चित्त में विकार नहीं आने पायगा, मुहँ से मैं दुर्वचन नहीं निकालूंगा, और द्वेषरहित हो मैत्रीभाव से इस संसार में विचरण करूँगा।

※

१२५. तुम्हारे लिए दो ही कर्तव्य हैं—एक तो धर्म-प्रवचन का मनन और दूसरा आर्य तुष्णीभाव, अर्थात् उत्तम मौन।

※

१२६. उनके लिए अमृत का द्वार वन्द है, जो कानों के होते हुए भी श्रद्धा को छोड़ देते हैं।

*

१२७. जिन जीवों के तमाम आस्रव अर्थात् मल नष्ट हो जाते हैं, उन्हींको 'जिन' कहते हैं।

*

१२८. परमलाभ आरोग्य है, और परमसुख निर्वाण।

*

१२९. सत्य-प्राप्ति का उपकारी धर्म प्रयत्न है। मनुष्य प्रयत्न न करे, तो फिर सत्य की प्राप्ति कहां से हो?

और, प्रयत्न का उपकारी धर्म उद्योग है। विना उद्योग के मनुष्य प्रयत्न नहीं कर सकता।

*

१३०. उच्चकुल में जन्म लेने से लोभ थोड़ा ही नष्ट हो जाता है। उच्चकुल में जन्म लेने से न द्वेष ही नष्ट होता है, न मोह ही।

१३१. उच्चकुल में भले ही जन्म न लिया हो, किन्तु यदि मनुष्य धर्ममार्ग पर आरूढ़ होकर धर्म का ठीक-ठीक आचरण करता है, तो वह प्रशंसनीय है, पूज्य है।

*

१३२. जो मनुष्य अपनी उच्चकुलीनता का अभिमान करता है, और दूसरों को नीची निगाह से देखता है, वह प्रव्रज्या ले लेने पर भी 'असत्पुरुष' ही कहलायगा।

१३३. यह वृक्षों की छाया है, यह शून्य गृह है। इसके नीचे
कर प्रमाद मत करो, ध्यान करो।

*

१३४. चाहे गृहस्थ हो चाहे संन्यासी, यदि वह मिथ्या
तज्ञावाला है, तो वह मिथ्या प्रतिपत्ति (असत्य विश्वास) के
रण कुशलधर्म का आराधक नहीं हो सकता।

*

१३५. उलीचो, उलीचो, इस नाव को उलीचो; उलीचने से
हारी यह नाव हलकी हो जायगी, और तभी जल्दी-जल्दी चलेगी।
ा और द्वेष का छेदन करके ही तुम निर्वाणपद पा सकोगे।

*

१३६. काट डालो वासना के इस बीहड़ वन को। एक भी
त न रहने पाये। यह महाभयंकर वन है। जब वन और उसमें
ानेवाली झाड़ियों को काट डालोगे, तभी तुम निर्वाणपद
ओगे।

*

१३७. आत्मस्नेह को इस तरह काटकर फेंकदे, जिस तरह
ाग शरद ऋतु के कुमुद को हाथ से तोड़ लेते हैं। शांति के मार्ग
ा आश्रय ले—यह बुद्ध-द्वारा उपदिष्ट मार्ग है।

*

१३८. बुद्ध के निर्दिष्ट मार्ग पर वही चल सकता है, जो
त, वचन और काया को पापों से बचाता है।

*

१३९. यह ब्रह्मचर्य न तो आदर-सत्कार प्राप्त करने के लिए
, न शील-संपत्ति प्राप्त करने के लिए—और न समाधि-संपत्ति

या प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए है। यह ब्रह्मचर्य तो आत्यंतिक चित्त-विमुक्ति अर्थात् निर्वाणपद प्राप्त करने के लिए है। आत्यंकिक चित्त-विमुक्ति ही ब्रह्मचर्य का सार है, और यही ब्रह्मचर्यव्रत का पर्यव-सान भी है।

※

१४०. जिस श्रद्धालु गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार गुण हैं, वह इस लोक से परलोक में जाकर शोक नहीं करता।

※

१४१. वही बात बोलनी चाहिए, जो अपनी आत्मा के विरुद्ध न हो, और जिससे किसीको दुःख न पहुँचे। यही सुभाषित वाक्य है।

१४२. वही प्रिय बात बोलनी चाहिए, जो आनंददायक हो; और ऐसा न हो कि दूसरे के लिए प्रिय बात बोलने से पाप लगे।

१४३. मेरी वाणी सदा सत्य हो, यही सनातनधर्म है।

१४४. संतोंने कहा है कि सुभाषित वाक्य ही उत्तम है; धर्म की बात कहना, अधर्म की न कहना, यह दूसरा सुभाषण है; प्रिय बोलना, अप्रिय न बोलना यह तीसरा सुभाषण है; सत्य बोलना, असत्य न बोलना, यह चौथा सुभाषण है।

※

१४५. भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ, घूमो; जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए घूमो। कोई दो भिक्षु एक तरफ न जाना। तुम लोग उस धर्म का उपदेश करो जो आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अंत में कल्याणकारी है।

१. ध. प. (पुप्फवग्गो). २—४ ध. प. (बालवग्गो) ५—६ ध. प. (पंडितवग्गो) ७—६ ध. प. (सहस्सवग्गो) १०—११ ध. प. (पापवग्गो) १२—१३. ध. प. (अत्तवग्गो). १४—१६. ध. प. (लोकवग्गो) १७ ध. प. (बुद्धवग्गो) १८—२३. ध. प. (सुखवग्गो) २४—२८. ध. प. (कोधवग्गो) २६—३५. ध. प. (मलवग्गो) ३६—४७. ध. प. (धम्मट्ठवग्गो) ४८—५३. ध. प. (पकिण्णक वग्गो) ५४—५८. ध. प. (निरयवग्गो). ५६—६२. ध. प. (पुप्फवग्गो) ६३—६५. ध. प. (यमकवग्गो) ६६—६८. ध. प. (बालवग्गो) ६६. ध. प. (अर्हन्तवग्गो) ७०. ध. प. (सहस्सवग्गो) ७१. ध. प. (पापवग्गो) ७२. ध. प. (नागवग्गो) ७३—८०. ध. प. (भिक्खुवग्गो) ८१. सु. नि. (धम्मिक सुत्त) ८२. सु. नि. ८३. निदानवग्गो (भिक्खुसंयुग) ८४. सु. नि. (खग्गविषाण सुत्त) ८५. सु. नि. (खग्गविषाण सुत्त) ८६—८७. सु. नि. (नावा सुत्त). ८८—६१. सु. नि. (कोकालिक सुत्त) ६२—६३. सु. नि (नालक सुत्त) ६४—६५. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) ६६. सु. नि. (तुवट्टक सुत्त) ६७—६६. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) १००. सु. नि. (काम सुत्त) १०१. सु. नि. (गुहट्ठक सुत्त) १०२. सु. नि. (दुट्ठट्ठक सुत्त) १०१. अं नि. (धन सुत्त) १०४. अं. नि. (कालाम सुत्त) १०५. दी. नि. (तेविज्ज सुत्त) १०६—११०. बु. लो. सा. सं. (कोसल संयुत्त) १११. दी. नि. (सामञ्ञफल सुत्त) ११२. बु. च. (अनाथपिंडक-दीक्षा) ११३. बु. च. (पृष्ठ ३३८) ११४—११५. अं. नि. (३. ७. ५) ११६ अं. नि (३. ४. ५.) ११८. बु. च. (सुंदरी सुत्त) ११८. थेरी अवदान, द्वितीयभाणवार. ११६. बु. च. (विसाख सुत्त)

१. ध. प. (पुप्फवग्गो). २—४ ध. प. (बालवग्गो) ५—६ ध. प. (पंडितवग्गो) ७—९ ध. प. (सहस्सवग्गो) १०—११ ध. प. (पापवग्गो) १२—१३. ध. प. (अत्तवग्गो). १४—१६. ध. प. (लोकवग्गो) १७ ध. प. (बुद्धवग्गो) १८—२३. ध. प. (सुखवग्गो) २४—२८. ध. प. (कोधवग्गो) २९—३५. ध. प. (मलवग्गो) ३६—४७. ध. प. (धम्मट्ठवग्गो) ४८—५३. ध. प. (पकिण्णक वग्गो) ५४—५८. ध. प. (निरयवग्गो). ५९—६२. ध. प. (पुप्फवग्गो) ६३—६५. ध. प. (यमकवग्गो) ६६—६८. ध. प. (बालवग्गो) ६९. ध. प. (अर्हन्तवग्गो) ७०. ध. प. (सहस्सवग्गो) ७१. ध. प. (पापवग्गो) ७२. ध. प. (नागवग्गो) ७३—८०. ध. प. (भिक्खुवग्गो) ८१. सु. नि. (धम्मिक सुत्त) ८२. सु. नि. ८३. निदानवग्गो (भिक्खुसंयुग) ८४. सु. नि. (खग्गविषाण सुत्त) ८५. सु. नि. (खग्गविषाण सुत्त) ८६—८७. सु. नि. (नावा सुत्त). ८८—९१. सु. नि. (कोकालिक सुत्त) ९२—९३. सु. नि (नालक सुत्त) ९४—९५. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) ९६. सु. नि. (तुवट्टक सुत्त) ९७—९९. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) १००. सु. नि. (काम सुत्त) १०१. सु. नि. (गुहट्ठक सुत्त) १०२. सु. नि. (दुट्ठट्ठक सुत्त) १०१. अं. नि. (धन सुत्त) १०४. अं. नि. (कालाम सुत्त) १०५. दी. नि. (तेविज्ज सुत्त) १०६—११०. बु. ली. सा. सं. (कोसल संयुत्त) १११. दी. नि. (सामञ्ञफल सुत्त) ११२. बु. च. (अनाथपिंडक-दीक्षा) ११३. बु. च. (पृष्ठ ३३८) ११४—११५. अं. नि. (३. ७. ५) ११६ अं. नि (३. ९. ५.) ११८. बु. च. (सुंदरी सुत्त) ११८. थेरी अवदान, द्वितीयभाणवार. ११९. बु. च. (विसाख सुत्त)

या प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए है। यह ब्रह्मचर्य तो आत्यंतिक चित्त-विमुक्ति अर्थात् निर्वाणपद प्राप्त करने के लिए है। आत्यंकिक चित्त-विमुक्ति ही ब्रह्मचर्य का सार है, और यही ब्रह्मचर्यव्रत का पर्यवसान भी है।

※

१४०. जिस श्रद्धालु गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार गुण हैं, वह इस लोक से परलोक में जाकर शोक नहीं करता।

※

१४१. वही बात बोलनी चाहिए, जो अपनी आत्मा के विरुद्ध न हो, और जिससे किसीको दुःख न पहुँचे। यही सुभाषित वाक्य है।

१४२. वही प्रिय बात बोलनी चाहिए, जो आनंददायक हो; और ऐसा न हो कि दूसरे के लिए प्रिय बात बोलने से पाप लगे।

१४३. मेरी वाणी सदा सत्य हो, यही सनातनधर्म है।

१४४. संतोंने कहा है कि सुभाषित वाक्य ही उत्तम है; धर्म की बात कहना, अधर्म को न कहना, यह दूसरा सुभाषण है; प्रिय बोलना, अप्रिय न बोलना यह तीसरा सुभाषण है; सत्य बोलना, असत्य न बोलना, यह चौथा सुभाषण है।

※

१४५. भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ, घूमो; जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए घूमो। कोई दो भिक्षु एक तरफ न जाना। तुम लोग उस धर्म का उपदेश करो जो आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अंत में कल्याणकारी है।

या प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए है। यह ब्रह्मचर्य तो आत्यंतिक चित्त-विमुक्ति अर्थात् निर्वाणपद प्राप्त करने के लिए है। आत्यंकिक चित्त-विमुक्ति ही ब्रह्मचर्य का सार है, और यही ब्रह्मचर्यव्रत का पर्यव-सान भी है।

※

१४०. जिस श्रद्धालु गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार गुण हैं, वह इस लोक से परलोक में जाकर शोक नहीं करता।

※

१४१. वही बात बोलनी चाहिए, जो अपनी आत्मा के विरुद्ध न हो, और जिससे किसीको दुःख न पहुँचे। यही सुभाषित वाक्य है।

१४२. वही प्रिय बात बोलनी चाहिए, जो आनंददायक हो; और ऐसा न हो कि दूसरे के लिए प्रिय बात बोलने से पाप लगे।

१४३. मेरी वाणी सदा सत्य हो, यही सनातनधर्म है।

१४४. संतोंने कहा है कि सुभाषित वाक्य ही उत्तम है; धर्म की बात कहना, अधर्म की न कहना, यह दूसरा सुभाषण है; प्रिय बोलना, अप्रिय न बोलना यह तीसरा सुभाषण है; सत्य बोलना, असत्य न बोलना, यह चौथा सुभाषण है।

※

१४५. भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ, घूमो; जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए घूमो। कोई दो भिक्षु एक तरफ न जाना। तुम लोग उस धर्म का उपदेश करो जो आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अंत में कल्याणकारी है।

१. ध. प. (पुप्फवग्गो). २—४ ध. प. (बालवग्गो) ५—६ ध. प. (पंडितवग्गो) ७—९ ध. प. (सहस्सवग्गो) १०—११ ध. प. (पापवग्गो) १२—१३. ध. प. (अत्तवग्गो). १४—१६. ध. प. (लोकवग्गो) १७ ध. प. (बुद्धवग्गो) १८—२३. ध. प. (सुखवग्गो) २४—२८. ध. प. (कोधवग्गो) २९—३५. ध. प. (मलवग्गो) ३६—४७. ध. प. (धम्मट्ठवग्गो) ४८—५३. ध. प. (पकिण्णक वग्गो) ५४—५८. ध. प. (निरयवग्गो). ५९—६२. ध. प. (पुप्फवग्गो) ६३—६५. ध. प. (यमकवग्गो) ६६—६८. ध. प. (बालवग्गो) ६९. ध. प. (अर्हन्तवग्गो) ७०. ध. प. (सहस्सवग्गो) ७१. ध. प. (पापवग्गो) ७२. ध. प. (नागवग्गो) ७३—८०. ध. प. (भिक्खुवग्गो) ८१. सु. नि. (धम्मिक सुत्त) ८२. सु. नि. ८३. निदानवग्गो (भिक्खुसंयुग) ८४. सु. नि. (खग्गविषाण सुत्त) ८५. सु. नि. (खग्गविषाण सुत्त) ८६—८७. सु. नि. (नावा सुत्त). ८८—९१. सु. नि. (कोकालिक सुत्त) ९२—९३. सु. नि (नालक सुत्त) ९४—९५. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) ९६. सु. नि. (तुवट्टक सुत्त) ९७—९९. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) १००. सु. नि. (काम सुत्त) १०१. सु. नि. (गुहट्ठक सुत्त) १०२. सु. नि. (दुट्ठट्ठक सुत्त) १०१. अं. नि. (धन सुत्त) १०४. अं. नि. (कालाम सुत्त) १०५. दी. नि. (तेविज्ज सुत्त) १०६—११०. बु. लो. सा. सं. (कोसल संयुत्त) १११. दी. नि. (सामञ्जफल सुत्त) ११२. बु. च. (अनाथपिंडक-दीक्षा) ११३. बु. च. (पृष्ठ ३३८) ११४—११५. अं. नि. (३. ७. ५) ११६ अं. नि (३. ४. ५.) ११८. बु. च. (सुंदरी सुत्त) ११८. थेरी अवदान, द्वितीयभाणवार. ११९. बु. च. (विसाख सुत्त)

१२०—१२१. बु. च. (संगाय सुत्त) १२२—१२३. सं. नि. (३: २: १) १२४. म. नि. (ककचूपमसुत्तन्त) १२५—१२७. म. नि. (पासरासि सुत्तंत्त) १२८. म. नि (मागंदिय सुत्तंत) १२९. म. नि. (चंकि सुत्त) १३०—१३२. म. नि. (सप्पुरिस धम्म सुत्तंत) १३३ स. नि. (आनंज सप्पाव सुत्तन्त) १३४. स. नि. (सुभ सुत्तन्त) १३५. ध. प. (भिक्खुवग्गो) १३६—१३८. ध. प. (मग्गवग्गो) १३९. म. नि. (महासारोपम सुत्त) १४०. सु. नि. (आलवक सुत्त) १४१—१४४. सु. नि (सुभासित सुत्त) १४५. सं. नि. (४—१—४)

कोश

अकुशल = पाप; दुष्कृत्य

अकंप्य = स्थिर

अनागामी = कामवासना और क्रोध इन दो संयोजनों का संपूर्णतया उच्छेद करनेवाला श्रमण; मज्झिमनिकाय के संगीति-परियाय सुत्त में अनागामीके पांच प्रकारोंका उल्लेख मिलता है—अंतरापरिनिर्वायी, उपहत्यपरिनिर्वायी, असंस्कारपरिनिर्वायी, ससंस्कारपरिनिर्षायी और ऊर्ध्वस्रोत-अकनिष्ठगामी।

अनादान = अपरिग्रह

अनुत्तर = जिससे उत्तम कोई दूसरा न हो।

अनुशय = मल

अभिज्ञा = दिव्य ज्ञान

असपत्न = जिसका कोई प्रतिस्पर्धी या शत्रु न हो।

असमाहित = समाधिरहित; अशांत

अष्टांगिकमार्ग = आठ अंगोंवाला मार्ग; आठ अंग ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इसे 'मध्यमा प्रतिपदा' भी कहते हैं।

आयतन = आश्रय; बौद्ध दर्शन में आयतन दो प्रकार के हैं—आध्यात्मिक या आंतरिक और बाह्य। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन ये आध्यात्मिक आयतन हैं। और, रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म ये बाह्य आयतन हैं।

आर्यसत्य = उत्तमसत्य, जो चार प्रकार का है—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध का मार्ग।

आस्रव = मल; प्रवाह

आर्हत = अर्हत का धर्म

उपेक्षा = उदासीनता; तीसरा बोध्यंग

उपोसथ = उपवास का दिन

ओघ = भवसागर; संसार-प्रवाह

अंत = अतिसीमा

ऋद्धिपाद = असाधारण क्षमता या दिव्य शक्ति

कषाय = मल

कुशल = पुण्य; सत्कर्म

कोश = पुनर्जन्म देनेवाला कर्म

छंद = राग

दांत = जिसने इंद्रियों का संपूर्णतया दमन कर लिया है।

दौर्मनस्य = दुर्मनता; मानसिक दुःख

परिदेव = रोना-विलपना

पंचोपादान = पांच अभिनिवेश, जो ये हैं—
रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।

प्रतिपत्ति = प्राप्ति; मार्ग

प्रधान = प्रयत्न; निर्वाणसंबंधी प्रयत्न।

प्रविचय = संग्रह; अन्वेषण

प्रव्रज्या = संन्यास

प्रश्रब्धि = शांति; एक बोध्यंग

बोध्यंग = निर्वाण-ज्ञान के अंग, जो सात हैं—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा।

मार = विषय

रति = सुखोपभोग के पदार्थों में आसक्ति

वितर्क = मिथ्या संकल्प

विज्ञान = चित्त की धारा

वीर्य = उद्योग, मनोबल

वृषल = चांडाल

वेदना = इंद्रिय और विषय के एकसाथ मिलने के बाद चित्त में जो दुःख-सुख आदि विकार उत्पन्न होता है उसे वेदना कहते हैं।

व्यापाद = क्रोध

शासन = शिक्षा; धर्म

शास्ता = गुरु

शीलव्रत = श्रमण संन्यासी के आचार और व्रत

श्रावक = गृहस्थ

श्रोतावधान	=	श्रद्धा और प्रज्ञापूर्वक सुनना
समाहित	=	एकाग्र
संबोधि	=	परम ज्ञान; मोक्ष-ज्ञान
संयोजन	=	मन का बंधन
संज्ञा	=	इंद्रिय और विषय के एकसाथ मिलने पर, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना के बाद 'यह अमुक विषय है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसे संज्ञा कहते हैं।
स्कन्ध	=	समुदाय

सस्ता-साहित्य-मण्डल के

प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य (दो भाग) १।)
३—तामिलवेद ॥)
४—भारत में व्यसन और व्यभिचार ॥=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ (ज़ब्त : अप्राप्य) ॥)
६—भारत के स्त्री-रत्न (दो भाग) १॥-)
(तीसरा भाग) १)
७—अनोखा (विक्टर ह्यूगो) १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥=)
९—यूरोप का इतिहास २)
१०—समाज-विज्ञान १॥)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ॥≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ॥=)
१३—चीन की आवाज (अप्राप्य) ।-)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह १।)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर ।≡)
१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग (अप्राप्य) ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यवहारिक सभ्यता ।)
२२—अंधेरे में उजाला ॥)
२३—स्वामीजी का बलिदान (अप्राप्य) ।-)
२४—हमारे ज़माने की ग़ुलामी (ज़ब्त : अप्राप्य) ।)
२५—स्त्री और पुरुष ॥)
२६—घरों की सफ़ाई ।)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १॥=)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ॥=)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ॥-)
३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे— ।)
३२—गुरु गोविंदसिंह (अप्राप्य) ॥=)
३३—श्रीरामचरित्र १।)

३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर ॥≡)
३८—शिवाजी की योग्यता (छप रही है) ॥)
३९—तरंगित हृदय (छप रही है) ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—जिन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) दो खण्ड सजिल्द १॥)
४४—जब अंग्रज़ आये (ज़ब्त: अप्राप्य) १।≡)
४५—जीवन-विकास अजिल्द १।) सजिल्द १॥)
४६—किसानों का बिगुल (ज़ब्त) ≡)
४७—फाँसी ? ॥)
४८—अनासक्तियोग तथा गीता-बोध (श्लोक-सहित) ।≡)
अनासक्तियोग ≡)
गीताबोध— -)॥
४९—स्वर्ण-विहान (ज़ब्त) ।≡)
५०—मराठों का उत्थान पतन २॥)
५१—भाई के पत्र १॥) सजिल्द २)
५२—स्वगत— ।≡)
५३—युग-धर्म (ज़ब्त:अप्राप्य) १≡)
५४—स्त्री-समस्या १॥)
५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबला ॥≡)
५६—चित्रपट ।≡)
५७—राष्ट्रवाणी (अप्राप्य) ॥≡)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।≡)
६१—जीवन-सूत्र ॥)
६२—हमारा कलंक ॥≡)
६३—बुद्बुद ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन ॥)
६६—एशिया की क्रांति (ज़ब्त) १॥)
६७—हमारे राष्ट्रनिर्माता २॥) सजिल्द ३)
६८—स्वतंत्रता की ओर— १॥)
६९—आगे बढ़ो ! ॥)
७०—बुद्ध-वाणी ॥≡)

पता—सस्ता-साहित्य-मण्डल, नया बाज़ार, दिल्ली ।

सस्ता-साहित्य-मण्डल
तिरसठवाँ ग्रन्थ
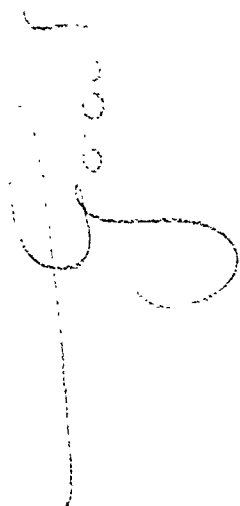
बुद्बुद

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक
सस्ता-साहित्य-मण्डल
अजमेर।

बुद्‌बुद के पक्ष में

जिसकी क़लम से ये बुद्‌बुद निकले हैं, वह खुद ही उनके पक्ष में क्या लिखे ? वह इतना ही कह सकता है कि ये कोरी मन की तरंगें नहीं हैं । अवलोकन, मन्थन और अनुभव के फल हैं । फिर भी पाठक इन में कल्पना की ऊँची उड़ान, भावना का आवेग, प्रतिभा का चमत्कार या ज्ञान की ज्योति की आशा न रक्खें । यों तो ये बहुत सीधे-सादे और मामूली विचार हैं परन्तु प्रत्येक में कुछ-न-कुछ शिक्षा अवश्य है । इन के लिखने के कारण मुझे खुद बहुत लाभ हुआ है । अपने आदर्श से अपने जीवन का मेल मिलाते रहने में, जीवन का और चित्त का निरीक्षण करने में, जीवन के कठिन और अशान्तिकारी प्रसंगों पर, इनसे मुझे काफी सहायता, प्रकाश, प्रेरणा और सान्त्वना मिली है । इससे मेरा अनुमान होता है कि अपने जीवन को उच्च बनाने की अभिलाषा रखने वाले पाठकों को भी शायद इनसे कुछ सहायता मिले । इसी आशा के बल पर मैं इन्हें प्रकाशित करने के लिए दे रहा हूँ ।

हरिभाऊ उपाध्याय
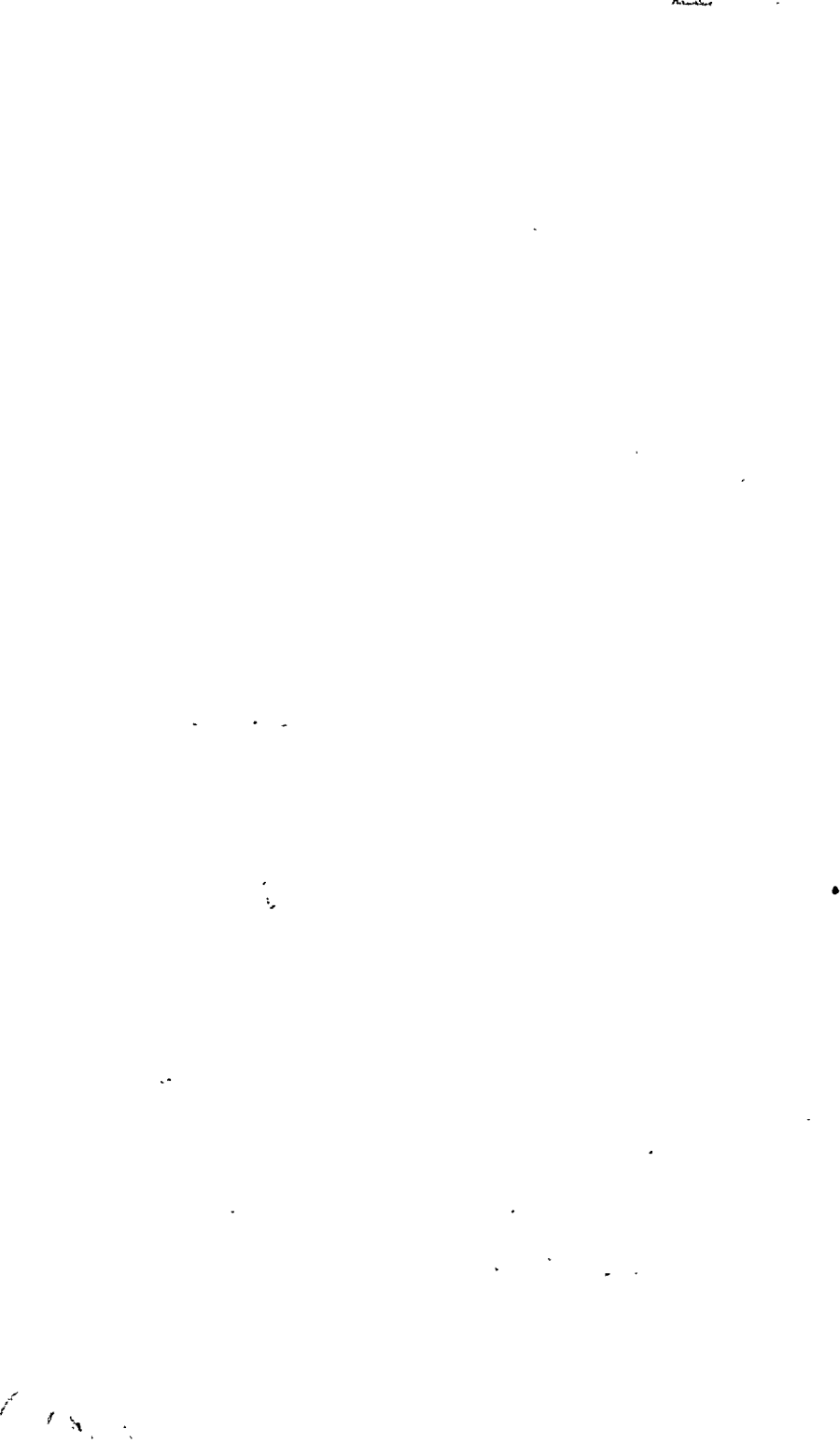
ज्ञान-खानि का रत्न नहीं हूँ, और न काव्यकला गुम्बद।
मैं तो कोरा क्षार सिन्धु के जल का हलका-सा बुद्बुद॥

× × ×

अश्रु नहीं जो व्यथा-कथा को जग के उर में लिख-जाऊँ।
मुक्ता-फल हूँ नहीं स्वर्ग-सुन्दरियों में आदर पाऊँ॥
मैं तो खारे जल का बुद्बुद रीता आता जाता हूँ।
खाली जग में आकर क्षणभर सूने में लय पाता हूँ॥

बुद्बुद
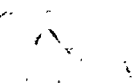
जिसने आत्म-विसर्जन कर दिया है, किसी उच्च उद्देश्य के लिए अपने आप को समर्पित कर दिया है, उसे बीमारी, गृह-कष्ट, उपेक्षा, कैसे अधीर बना सकते हैं ? यदि इन बीच की मंजिलों में ही उसका धीरज छूट गया तो उसके आत्म-विसर्जन में ज़रूर खामी है।

× × ×

कर्तव्य-पालन पारस्परिक संबंधों और रिश्तों से बड़ी और ऊंची चीज़ है। जब तक खुद-ग़र्जी है तब तक न तो कर्तव्य बड़ी क़ुरबानी के लिए प्रेरित कर सकता है, न मनुष्य रिश्तेदारी से ऊपर उठ सकता है।

× × ×

रिश्तेदारी भी एक कर्तव्य है। पर देश, समाज और मानवता-सम्बन्धी कर्तव्यों के मुक़ाबले में वह छोटी चीज़ है। बहुतों को बचाने के लिए थोड़ों को स्वाहा होना ही चाहिए।

× × +

पर बहुत दबाकर थोड़ों की आहुति नहीं ले सकते। दबाव का तो स्वाभाविक परिणाम है प्रतीकार।

यह नुक्ताचीनी, बहस, और कोसने का युग है। आत्मार्थी सुनता है और लाभ उठाता है। पर किसी टीकाकार, दलीलबाज़ और दोष-दर्शी से किसी ने यह भी पूछा है कि खुद तुम्हें इससे कितना लाभ पहुँचता है?

× × ×

किन्तु कार्यलीन को इतना अवकाश ही कहाँ कि वह इस 'परोपकार' में अपना समय लगावे?

× × ×

मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि युवावस्था और चिंता, युवक और निराशा, ये एक साथ कैसे रह लेते हैं?

× × ×

जो कठिनाइयों से दब गया वह २५ वर्ष का पट्ठा होने पर भी बूढ़ा है।

× × ×

जिसका हृदय सदा आशा और उत्साह से भरा रहता है—कठिनाइयों और उलझनों में जिसका जोश और बढ़ने लगता है वह ७५ वर्ष का बूढ़ा भी जवानों से बढ़कर है।

× × ×

सफलता बाहरी साधनों और उपकरणों पर नहीं, बल्कि भीतरी तेज और ज्योति पर अवलम्बित है।

× × ×

अतएव आसपास देखने के बजाय तू भीतर देख, वहाँ उजाला रख।

जब तक तू दूसरे को कोसता रहेगा तब तक तेरी आत्मा को कुतर-कुतर कर वोदा बना देने वाला कीड़ा कदापि नहीं मरेगा।

× × ×

अध्यात्मिकता क्या है? मकान का जो रिश्ता बुनियाद से है, पेड़ का जो नाता जड़ से है, वही सम्बन्ध मनुष्य-जीवन का आध्यात्मिकता से है। जबतक हम किसी बात का ऊपर ही ऊपर विचार करते हैं, तबतक हम व्यवहारी या दुनियादार हैं: जब हम उसकी तह तक पहुँचते हैं, तब हम आध्यात्मिक होते हैं।

× × ×

मुझे उनकी बुद्धि पर तरस आता है, जो जड़ और तह की बातों की उपेक्षा करते हैं और फिर भी परेशान हैं कि जल्दी सफलता क्यों नहीं मिलती?

× × ×

मन में संशय होने पर रस्सी सांप दिखाई देती है और पुत्र-मित्र शत्रु मालूम होने लगते हैं। मैं अपने मन में संशय को स्थान देकर दूसरों के साथ कितना अन्याय और अपनी कितनी हानि करता हूँ? एक तो सांप को पालता हूँ और दूसरे कई मित्रों को खोता हूँ।

× × ×

संशय न रखने से कभी-कभी मनुष्य धोखा खा जाता है; पर संशय को पालने-पोसने से तो वह नित्य आत्मघात करता है।

सतर्कता और जागरूकता आत्मा की ज्योति है; पर संशय और अविश्वास हृदय की गंदगी है।

× × ×

मैं भाव-शुद्धि का जितना श्रेय खुद लेता हूँ उतना ही दूसरों को भी देता रहूँ तो ग़लतफहमी संसार में क्यों कर रहेगी? यह उदारता की नहीं, समान-व्यवहार की शिक्षा है।

× × ×

बाज़ लोग धड़ल्ले से मिल के कपड़े को मेरे सामने खादी बता देते हैं। क्या वे मुझे मूर्ख समझने की अपनी मूर्खता का प्रदर्शन नहीं करते हैं? यदि यह अज्ञान हो तो उसे खादी सिद्ध करने की हुज्जत क्यों?

× × ×

मनुष्य टीका का विचार करे या अपने अन्तःकरण के भाव का? भाव शुद्ध है तो टीका से एक दृष्टि-बिन्दु का परिचय ही मिल सकता है।

× × ×

मनुष्य टीका से तभी घबरा सकता है, जब उसका भाव दूषित हो, उसका ज्ञान मलिन हो।

× × ×

मुझे अपना जीवन सूना मालूम होता है, मेरा दुनिया में कोई नहीं है—यह बात एक आस्तिक, फिर ईश्वर-भक्त, अपने को ईश्वरार्पण कर देनेवाला, कैसे कह सकता है? या तो शून्यता का भान एक उद्वेग मात्र है, या ईश्वरार्पण में कच्चाई है।

जब व्याकुलता विवेक पर हावी हो जाती है, तो वह बरसात की अन्धाधुन्ध बाढ़ की तरह जन-समाज के लिए भयंकर हो जाती है।

× × ×

यदि भावना शुद्ध है, तो छोटे-बड़े मत-भेदों या प्रकृति-वैचित्र्य को अधिक महत्व देना, उनकी कड़ी आलोचना करना, परस्पर अनुदारता का प्रदर्शन करना, अपनी आत्म-शुद्धि में संशय उत्पन्न करना है।

× × ×

मनुष्य जीवन-भर विद्यार्थी है, साधक है। यदि वह अपने कष्टों दुःखों, असफलताओं, विपत्तियों और निन्दाओं की छान-बीन करे तो उसे छोटी-छोटी बात में से भी बड़ी-बड़ी शिक्षायें मिल सकती हैं। यदि वह इस बात को सदैव याद रक्खे कि मेरे हर सुख-दुःख का कारण मेरे अपने ही कर्म हैं, तो उसे यह भी पता चल जायगा कि उसका कष्ट या निराशा उसके किस कार्य का फल है।

× × ×

कष्ट और विपत्ति हमें शिक्षा देनेवाले गुरु हैं। इनका उपदेश हमें आदर और श्रद्धा के साथ सुनना चाहिए यदि तू शिक्षायें लेने के लिए तैयार है तो ग़लतियों, कष्टों, अपमानों से मत डर।

× × ×

एक श्रद्धेय व्यक्ति ने मुझे अपनी छोटी-सी भूल के लिए दूसरे प्रति

ष्ठित आदमियों के सामने डाँट दिया। मेरे अभिमान ने इसे अपना अपमान समझा। वह भीतर ही भीतर झल्ला उठा। सौभाग्य से तुरन्त अन्दर का जिज्ञासु, साधक जग पड़ा। उसकी भवें उठीं, आँखें चमकीं—उनमें उलहना था—चेहरे पर मुस्कराहट छा गई। अभिमान शर्मिन्दा हुआ। उसने मन ही मन उस डाँटनेवाले पुरुष को प्रणाम किया।

× × ×

मैं डाक्टर हूँ, या मनुष्य, वकील हूँ या मनुष्य; सत्ताधारी हूँ या मनुष्य? माँ के पेट से मैं क्या पैदा हुआ हूँ? जन्म से लेकर मौत तक मेरा एक ही नाम क्या रहेगा?

× × ×

यदि इन सबका एक ही उत्तर है—'मनुष्य' तो फिर मुझे जीवन में मनुष्यता को प्रधानता देनी चाहिए, मनुष्यता का विकास करना चाहिए, 'मनुष्य' नाम को सार्थक करना चाहिए, या दूसरी बातों के लोभ में मनुष्यता को कुरबान कर देना चाहिए?

× × ×

और यदि मैं अपने छोटे-बड़े सुख-साधनों या महत्वाकाँक्षाओं के लिए अपनी मनुष्यता को कुरबान करता रहता हूँ तो मुझे अपना नाम 'मनुष्य' न रहने देकर और कुछ क्यों न रख लेना चाहिए?

संसार सफलता का पूजक है। वह लक्ष्य की उच्चता, प्रयत्न की तल्लीनता, साधन की शुद्धता से ही सन्तुष्ट नहीं होता, उसकी क़दर नहीं करता, वह तो पूछता ही रहता है, आख़िर नतीजा क्या निकला ?

× × ×

इसलिए ऐ अनजान युवक, सफल होने तक धीरज मत छोड़। यदि तू जगत् का सहयोग चाहता है, तो जगत् की कड़ी कसौटी से मत घबरा।

× × ×

एक कहता है—'मैं जगत् के पास नहीं जाऊँगा। जगत् को ज़रूरत हो तो मेरे पास आवे।' यह अभिमान है। दूसरा कहता है—'मेरे पास एक अच्छी चीज़ है। जगत् को मैं निमन्त्रण देता हूँ। यदि वह वास्तव में अच्छी होगी तो जगत् क्यों न क़दर करेगा ?' यह वास्तव में कोई साधक है।

× × ×

एक आदमी है, जिसे काम को सफल बनाने की बड़ी धुन है। वह इतना भी नहीं ठहरना चाहता कि ज़रा देख तो ले कि साधन-सामग्री सब ठीक ठीक भी है या नहीं। एक दूसरा आदमी है, जो साधन-सामग्री के यथोचित होने की अधिक चिन्ता रखता है। अब जल्दी सफल कौन होगा ?

× × ×

किसी काम में प्राण-पण से जुट जाना एक बात है, और किसी

तरह उसे जल्दी पूरा करना दूसरी बात है। पहली में लगन और धुन है, दूसरी में बेगार टालना है।

× × ×

यदि तू भूल कर चुका है तो फिर उसके बुरे परिणाम को साहस और प्रसन्नता के साथ भुगत—बेहया बनकर नहीं, बल्कि एक नम्र साधक की तरह।

× × ×

बुराई बुरा करने में है, न कि उसको स्वीकार करने में। स्वीकृति तो उलटा आत्मा को शुद्ध और बलवान् बनाती है।

× × ×

जब ग़लती की सज़ा मिलती हो, तो आनन्द मना। फोड़े पर नश्तर लगता हो, उसमें से मवाद निकल जाता हो, तो दुःख किस बात का ?

× × ×

'भावुक' जीवन और 'व्यावहारिक' जीवन अलहदा चीज़ें हैं। 'भावुक' के सुख-दुःख प्रायः कल्पित और 'व्यावहारिक' के प्रायः प्रत्यक्ष होते हैं। भावुकता और व्यावहारिकता का सामञ्जस्य ही सफल जीवन है।

× × ×

बालक और ज्ञानी के जीवन में अन्तर क्या है ? एक में जो गुण-विशेष सहज मालूम होते हैं, दूसरे में वे ज्ञानपूर्वक सिद्ध किये हुए होते हैं।

बालक को हम प्यार कर सकते हैं, पर अनुकरण नहीं। ज्ञानी को प्यार और अनुकरण दोनों कर सकते हैं। बालक मनुष्यता का आरम्भ है, अन्त नहीं।

× × ×

भावुकता एक वेग है, तूफ़ान है, बाढ़ है; विवेक सतत समान प्रवाह है।

× × ×

देशभक्तों में दो समुदाय देख पड़ते हैं; एक वह जो देश के करोड़ों दुःखी भाई-बहनों की सेवा करना चाहता है, दूसरा वह जो 'सेवा करने के लिए' अधिकार लेना चाहता है। काँग्रेस के चुनावों में जो झगड़े होते हैं उसका मुख्य कारण यही है कि हमें 'सेवा' की अपेक्षा अधिकार की ज्यादा फ़िक्र है।

× × ×

सेवा-परायण लोगों के यहाँ न्याय दुखी रहता है; क्योंकि उन्हें अपने साथ न्याय होने देने की उतनी चिन्ता नहीं रहती, जितनी अपने कर्त्तव्य-पालन की और अपने काम में लगे रहने की। इसके विपरीत न्याय अधिकार-प्रिय मनुष्य के इर्द-गिर्द घूमा करता है; क्योंकि अपनी अधिकार-रक्षा के लिए उसे उसके—न्याय के—सहारे की आवश्यकता होती है।

× × ×

प्रणाली मनुष्य से बड़ी नहीं होती। यदि प्रणाली को सुधारना है तो मनुष्य को पहले सुधारो।

मैं ५-७ साल से 'ब्राह्मण' की जगह 'बनिया' बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ। ब्राह्मणता के प्रेमी बिगड़ रहे हैं कि तुम बड़े 'व्योहारी' बन रहे हो। इधर एक 'बनिया' मित्र ने सर्टिफ़िकेट दिया—तुम तो २० आना ब्राह्मण हो। क्या मुझ ग़रीब की यह मिहनत बेकार ही जायगी?

× × ×

जेल में हम कुछ लोगों ने अपना 'धर्म' बदल लिया है। बल्कि यों कहें कि हमने एक नये धर्म की स्थापना की है। उसका नाम है—'जूताख़ोर' धर्म। हम जिधर निकल जाते हैं उधर ही से कोई एक जूता जमा देता है। हम मन ही मन उसका स्वाद ले लेते हैं। कभी तो बिला वजह इतनी ज़ोर से पड़ जाता है कि चाँद लाल हो जाती है—पर क्या करें, अपने धर्म से बँधे हुए हैं? देखें कितने राजस्थानी इस धर्म में अपना नाम लिखाने का हौसला रखते हैं।

× × ×

कुछ प्रिय मित्रों का यह प्रेम-मय उलहना मुझ तक पहुचा है कि हरिभाऊजी ने तो गाँधीजी के पीछे अपना साहित्यिक व्यक्तित्व खो दिया है। यदि यह सच है, तो इसे मैं टीका नहीं, प्रशंसा समझता हूँ। पर सच तो यह है कि—

न मैं कुछ था, न अब कुछ हो लिया हूँ।
बस मैं इक दिवालिया हू, दिवालिया हूँ।

ुद]

कला की उत्पत्ति कोमलता से है और कोमलता का जन्म
सा की कोख से हुआ है ।

× × ×

कष्ट पहुँचाना पशुता है, कष्ट सहना मनुष्यता है ।

× × ×

हुल्लड़बाज़ी और सैनिकता दो अलहदा चीज़ें हैं । हुल्लड़बाज़
भय-प्रदर्शन में विश्वास रखता है, मनमानी और धाँधली का पूजक
होता है; इसके विपरीत सैनिक व्यवस्था, अनुशासन और नियम-
पालन को मानता है एवं कुरबानी पर विश्वास रखता है । हुल्लड़-
बाज़ समाज का फोड़ा है और सैनिक ढाल ।

× × ×

हुल्लड़बाज़ी के सामने सिर झुकाना मनुष्यत्व को खोना है;
सैनिक के पैर पूजना मनुष्यता को चढ़ाना है ।

× × ×

निर्बल जब भला आदमी होता है तो उसके बल 'राम' हैं;
किन्तु जब दुर्जन निर्बल होने लगता है तो गुस्सा और गाली उसका
बल होता है । जब दलील का दिवाला निकल जाता ह तो हुल्लड़-
बाज़ गाली का सहारा लेता है ।

× × ×

हुल्लड़बाज़ी मानसिक शरारत से पैदा होती है । जब गं
उसके शिकार होते हैं तो हुल्लड़बाज़ कहलाते हैं ।

कृतज्ञता लेकर देना चाहती है और कृतघ्नता लेना, चूसना और ऊपर से गाली देना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझती है।

× × ×

विश्वासशील कभी मूर्ख बन सकता है, पर उससे समाज की उतनी हानि नहीं होती, जितनी खुद उसकी; किन्तु संशय-शील तो, बुद्धिमान् होने का ज्ञान रखते हुए भी, मूर्ख से अधिक अपनी और समाज की हानि करता है। विश्वासशील स्वयं जोखिम उठाकर दूसरे के साथ न्याय करना चाहता है, संशयशील अपनी रक्षा करके दूसरे के साथ सौदा करना चाहता है।

× × ×

गाँधी सीधा भी है और ऐंठू भी। उसके साथ सीधे चले चलो तो एक दम में मीलों आपके साथ दौड़ता चला जायगा; और टेढ़े चले तो धेले-छदाम के लिए भी अड़ जायगा—सवाल चीज़ का नहीं, आपके दिल का है।

× × ×

जो दूसरों के बल पर चढ़ते हैं वे एक धक्के में ही धड़ाम से गिर जाते हैं; जो अपने बल पर चलते हैं वे आँधी और तूफ़ान में से भी तीर की तरह सीधे चले जाते हैं।

× × ×

चारित्र्य से प्रतिष्ठा, मित्र, धन, सत्ता सब अपने-आप आ जाते हैं, मन, वचन और कर्म में जितनी ही अधिक एकता होगी उतना ही श्रेष्ठ चारित्र्य समझना चाहिए।

महत्वाकांक्षायें दो प्रकार की होती हैं—एक काम की, दूसरी नाम की। जब हमारे मन में यह इच्छा पैदा होने लगती है कि काम मेरे ही द्वारा हो, तब समझना चाहिए कि हम काम की महत्वाकांक्षा से नाम की महत्वाकांक्षा की ओर जा रहे हैं। अपने बारे में निराग्रह काम की महत्वकांक्षा का सब से बड़ा लक्षण है।

× × ×

बिल्ली खिसियाती है, कुत्ता पीछे भौंकता है और शेर सामने टटक कर आता है।

× × ×

सिद्धान्त क्या है? अनुभूत नियम। सिद्धान्त की हँसी उड़ाना अनुभव और नियम की हँसी उड़ाना तथा अपनी लघुता का परिचय देना है।

× × ×

"मित्रो, मेरी तारीफ़ मत किया करो। अपनी उदारता से मुझे शर्मिन्दा न करो। मेरी बुराइयाँ मुझे बताओ, जिससे मैं आपकी मित्रता के अधिक योग्य साबित हो सकूँ।"

× × ×

आप मुझे चिढ़ाते हो, जोश दिलाते हो, उभाड़ते हो, शर्मिन्दा करते हो; मुझे गुस्सा आता है, मगर मैं रोक लेता हूँ, एक ही क्षण में आपकी ओर देखकर हँस पड़ता हूँ—बताइए, बहादुर कौन है?

आप मुझे गाली देते हो, लोगों में मेरी बुराई करते फिरते हो, मुझे गिराने की तरकीबें सोचते रहते हो; मेरे दिल में बदले की भावना जगती है, पर मैं अपने मन को समझाकर आपसे प्रेम करने की चेष्टा करता हूँ—कहिए, बहादुर कौन है?

× × ×

आप मेरा धन लूट ले जाते हो, मुझे दर-दर का भिखारी बना देते हो, मेरी ज़मीन-जायदाद हज़म कर लेते हो, मैं आपको कुचल डालने की तैयारी करता हूँ, फिर सोचता हूँ और आपको दण्ड के बजाय दया का पात्र समझने लगता हूँ—इसमें कौन बहादुर है?

× × ×

आपने मुझे जेल में डाल दिया, बेंतें लगवाईं, चक्की पिसवाई, सड़ा-गला अन्न खाने को दिया; मेरे मन में प्रतिहिंसा उठी कि तहस-नहस कर डालूँ, फिर अपनी मनुष्यता याद आई, आपकी कुबुद्धि पर आत्मा से क्षमा-याचना की—इसमें किसकी बहादुरी रही?

× × ×

आपने मेरे कलेजे में खञ्जर भोंक दिया, मेरे सीने में गोली मार दी—उफ् करके मरते-मरते मैंने कहा—रे भाई, यह क्या बेवकूफ़ी कर गये—परमात्मा आपको सुबुद्धि दे, आपका भला करे! अब आप बहादुर रहे कि मैं?

मैं लड़कियों को सावधान कर देना चाहता हूँ कि देश-भक्तों से भूल कर शादी न कर बैठना। क्योंकि, वास्तव में, वे पहले ही से शादी किये रहते हैं!

× × ×

जो कर चुकी हैं उनसे कहूँगा, सौतिया डाह को छोड़ देने में ही तुम्हारा हित है। तुम अपनी सौत के गले मिल जाओ, तुम्हारे पति तुम्हें सिर पर उठाकर नाचेंगे।

× × ×

जो मेरी बुराई फैलाते हैं वे अपने और जगत् के हित-चिन्तक हों या न हों, मेरे हित-चिन्तक ज़रूर हैं!

× × ×

बदला लेने से जिनको तृप्ति होती है उनको भगवान् ने साँप ही क्यों नहीं रहने दिया?

× × ×

जो दूसरों को धोखा देता है, वह सब से बढ़कर अपने आपको धोखा देता है।

× × ×

जो साँप तुम्हारे घर में घुस कर दूसरों को काटता रहता है, वह किसी दिन तुम्हें और तुम्हारे बाल-बच्चों को जरूर काट खायगा।

× × ×

यदि स्वयं मेरी सत्य पर अटल श्रद्धा नहीं है, तो मैं असत्याचारियों को कैसे सत्य-भक्त बना सकूँगा?

मैं जैसे लोगों की संगत में रहूँगा, जैसों से सहयोग करूँगा, वैसा लोग मुझे क्यों न समझेंगे ?

× × ×

थोड़ी पूँजी को बहुत समझ लेने वाला अक्सर घटी खाता है, घटी में रहता है।

× × ×

झूठ बोलने वाला अक्सर दूसरे को बेवकूफ़ समझता है, पर वह वास्तव में दुहेरा बेवकूफ़ होता है।

× × ×

आप झूठ बोल कर बच सकते हो, जीते रह सकते हो, पर हार्दिक आदर और विश्वास नहीं पा सकते।

× × ×

यदि मैं गुण्डा और बदमाश हूँ तो कुछ लोग थोड़ी देर के लिए मुझसे डर और दब सकते हैं—पर मुझ से प्रेम तो हर्गिज़ नहीं कर सकते।

× × ×

मन में यदि तिरस्कार है, तो मौखिक विनय का क्या मूल्य ?

× × ×

जब आप बदला लेते हैं, तो अपने जी की जलन बुझाते हैं; जब क्षमा कर देते हैं, या सहन कर लेते हैं, तब आप मुझे जीत लेते हैं।

एक मित्र मुझे उलहना दिया करते हैं कि तुम अपने साथियों का साथ ज़रूरत से बहुत ज़्यादा देते हो। मैं अपने मन में उनसे कहता हूं, मैं मित्रता नहीं करता, शादी करता हूँ।

× × ×

जब मैं 'अ' के साथ बहुत दूर तक जाता हूँ तब 'अ' को शिकायत नहीं होती, पर जब 'ब' के साथ जाता हूँ तो 'अ' मुझे इसी बात के लिए दोष देने लगते हैं !!

× × ×

जब किसी चीज़ में मन रंग जाता है तब प्राकृतिक धर्म भी बदल जाते हैं। मीरा के लिए विष अमृत हो गया।

× × ×

जब मैंने अपना आदर्श 'अंगूर' रक्खा था, तब मेरी मिठास लोगों को अच्छी नहीं मालूम होती थी; जब मैंने अपना आदर्श 'खाद' बनाया तो लोग उसकी सड़न और बदबू से घबराते हैं !

× × ×

जिनकी ज़बान बुरी होती है, उनका दिल अक्सर अच्छा होता है; ज़बान और दिल, दोनों की अच्छाई बिरलों में ही पाई जाती है।

× × ×

जब हमें आदर मिलने से खुशी हो, तो समझना चाहिए कि हम चढ़े बुख़ार में ठण्डा पानी पी रहे हैं।

जो मुझे कड़वी बात कहता है वह मुझे जागृत रखता है, जो मेरी तारीफ करता है वह अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय देता है।

× × ×

बात का कड़वा होना एक चीज़ है और कड़वा लगना दूसरी बात है। कड़वा होने में कहने वाले का और कड़वा लगने में सुनने वाले का कोई दोष है।

× × ×

जब मैं कड़वी बात कहता हूँ तो इस बात की उपेक्षा करता हूँ कि सुनने वाले पर मेरी बात का वही असर होगा जो मैं डालना चाहता हूँ। मैं उस किसान की तरह हूँ जो बिना खेत की और बीज बोनेवाले औज़ार की हालत देखे ही, या उसकी उपेक्षा करके बीज बोता चला जाता है।

× × ×

यदि कोई बात मुझे कड़वी लगती है तो मुझ में उस में से सत्य को शान्ति के साथ ढूँढने और ग्रहण करने की शक्ति का अभाव है। यदि मेरी वृत्ति सत्य को ही शोधने की है तो टेढ़ी-मेढ़ी, भद्दी, अच्छी, बुरी, कड़वी, मीठी, सब चीज़ों में से मैं सत्य ढूँढ लूँगा और उस अंश तक आनन्दित एवं कृतज्ञ हूँगा।

× × ×

पाखण्ड और कुशलता में ज़मीन-आसमान का भेद है। पाखंडी कहता कुछ है और करता कुछ है। कुशल वह है जो सत्य को सु-स्वादु बनाने का प्रयत्न करता है।

कटुता सत्य में नहीं है । सत्य जिस साधन के द्वारा अभि-व्यक्त होता है उसके कु-संस्कारों से उसका रूप दोष-युक्त हो जाता है। यदि सुनने वाला सु-संस्कृत है तो वह उस दोष के असर से अपने को बचा लेता है।

× × ×

जब हम सत्य को प्रिय और मृदु बनाते हैं तो हम सत्य को असत्य के रूप में पेश नहीं करते हैं; बल्कि अपने हृदय के प्रेम, मिठास, और मृदुता से उसे सरस और रमणीय बनाते हैं।

× × ×

सत्य को असत्य और असत्य को सत्य के रूप में पेश करना पाखण्ड है; परन्तु सत्य को सरस,मृदुल,मधुर बनाना कुशलता है।

× × ×

कटु सत्य में हिंसा और प्रतिहिंसा ही नहीं अभिमान भी है। प्रेम के अतिरेक से सत्य में तीखापन आ सकता है; कटुता नहीं।

× × ×

तीखापन व्याकुलता का, अधीरता का और कटुता द्रोह और द्वेष का चिन्ह है।

× × ×

यदि हम शरीर की नग्नता पसंद नहीं करते हैं तो मन की नग्नता को कैसे पसंद करेंगे ? हमारे मन के कई दूषित भाव ऐसे

हो सकते हैं जिसके दुष्प्रभाव से समाज को बचाना आवश्यक है। इसी से संयम और संस्कारिता की उत्पत्ति होती है।

× × ×

अपने को समाज के रोप से बचाने के लिए मैं अपनी किसी बुराई को छिपाऊँ, उस पर परदा डाले रक्खूँ, इसमें और समाज को अपने दोष से बचाने के लिए उस पर अंकुश रक्खूँ, इसमें भेद है। पहली अवस्था में मैं अपनी जान बचाता हूँ और समाज को जोखिम में डालता हूँ; दूसरी अवस्था में मैं समाज को बचाने के लिए स्वयं मर्यादा में रहता हूँ।

× × ×

यह मानना कि मैं तो नेकनीयत हूँ और दूसरा बदनीयत है इस बात को मंजूर करना है कि मैंने अपने दिल की अच्छाई को ही देखा है और दूसरे की बुराई को ही देखने में दिलचस्पी ली है। यह मेरी क्षुद्रता और असंस्कारिता का भी चिन्ह है।

× × ×

यह कहना कि संसार में अधिकतर लोग पाखण्डी हैं, जगन्नियन्ता में पाखण्ड का आरोपण करना है, अथवा यह जाहिर करना है कि मैंने पाखण्ड की ही खोज अधिक की है। जिस चीज़ की मैंने खोज की है वह मुझे मिली है।

× × ×

जो बाह्य साधनों पर विश्वास रखता है उसके सत्य और आत्मविश्वास में कमी है। बाह्य साधनों का सहारा लेना एक बात

है और उन पर आधार रखना दूसरी बात है । सहारा लेनेवाला उसके अभाव में भी विचलित नहीं होता । आधार रखने वाला ऐसी अवस्था में हतोत्साह और निराश हो जाता है ।

× × ×

मेरा कोई पाप—कोई बुरा भाव—ही मेरे अन्दर भय उत्पन्न करता है । कभी-कभी यह भय शंकाशीलता के रूप में सामने आता है ।

× × ×

यदि मुझे अपने बड़प्पन की चाह नहीं है तो दूसरों के बढ़ने से मुझे आनन्द होने के बजाय चिन्ता और भय क्यों होने लगता है ?

× × ×

तू बड़प्पन की चाह छोड़ दे, फिर देख कि तेरे वास्तविक विरोधी और शत्रु कितने रह जाते हैं ?

× × ×

बड़प्पन चाहने वाले के विरोधी भी अक्सर बड़प्पन चाहने वाले ही होते हैं । और मज़ा तो यह है कि दोनों एक-दूसरे पर बड़प्पन की चाह का इल्ज़ाम लगाते हैं ! !

× × ×

क्या तेरा मन अशान्त है ? चिन्तित है ? भयभीत है ? तो देख तेरे मन में स्वार्थ की चाह तो नहीं है ? मिथ्याभिमान तो नहीं है ? आत्म-विश्वास की कमी तो नहीं है ?

जबतक मेरी यह इच्छा है कि मेरा कार्य सफल हो—चाहे मेरे द्वारा चाहे किसी और के द्वारा—तब तक मेरी दृष्टि कार्य पर है; पर जब मैं यह चाहने लगता हूँ कि नहीं, यह मेरे ही द्वारा हो तब मैं अपने व्यक्तित्व को कार्य से अधिक महत्व देने लगता हूँ।

× × ×

जब मैं अपने व्यक्तित्व को अधिक महत्व देने लगता हूँ तो दूसरे व्यक्तियों के महत्व की ओर उपेक्षा होने लगती है; फलतः वे मेरे सहयोगी हों तो भी विरोधी हो सकते हैं; यदि इनमें भी अपने व्यक्तित्व को अधिक महत्व देने का भाव है तो फिर महत्वाकांक्षाओं का संघर्ष अवश्यम्भावी है; उसमें मेरा कार्य तो चकनाचूर हो जायगा।

× × ×

यदि तू किसी संस्था का अध्यक्ष या संचालक बनना चाहता है तो जबतक अपने साथियों के अधिकांश गुणों में तू उनसे बढ़कर नहीं होगा तबतक तुझे सफलता न मिलेगी।

× × ×

परन्तु यदि तू निःस्वार्थ, निरभिमान, दृढ़ लगन वाला, और चारित्र्यशील होगा तो तुझे दूसरे साथी ऐसे अवश्य मिल जायँगे, जो तेरी अन्य कमियों की पूर्ति करते रहेंगे; परन्तु तेरे लिए यह ज़रूरी है कि तू उनकी उस विशेषता की क़द्र करता रहे।

यदि तुझे सफलता नहीं मिल रही है तो उसका कारण तू अपने अन्दर ही खोज। तुझे अपने अन्दर या तो सत्य की या अहिंसा की कहीं-न-कहीं कमी नज़र आवेगी।

× × ×

यदि मैं सत्य का सच्चा ग्राहक हूँ और यदि सत्य का कुछ-न-कुछ अंश प्रत्येक में विद्यमान् है तो प्रत्येक वस्तु उस अंश तक मेरे अनुकूल क्यों न होगी?

× × ×

यदि मैं अपनी ओर से दूसरे के मन को भी पीड़ा न पहुँचने देने का ख़याल रखता हूँ तो दूसरा मुझे अपना शत्रु समझते हुए भी क्यों मेरी ओर न खिंचेगा?

× × ×

दोनों बातों में यदि मुझे विपरीत अनुभव होता हो तो जरूर मेरी सत्यनिष्ठा और अहिंसा में कसर है। सत्य-निष्ठा का फल क्रिया-सिद्धि और अहिंसा-प्रतिष्ठा का फल 'वैरत्याग' होना ही चाहिए।

× × ×

यदि मैं किसी कार्य या कर्त्तव्य में गफलत करता हूँ तो इसका अर्थ यह है कि मैंने उसे महत्त्वपूर्ण नहीं समझा है, या मैं आलसी हूँ।

× × ×

यदि किसी ने मेरी राय की परवा न की तो मुझे समझना चाहिए कि इनके नज़दीक मेरी राय का इतना ही मूल्य है। यदि

मैं चाहता हूँ कि वे उसका अधिक मूल्य आँकें तो मुझे उनके मूल्य की कसौटी समझ लेनी चाहिए।

× × ×

यदि मुझे खुद ही अपनी राय की परवा नहीं है, मेरे नज़दीक ही अपनी बात का मूल्य नहीं है तो मुझे दूसरों से ऐसी आशा क्यों करनी चाहिए ?

× × ×

यदि मैं बिना पूछे किसी को अपनी राय देता हूँ, यदि मना करने पर भी, उपेक्षित होने पर भी, मैं राय देता ही चला जाता हूँ तो इसके मानी यह है कि मैं खुद ही अपनी राय की वक़त नहीं करता हूँ। मूल्यवान् वस्तु को तो मनुष्य जतन के साथ संभाल कर रखता है और कंजूस की तरह ख़र्च करता है।

× × ×

प्रकृति के प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक रचना में, प्रत्येक वस्तु में उपयोगिता है, लाभ है। हानि को छोड़ना और लाभ को ग्रहण करना ईश्वर-दत्त बुद्धि का सदुपयोग करना है।

× × ×

जितने उच्च सिद्धान्त हैं उन सब की उच्चता का आधार है उनकी उपयोगिता, उनसे पहुँचने वाला लाभ। यदि ऐसा न हो तो उनका कोई अर्थ और मूल्य नहीं है।

सत्य के मानी हैं उच्च से उच्च, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ, पुण्य से पुण्य, स्थायी से स्थायी उपयोगिता, लाभ। यदि ऐसा न हो तो मैं सबसे पहले सत्य की निन्दा करूँगा।

× × ×

मित्रता करना हो तो दिल से करो। 'राजनैतिक मित्रता' करने वाले से ऐ मित्र सावधान रह !

× × ×

राजनैतिक मित्रता के मूल में सत्ता, मान, स्वार्थ, महत्वाकांक्षा इनमें से कोई भाव होता है। गुणाकर्षण से हुई मित्रता ही स्थायी और सुखदायी हो सकती है।

× × ×

बिना सिद्धान्त का जीवन बिना दीवार के मकान के सदृश है।

× × ×

सिद्धान्त-हीन से मित्रता करना अपने को ववण्डर में उड़ाना है।

× × ×

सिद्धान्तहीन दो तरह के होते हैं—एक मन की तरंगों पर चलने वाला और दूसरा सिद्धन्त-हीनता को उपयोगी एवं लाभकारी समझनेवाला। पहला हित चाहते हुए भी अहित कर बैठता है और दूसरा किसी का हित भी स्वार्थ-साधन के लिए ही करता है।

× × ×

अक्सर स्वार्थ-साधु ही सिद्धान्त-हीन होते हैं।

यदि तेरा मन अव्यवस्थित है, तो एक समय में एक ही काम करने की आदत डाल। बीच में कोई ज़रूरी और महत्वपूर्ण काम भी आ जाय तो बिना उस काम को छोड़े उसे पूर्ण करने का उद्योग कर।

× × ×

यदि मन में एक साथ कई विचार आते हों तो समझना चाहिए कि हम काम में तन्मय होना नहीं जानते। तन्मय न होने का अर्थ यह है कि हमें उस काम में दिलचस्पी नहीं है और दिलचस्पी इसलिए नहीं है कि हमने उसे न तो आवश्यक और न महत्वपूर्ण ही समझा है।

× × ×

हमें अपने को नापने का गज़ बड़ा और दूसरों को नापने का छोटा बनाना चाहिए। तब हम दोनों के साथ न्याय कर सकेंगे। यदि हम समान गज़ रक्खेंगे तो अपने साथ उदार और दूसरे के साथ कंजूस बनने की संभावना है। अपने लिए छोटा और दूसरे के लिए बड़ा गज़ रखना अपने को अहम्मन्य बनाना है और दूसरे के साथ अन्याय करने के मार्ग पर चलना है।

× × ×

जब मैं तेरी प्रशंसा करता हूँ तो तेरे गुणों से लाभ उठाना चाहता हूँ; जब तेरी निन्दा करता हूँ तो समाज को तेरे अवगुणों से बचाना चाहता हूँ।

यदि मैं सत्य का ज्ञानी हूँ, यदि मैं समाज-सुधारक हूँ तो मुझे अपनी निन्दा से क्यों नाराज़ होना चाहिए ? निन्दक को दबाने का क्यों यत्न करना चाहिए ?

× × ×

यदि मैं निन्दा नहीं सुन सकता हूँ तो या तो तारीफ़ सुनते-सुनते मेरी आदत बिगड़ गई है, या मैं अपने काम के लिए उता-वला हूँ, या उससे मेरे काम के बिगड़ जाने का अन्देशा है। तीनों अवस्थाओं में यदि हम निन्दा सुनने का यत्न करेंगे तो हमारा लाभ ही होगा।

× × ×

जबतक निन्दा होती रहती है तबतक अपने को सुरक्षित समझो। जब तारीफों का ज़ोर हो तब जागरूक रहो और आँखें खोल कर चलो।

× × ×

हमेशा ऊपर देखते रहोगे तो नीचे वालों को भूल जाओगे। लक्ष्य स्थिर करते समय ऊपर देखो; चलते समय आगे देखो; कार्य-क्रम बनाते समय चारों ओर देखो।

× × ×

यदि मैं दूसरे के किसी कार्य में कोई बुरी भावना, कोई स्वार्थ देखे बिना नहीं रह सकता, तो मुझे परमात्मा से अपनी हृदय-शुद्धि के लिए सच्चे दिल से प्रार्थना करनी चाहिए।

जब तुम से कोई सलाह लेने आवे तो उसके हित पर ध्यान रख कर ही उसे सलाह दो । अपनी किसी स्कीम या कार्यक्रम में उसका उपयोग कर लेने की दृष्टि से नहीं । वह अपने लिए आपसे सलाह लेने आया है, न कि तुम्हारे लिए ।

× × ×

हम किसी आदमी पर या तो विश्वास रक्खें, या अविश्वास; या तो उसे भला आदमी समझें या बुरा; कभी विश्वास रखना और कभी अविश्वास, कभी अच्छा समझना और कभी बुरा, यह दोनों के लिए ख़तरनाक है ।

× × ×

विश्वास रखकर मैं कभी-कभी मूर्ख कहलाना पसन्द करूँगा; किन्तु अविश्वास रखकर मैं सदा अशान्त, दुखी, चिन्तित रहकर अपनी हानि करना न चाहूँगा ।

× × ×

विश्वास रखने पर मेरी हानि की ज़िम्मेवारी दूसरे पर होगी; अविश्वास से होनेवाली हानि का ज़िम्मेवार मैं हूँगा ।

× × ×

विश्वास रखकर, बार-बार हानि उठाकर, मैं दूसरे की आत्मा को जाग्रत करूँगा; अविश्वास रखकर मैं अपनी आत्मा को मलिन करूँगा ।

विश्वास रखने के मानी अन्धा बन जाना नहीं है। अविश्वास करने योग्य स्थिति होने पर भी विश्वास रक्खोगे तो लाभ ही अधिक होगा। हो सकता है कि इसके लिए संसार तुम्हें कभी मूर्ख कह दे; परन्तु इसके लिए तुम्हें लज्जित न होना पड़ेगा।

× × ×

यदि तुम्हें अपनी प्रशंसा सुनने में रुचि और निन्दा सुनने में अरुचि है तो समझ लो अभी पतन होने का भय है।

× × ×

यदि मुझे किसी पर दुःख है तो मेरे हृदय से उसके लिए प्रार्थना निकलनी चाहिए; परन्तु यदि किसी को सजा देने को जी चाहता है तो समझ लो कि क्रोध आया है।

× × ×

यदि तू सत्य को अपना मार्ग-दर्शक बनावेगा, तो बहुतेरी समस्याओं और जंजालों से बच जायगा। तुझे तपना तो पड़ेगा, परन्तु तेरी गति को कोई रोक न सकेगा।

× × ×

मनुष्य की कीमत उसके आचरण से होती है, न कि दावों से। परन्तु किसी का आचरण उसके दावे से घटकर हो तो उसे फौरन ही ढोंगी, झूठा मत कह दो—तबतक जबतक कि यह विश्वास न हो जाय कि वह सचाई के साथ प्रयत्न भी नहीं कर रहा है। अपने स्वभाव को आदर्श या दूसरे के नापने का गज

मत समझो। अपने को तथा दूसरे को किसी और कसौटी पर कसो और फिर दोनों के बारे में राय क़ायम करो।

× × ×

वह कसौटी कोई ऐतिहासिक, पौराणिक या कल्पित आदर्श मनुष्य हो सकता है।

× × ×

सत्य किसी पर ऊपर से ठूँसा नहीं जा सकता। वह तो भीतर से जगाया जाता है। हमारा सत्य-व्यवहार उसका सबसे बड़ा साधन है।

× × ×

सत्य-शोधक एकांगी नहीं हो सकता। एक दल में बन्द नहीं हो सकता। संकीर्ण नहीं हो सकता। उसकी दृष्टि एकाग्र होगी, परन्तु सहानुभूति व्यापक होगी।

× × ×

जब हम दूसरे को समझने का प्रयत्न करें तो हमें उसके दावे से उसके व्यवहार की तुलना करनी चाहिए; किन्तु जब हम उस पर टीका करने लगें तो तनिक अपनी ओर भी नज़र डाल लेनी चाहिए। अन्यथा हमारी टीका निन्दा बन जायगी।

× × ×

दूसरे के प्रति तुम्हें उतना ही कठोर बनने का अधिकार है जितना अपने प्रति। यदि अपने प्रति अधिक कठोर बनने की प्रवृत्ति रखोगे तो न्याय की रक्षा अधिक कर सकोगे।

मुझे किसी बात का अधिकार है, इसके यह ज़रूरी मानी नहीं हैं कि लोग मेरे अधिकार-प्रयोग को भी सही मान लें।

× × ×

ज्यों-ज्यों तुम सत्य की ओर बढ़ते जाओगे त्यों-त्यों तुम्हें बाह्य साधनों की आवश्यकता कम प्रतीत होने लगेगी। तुम्हें दूर की बातें प्रत्यक्ष दीखने लगेंगी और तुम्हारे निश्चय में दृढ़ता आती चली जायगी।

× × ×

सहन करना एक गुण भी है और शस्त्र भी है। जब हम अपने सुधार के लिए सहन करते हैं तो वह एक गुण है और जब दूसरे के सुधार के लिए उसका प्रयोग करते हैं तब वह शस्त्र होता है।

× × ×

सहन करने से हमारा धीरज बढ़ता है और लोगों में हमारा पक्ष (Cause) प्रबल होता है। उचित बात के लिए हम जितना ही सहन करेंगे उतना ही लोकमत अधिक जाग्रत होगा।

× × ×

जो काम करो, अपना समझकर करो। उसमें तन्मय हो जाओ। सोचो कि इसे कैसे थोड़े समय, थोड़ी सामग्री से और भी अच्छी तरह कर सकते हैं, इससे न केवल तुम्हारी बुद्धि बढ़ेगी, बल्कि कला भी बढ़ेगी; काम उत्तम होगा और तुम्हारा यश बढ़ेगा।

बे-मन से काम करने—बेगार काटने—से तो काम न करना अच्छा है। इससे एक तो हमारी आदत ठीक रहेगी और दूसरा हमारे भरोसे रहकर अपना काम न बिगाड़ लेगा।

× × ×

दुश्मन भी हो तो कष्ट और आपत्ति के समय उसकी सेवा करो। यदि इतना न कर सको, तो कम-से-कम उस समय अपनी शत्रुता का बदला तो न निकालो। वीर कमज़ोर और दुःखी पर अपना हाथ नहीं उठाता।

× × ×

उच्च-हृदय मनुष्य के सामने हार में भी आनन्द आता है; परन्तु क्षुद्र के दिये मान से भी चित्त उलटा कुन्द हो जाता है।

× × ×

अव्वल तो किसी को कष्ट न पहुँचाओ। अनजान में अथवा मजबूरन पहुँच जाय तो दूसरी किसी बात में उसकी सेवा करके उसका परिमार्जन कर दो।

× × ×

जब किसी से मत-भेद हो जाय तो दूसरी बातों में उसकी विशेष सेवा करो जिससे एक तो वह यह न समझे कि मत-भेद के कारण यह मुझसे दूर हो गया है और दूसरे हमारे मन में भी पार्थक्य का भाव जमते-जमते अन्त को तिरस्कार की भावना न होने लगे।

अनुताप से बढ़कर हृदय-शोधन करनेवाली वस्तु नहीं। अनुतप्त मनुष्य को और दण्ड की आवश्यकता नहीं।

× × ×

एक सरकारी अफसर के सबूट चरणों पर एक बुढ़िया अपने बेटे को बचाने के लिए गिर पड़ी। उन्होंने मेरी ओर देखा। उनकी आँखों में गौरव था। मैं उनसे आँख न मिला सका। मेरी गर्दन झुक गई!

× × ×

जब मैं किसी छोटे और मामूली काम के लिए अपने किसी साथी से कहता हूँ तो वह मुझे इस कसौटी पर कसना चाहता है कि मैं खुद उसे क्यों न करूँ? जब खुद करने लगता हूँ तो सनकियों में गिनती होती है!!

× × ×

किसी मनुष्य का महत्व समझना हो तो उसे उसके दृष्टि-बिन्दु से देखो। जब सत्य का निर्णय करना हो अथवा उसका सदुपयोग करना हो तो अपने दृष्टि-बिन्दु से उसका मूल्य आँको।

× × ×

मनुष्य को उसके आवेश में किये गये कार्यों से जज मत करो। उस समय वह दूसरा ही मनुष्य होता है।

× × ×

स्वदेशी-धर्म स्वतन्त्रता-सिद्धान्त का अनिवार्य परिणाम है। स्वदेशी एक तो हमें उद्योगी और स्वावलम्बी बनाता है और दूसरे

अन्य देश वालों से कहता है कि तुम हमारे हमलों से निःशंक रहो।

× × ×

जब हमें अपने ही देश की वस्तुओं से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होगी तो हमें अवश्य उद्योगी बनना होगा। जब दूसरे देशों की चीज़ें न मंगावेंगे तो हमें अपने ही बल पर खड़ा होना होगा।

× × ×

समता के मानी आना-पाई और सेर-छटाँक की भाषा में समता नहीं; बल्कि अधिकारों की समता। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के मानवी अधिकार समान होने चाहिएँ। उनका उपभोग तो मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार ही कर सकता है।

× × ×

मनुष्य चूँकि प्रणाली का विधाता है; इसलिए केवल प्रणालियों के परिवर्तन से समाज का सुधार नहीं हो सकता। मनुष्य को मनुष्य के रूप में भी अधिक अच्छा और ऊँचा बनाने का यत्न करना चाहिए।

× × ×

प्रणालियाँ यद्यपि व्यक्ति और समाज के सुधार के ही लिए बनाई जाती हैं तथापि उनसे लाभ या हानि पहुँचाना व्यक्ति के ही बहुत-कुछ अधीन है। इसलिए व्यक्ति जितना ही ऊँचा और अच्छा होगा उतनी ही प्रणाली अच्छी होगी और उतना ही उनसे लाभ भी अधिक होगा।

मनुष्य पशु से भी गया-बीता कैसे हो जाता है—यह देखना हो तो क़ैदी बन कर किसी जेलख़ाने में देख लो।

× × ×

बड़े-बड़े कल-कारखानों से मजूरों का कितना हित होता है, यह देखना हो तो बम्बई के मजूरों के रहने का स्थान और उनका जीवन जाकर देख आओ। तुम्हारा दिल कह देगा कि गाँव में ये मनुष्य थे—यहाँ ये मनुष्यता की शर्म बन गये हैं!

× × ×

कवि निरंकुश है। कहते हैं, निरंकुशता उसका विशेषाधिकार है। वह सनातन से चला आया है। इसलिए उसे छीनना नहीं चाहिए। अच्छा साहब! तो फिर वह अपने कपड़े उतार कर फेंक देगा तो आपको रंज तो न होगा?

× × ×

निरंकुश वह सदाचार का भंग करने में नहीं है; काव्य और छन्दःशास्त्र सम्बन्धी नियमों के पालन में है। सदाचार की रक्षा समाज के प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोपरि धर्म है।

× × ×

'पर सदाचार तो सदा एक नहीं होता?'—ठीक है। तो जो सदाचार हानिकर हो गया हो उसे बदलवा दो; परन्तु निरंकुश बनने का अधिकार न लो।

'पर हम तो सत्याग्रही हैं !'—आपको बधाई है । किन्तु जब आप किसी सदाचार को बदलवाने के सब वैध उपायों का अवलम्बन करके असफल हो चुके होंगे तभी आपको सत्याग्रह करने का अधिकार है ।

× × ×

सदाचार आखिर क्या है ? समाज के लिए उपयोगी समझे जाने वाले नियम । यदि यह ठीक है तो फिर उनका ंग क्यों ?

× × ×

फिर कवि बनने के मानी यह तो नहीं है कि वह मनुष्य न रहा, सभ्य न रहा, सज्जन न रहा । कवि होने के मानी सिर्फ इतने हैं कि वह अपनी प्रतिभा के द्वारा समाज की सेवा करता है । उसकी प्रतिभा के विकास के लिए आवश्यक अनुकूलतायें उसे अवश्य मिलें—परन्तु वह सदाचार का भंग करने के लिए निरंकुश नहीं बन सकता ।

× × ×

जिस कवि में सचमुच प्रतिभा होगी वह तो अपने-आप समाज की धारा को बदल देगा । वह आपसे शिकायत करने नहीं आवेगा कि आपने निरंकुश नहीं होने दिया—इसलिए मेरी प्रतिभा रुक गई ।

× × ×

प्रेम और वैर छिपाये नहीं छिपते । प्रेम-कलह दोनों की आत्मा का परिशोधन करके मिलाता है । वैर-कलह दोनों को हिंसा-प्रतिहिंसा के कीचड़ में लपेटे रहता है ।

हिंसा का सम्बन्ध आत्मा से नहीं, शरीर और मन से है। किसी के शरीर और मन को कष्ट न देना ही अहिंसा है। आत्मा के गुणों को शरीर और मन पर लागू करना अज्ञान है।

× × ×

सामाजिक दृष्टि से कष्ट-सहन, त्याग और संयम क्या है? जो अपने कर्तव्य का यथावत् पालन नहीं करते हैं उनके बदले में अपने पर लिया हुआ अधिक कर्तव्य का बोझ।

× × ×

त्याग और संयम करने वाला तो व्यक्तिगत लाभ की ही दृष्टि से करे; परन्तु अन्य लोगों को चाहिए कि वे इसे सामाजिक दृष्टि से देखें।

× × ×

समाज में प्रत्येक मनुष्य को अपने ज़िम्मे का काम करके अधिक काम करने की तैयारी रखनी चाहिए। तब जाकर सब कार्य समुचित रूप से हो सकता है। ऐसा न करने से ही अधिक समझदार और जिम्मेवार लोगों को अपने पर अधिक बोझा लेना पड़ता है।

× × ×

जब मैं दूसरों की बात मान लेता हूँ तो 'नरम' और 'ढीला' कहलाता हूँ। जब अपनी बात पर अड़ा रहता हूँ तो 'स्वेच्छाचारी' और 'अभिमानी' की पदवी मिलने लगती है !!

× × ×

दुनिया की निन्दा-स्तुति के भरोसे चलने वाले की मौत है। अपने हृदय पर हाथ रख कर चल !

तू स्वयं अपना आलोचक, निन्दक, और चौकीदार बन ।

× × ×

एक मित्र ने अपनी तारीफ-सी करते हुए, कुछ गौरव अनुभव करते हुए कहा—'अपन तो जहाँ कहीं रहे हैं लड़ते ही रहे हैं। तंग करना ही अपना काम है।' मैंने मन में कहा—'स्वभावो हि दुरतिक्रमः।' इसमें यदि मिथ्याभिमान नहीं, तो शिक्षाग्रहण करने की रुचि का अभाव अवश्य है।

× × ×

निरुत्तर करना या उपहास करना मनुष्य को समझाने का उपाय नहीं है। निरुत्तर करके हम उसे कम से कम आत्म-निरीक्षण में तो लगा सकते हैं; परन्तु उपहास करके हम सिर्फ उसे नीचा दिखा सकते हैं और अपने से दूर धकेल सकते हैं।

× × ×

सत्य एक हक़ीक़त है, जिसे अनुभव करना है, अहिंसा एक वृत्ति है जिसका विकास करना है। सत्य जगत् में सर्वत्र व्याप्त तथ्य का नाम है और अहिंसा जगत् के प्रति अपने सम्बन्ध या व्यवहार का सर्वोच्च नियम है।

× × ×

प्रार्थना अन्तःकरण का स्नान है। स्फूर्ति, पवित्रता, बल उसका फल है।

× × ×

प्रार्थना का अर्थ है उच्च नियमों, सद्गुणों, उच्च आदर्शों का स्मरण।

ईश्वर-प्रार्थना का अर्थ है—जगन्नियन्ता से अपने विकास की चाहना। अपनी कमियों की पूर्ति की याचना। हम अनुभव करते हैं कि हमारे अंदर कई दुर्बलतायें हैं, कमियाँ हैं। हम अनुभव करते हैं कि उनकी पूर्ति सर्वथा हमारे बस की बात नहीं है। कहीं न कहीं से उनकी पूर्ति होती हुई हम देखते हैं। उसी अदृश्य शक्ति का नाम ईश्वर है।

× × ×

आस्तिक होने के मानी यह हैं—

(१) यह मानना कि मनुष्य से भी बढ़कर कोई शक्ति या नियम संसार में है और उसी के बल पर संसार-चक्र चल रहा है।

(२) यह विश्वास करना कि कर्म का फल मनुष्य को अवश्य मिलता है।

(३) यह श्रद्धा रखना कि यद्यपि आज मैं पतित हो गया हूँ तथापि कभी न कभी मेरा उद्धार अवश्य होगा।

× × ×

सत्य जीवन में अनुभव करने की वस्तु है; बुद्धि से समझने की नहीं। बुद्धि की जिज्ञासा ने बड़े-बड़े दर्शन-शास्त्रों को जन्म दिया है—फिर भी वे सत्य का अनुभव कराने में समर्थ नहीं हुए हैं।

सत्य एक है तो फिर उसके प्रतिपादकों में इतनी मत-भिन्नता क्यों ? इसका उत्तर यह है कि सत्य का जितना और जैसा अनुभव उन्होंने किया वैसा और उतना उन्होंने वाणी के द्वारा प्रकट करने का यत्न किया है। वाणी में इतनी शक्ति नहीं है कि वह सब अनुभव को प्रदर्शित कर सके । इस कारण—अनुभव और सामर्थ्य की भिन्नता—ने इस मत-भेद को जन्म दिया है।

× × ×

यह नहीं कह सकते कि ज्ञान का अन्त आ चुका, सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि अब तक के ज्ञान का निचोड़ यह है।

× × ×

ज्ञान की व्यापकता में हम जितना ही पड़ेंगे उतना ही मत-भेद दीख पड़ेगा—उसके मूलाग्र की ओर जावेंगे तो एक बिन्दु पर पहुँच जायगे ।

× × ×

व्यापकता और विस्तार में अशान्ति, मूलाग्र में शान्ति मिलेगी।

× × ×

यदि किसी भौतिक वस्तु की चाह मुझे नहीं है तो मुझे अनुचित रूप से किसी के सामने दबने की क्या आवश्यकता है ?

× × ×

सत्य-शोधक पराजय और असफलता से हतोत्साह नहीं होता। वह उनके मूल को शोधता है और उसे अपने अन्दर पा लेने पर

दूने उत्साह से उसे दूर करने का यत्न करता है। उसे तभी तक अशान्ति रहती है जब तक वह उसे दिखाई नहीं दिया है।

× × ×

किसी काम के श्रेय पाने की अभिलाषा के मानी हैं अपने व्यक्तित्व को मान्य कराने की इच्छा ही नहीं, बल्कि उसमें रस भी।

× × ×

जबतक इस रस पर हमारी निगाह है तबतक एक तो दूसरी त्रुटियों की ओर से हम उदासीन रहेंगे और दूसरे उस काम में भी हमारा उत्साह तब रहेगा जब उसका श्रेय मिलता रहेगा।

× × ×

यदि मुझे अपने कार्य को सफल बनाने की चिन्ता है तो मुझे अपनी त्रुटियों की ओर से गाफ़िल न रहना चाहिए।

× × ×

शत्रु के सौंपे काम से बचने के लिए कहीं मैं अपने प्रति तो बेईमान नहीं हो रहा हूँ ?

× × ×

आचरण की सुसंगति के मानी यह नहीं है कि मनुष्य वैसे ही काम बारबार करता रहे; बल्कि यह है कि वह अपने निश्चित पथ से इधर-उधर न भटक जाय।

× × ×

परिवर्तन का नाम अ-संगति नहीं है। परिवर्तन यदि मुझे अपने लक्ष्य की ओर न ले जाता हो तो असंगति हो सकती है।

असंगति का अर्थ है कभी इस रास्ते और कभी उस रास्ते जाना।

× × ×

अ-परिवर्तन के मानी हैं अचलायतन। अचलायतन के मानी हैं बुद्धि-हीनता और जीवन-शून्यता।

× × ×

चित्तवृत्ति को सदा आनन्दित रखना एक बात है; और जीवन आमोद-प्रमोद में बिताना दूसरी बात है।

× × ×

आमोद-प्रमोद जीवन के आरम्भ का उफान है।

× × ×

सहानुभूति और उपेक्षा छिपी नहीं रह सकती। बाहर से उदासीन रहने पर भी सहानुभूति भीतर से जीवन-रस भेजती रहती है; और उपेक्षा उस रस के सोते को सुखा देती है। इसकी क्रिया चाहे दिखाई न दे; पर फल से उनकी प्रतीति अवश्य हो जाती है।

× × ×

यदि तुम किसी की बात शान्ति और धीरज के साथ सुन लोगे तो उसका आधा दुःख दूर हो जायगा। यदि सहानुभूति के साथ सुनोगे तो उसका तुम्हारे पास आना निरर्थक न होगा।

× × ×

सहानुभूति का अर्थ है उसके दुःख को अपना दुःख समझने लगना। यदि सहानुभूति है तो फिर यह असम्भव है कि मैं उसके दुःख को दूर करने का कुछ भी प्रयत्न न करूँ।

मनुष्य को देखकर व्यवहार कर । सबको एक लाठी से मत हाँक ।

× × ×

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि सच्चे के साथ सच्चाई का, दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार किया जाय । बल्कि यह है कि सदाचार और सत्याचार भी सामने वाले की मनोवृत्ति और संस्कृति देखकर किया जाय ।

× × ×

अपने गुणों के बल पर मान चाहना एक बात है और हठ-बल पर चाहना दूसरी बात है । गुण यदि है तो लोग उसे मानेंगे ही । हठ-बल पर यदि मान मिला भी तो देने वाले की वह दया है ।

× × ×

दया करना ऊँचा उठना है; परन्तु दया-पात्र बनना अपने तेज को कम करना है ।

× × ×

यदि मुझ में ज़रा भी कृतज्ञता है तो मैं उपकारकर्त्ता के प्रति विनम्र रहूँगा । कम से कम उसका अपमान तो नहीं करूँगा ।

× × ×

विरोध और अपमान एक चीज़ नहीं है । विरोध बुरे कार्य और बुरे विचार का होता है; परन्तु अपमान तो सारे व्यक्ति का होता है ।

अपमान करने के मानी यह है कि तू तुच्छ है और मैं बड़ा हूँ–मैं तुझे कोई चीज़ नहीं समझता।

× × ×

मनुष्यता के कानून में अपमान करना मना है। विरोध, संग्राम, प्रहार तो उसमें जायज है; किन्तु अपमान नहीं। विरोध, संग्राम, प्रहार करने से हमारा पुरुषार्थ, पराक्रम, तेज सूचित होता है, किंतु अपमान करने से हमारे हृदय की क्षुद्रता।

× × ×

सच्चा मित्र वह है जो मेरे शारीरिक और मानसिक दुःखों की चाहे उपेक्षा कर जाय परन्तु मेरी आत्मा के पतन को सहन न करे।

× × ×

मेरे खिलाफ़ तू षड्यन्त्र क्यों रचता है? मेरे पास अपना तो कुछ है नहीं; और यदि तुझ में सच्चाई और योग्यता है तो फिर षड्यन्त्रों की क्या आवश्यकता?

× × ×

तू अपने गुणों पर भरोसा रख; मेरी कमज़ोरियों पर नहीं। तेरे गुण सदा रहेंगे; मेरी कमज़ोरियाँ सदा रहने वाली नहीं हैं।

× × ×

यदि तुझे बदनाम करने की धमकी दी जाय तो तू अपने अन्तःकरण पर हाथ रख। जितनी सचाई तुझ में होगी उतनी ही

निर्भय धड़कनें उसमें दिखाई देंगी। यदि तू सच्चा है तो कह दे—पहले बदनामी कर आओ, फिर मैं तुम से बातें करूँगा।

× × ×

प्रेम भी यदि धमकी ले कर तेरे सामने आवे तो उसे बैरंग वापिस कर दे। धौंस सहने से बरबाद हो जाना अच्छा है। धौंस सहना रोज़-रोज़ बरबाद होने का निमन्त्रण देना है।

× × ×

यदि मैं मूर्ख हूँ, तो मेरा उपहास करके तू दुष्टता का परिचय क्यों देता है?

× × ×

उपहास करना दूसरे की हानि पर अपना मनोविनोद करना है।

× × ×

जिस में तुझ अकेले का ही लाभ है उसे एकाएक अच्छाई समझने की भूल न कर।

× × ×

यदि तुझे कोई बीमारी है, यदि तुझ में कोई ऐब है, तो उस को दूर करते समय होने वाला दुःख तुझे ही भोगना पड़ेगा। मेरे दिल में उस समय कितनी ही हमदर्दी हो, उससे मैं चाहे मर भी जाऊँ तो भी उतना दुःख तो तुझे ही भोगना पड़ेगा। तू उसके लिए सदा तैयार रह।

× × ×

और जब कि दुःख भोगे बिना छुटकारा ही नहीं है तो फिर क्यों दूसरे की दया का भिखारी बनता है?

अपमान करने के मानी यह है कि तू तुच्छ है और मैं बड़ा हूँ–मैं तुझे कोई चीज़ नहीं समझता।

× × ×

मनुष्यता के कानून में अपमान करना मना है। विरोध, संग्राम, प्रहार तो उसमें जायज़ है; किन्तु अपमान नहीं। विरोध, संग्राम, प्रहार करने से हमारा पुरुषार्थ, पराक्रम, तेज सूचित होता है, किंतु अपमान करने से हमारे हृदय की क्षुद्रता।

× × ×

सच्चा मित्र वह है जो मेरे शारीरिक और मानसिक दुःखों की चाहे उपेक्षा कर जाय परन्तु मेरी आत्मा के पतन को सहन न करे।

× × ×

मेरे ख़िलाफ़ तू षड्यन्त्र क्यों रचता है? मेरे पास अपना तो कुछ है नहीं; और यदि तुझ में सच्चाई और योग्यता है तो फिर षड्यन्त्रों की क्या आवश्यकता?

× × ×

तू अपने गुणों पर भरोसा रख; मेरी कमज़ोरियों पर नहीं। तेरे गुण सदा रहेंगे; मेरी कमज़ोरियाँ सदा रहने वाली नहीं हैं।

× × ×

यदि तुझे बदनाम करने की धमकी दी जाय तो तू अपने अन्तःकरण पर हाथ रख। जितनी सचाई तुझ में होगी उतनी ही

निर्भय धड़कनें उसमें दिखाई देंगी। यदि तू सच्चा है तो कह दे—पहले बदनामी कर आओ, फिर मैं तुम से बातें करूँगा।

× × ×

प्रेम भी यदि धमकी ले कर तेरे सामने आवे तो उसे बैरंग वापिस कर दे। धौंस सहने से बरबाद हो जाना अच्छा है। धौंस सहना रोज़-रोज़ बरबाद होने का निमन्त्रण देना है।

× × ×

यदि मैं मूर्ख हूँ, तो मेरा उपहास करके तू दुष्टता का परिचय क्यों देता है?

× × ×

उपहास करना दूसरे की हानि पर अपना मनोविनोद करना है।

× × ×

जिस में तुझ अकेले का ही लाभ है उसे एकाएक अच्छाई समझने की भूल न कर।

× × ×

यदि तुझे कोई बीमारी है, यदि तुझ में कोई ऐब है, तो उस को दूर करते समय होने वाला दुःख तुझे ही भोगना पड़ेगा। मेरे दिल में उस समय कितनी ही हमदर्दी हो, उससे मैं चाहे मर भी जाऊँ तो भी उतना दुःख तो तुझे ही भोगना पड़ेगा। तू उसके लिए सदा तैयार रह।

× × ×

और जब कि दुःख भोगे बिना छुटकारा ही नहीं है तो फिर क्यों दूसरे की दया का भिखारी बनता है?

जब मैं दुनियावी महत्वाकांक्षाओं में लिप्त रहता हूँ तब मुझ में वह मस्ती रहती है जो कि अभिनय करते समय किसी नट में रहती है; परन्तु जब मैं उनके प्रभाव से अपने को हटाकर उन्हें देखता हूँ तो मुझे वह आनन्द आता है जो किसी नाटक के अभिनय को देखते हुए प्रेक्षक को होता है।

× × ×

जब मैं उनमें लिप्त रहता हूँ तो हर्ष-शोक, आशा-निराशा, चिन्ता-भय के धक्कों से जर्जर हो जाता हूँ, जब उनसे अपने को अलग कर लेता हूँ तो मस्त होकर गाता हूँ—
"भवसागर सब सूख गया है फिकर नहीं मुझे तरनन की।"

× × ×

ओ हो—निरपेक्षता और निराशा सचमुच ईश्वरी वरदान है। इनमें कितनी निश्चिन्तता, कितनी शान्ति, कितना बल, कितनी स्थिरता, कितनी अडग कार्यशक्ति भरी हुई है!

× × ×

जबतक आशा और अपेक्षा तेरे हृदय पर अधिकार किये हुए हैं तबतक दुःख तेरे भाग्य में से मिट नहीं सकता। अपमान और तेजोभंग मुझे जगह-जगह तैयार मिलेंगे।

× × ×

तू जगत् में इस आशा और अपेक्षा से प्रवेश मत कर कि मेरी जगह-जगह चाह होगी, लोग मुझे मानेंगे और पूजेंगे, चारों ओर

मुझे सहायता और सहयोग मिलेगा; बल्कि इसके विपरीत हृदय को इस बात के लिए तैयार करके इस यात्रा में क़दम बढ़ा कि यहाँ विरोध, कठिनाई, कष्ट-सहन, कटूक्ति, निन्दा मिलेगी।

× × ×

परन्तु यदि तू सच्चा है, धुन का पक्का है, और जगत् के हित में ही तू ने अपना जीवन लगा दिया है तो ये विघ्न, कठिनाइयाँ, आदि अधिक समय न ठहर सकेंगे; तेरे सत्कर्मों का सुफल तो अवश्य ही मिलेगा; परन्तु यदि तू परिणाम पर दृष्टि रखने लगेगा तो जंजालों में फँसता जायगा और संभव है कि अन्त में निराशा में तेरा दुखदायी अन्त हो।

× × ×

किन्तु यदि एक बार परिणाम सोचकर कार्यारंभ कर दिया है तो फिर तू अपने कर्त्तव्य-पालन में ही निमग्न रह। तीर की तरह सीधा चला जा और पहाड़ की तरह कठिनाइयों और जगत् की भर्त्सनाओं के सामने अड़ा रह।

× × ×

इतने हलके दिल से संसार में प्रवेश करने वाले ऐ मेरे लाडले युवक!—आगे चलकर तुझे जो कड़वी घूटें यहाँ पीनी पड़ेंगी, उनका विचार करके मुझे रहम आने लगता है। परमात्मा तेरी रक्षा करें—संसार की अग्नि-परीक्षाओं में से तुझे उत्तीर्ण होने का बल दें।

यदि तेरे जीवन का कोई आदर्श नहीं है, कोई सिद्धान्त नहीं है, कोई महत्वाकांक्षा नहीं है, तो सम्भव है कि तू संसार की कड़ी परीक्षाओं से बच जाय; किन्तु याद रख तू उसकी प्रताड़नाओं से किसी प्रकार नहीं बच सकता।

× × ×

मैं बहुत बहस करता हूँ, हृदय के पूरे बल से दलीलें देता हूँ, इस तरह जोश से बोलता हूँ मानों न बोलने से दुनिया डूबी जाती है, या मेरा घर जला जाता है, या मेरा बच्चा मरा जाता है-फिर भी अन्त में मेरे सुनने वाले, या मुझसे बहस करने वाले इस भाव से चुप होने लगते हैं कि इससे कौन उलझे, तो बताओ मैंने क्या कमाई की ?

× × ×

कभी-कभी अहंकार भी बहुत नम्र बन जाता है; किन्तु वह क्रोध में, दूसरे को नीचा दिखाने के लिए। इस नम्रता से चित्त को शान्ति नहीं मिलती, न दूसरे का ही समाधान होता है उलटा अपने दिल में दिन-रात होली जलती रहती है।

× × ×

मैं किसी आदमी के पास तीन उद्देश से जाता हूँ—या तो उसकी सहायता करने या उससे सहायता लेने, या उससे कुछ सीखने। यदि उसकी सहायता करने गया हूँ तो मेरी सहायता ऐसी न होनी चाहिए कि उलटा उसका बोझ बढ़ जाय,

[यदि उससे सहायता लेने गया हूँ तो उसके सिर पर चढ़ कर, उसका बाप बनकर, मैं उससे सहायता नहीं ले सकता, यदि सीखने के लिए गया हूँ तो सुनूँ और विचारूँ अधिक; खण्डन-मण्डन कम से कम करूँ।

× × ×

किन्तु कई बार होता क्या है कि मैं जाता तो हूँ सीखने; परन्तु सिखाने लगता हूँ!!

× × ×

यदि मैं सिद्धान्तों पर ही अड़ता रहूँ तो मेरी तेजस्विता, बढ़ेगी; यदि अड़ना ही मैंने अपनी आदत बना ली तो उपेक्षा, अनादर मुझे पुरस्कार में मिलता रहेगा।

× × ×

यदि सिद्धान्त मेरे सामने स्पष्ट नहीं हैं, यदि सिद्धान्तों में मैं चञ्चल हूँ, तो मैं किसी भी संस्था, संगठन, या दल का संचालक नहीं बन सकता। मेरे साथी मुझ से ऊब जायँगे।

× × ×

यदि अपने किसी रिश्तेदार की बुरी बात का मैं विरोध नहीं करता हूँ तो या तो मैं उनका हितैषी नहीं हूँ, या डरपोक हूँ।

× × ×

प्रसिद्धि, आदर, को अपनी सेवाओं का अच्छा पुरस्कार मान-कर, ऐ मित्र, तू सेवा की क़ीमत इतनी कम क्यों करना चाहता है?

सेवा का सब से बढ़िया पुरस्कार है आत्म-सन्तुष्टि। उससे घट कर पुरस्कार है उस सेवा में प्रकृत सहायता, सच्चा सहयोग।

× × ×

प्रेम उत्सुक होता है; ज्ञान विरक्त।

× × ×

प्रेमी के लिए रस है, आनंद है। ज्ञानी के लिए मनोरंजन है, खेल है।

× × ×

प्रेम डूबता रहता है; ज्ञान तैरता रहता है।

× × ×

इङ्गलैण्ड और भारत दोनों को पीड़ा है, इङ्गलैण्ड का फोड़ा पक रहा है और भारत का नव जन्म हो रहा है।

× × ×

सिद्धान्त सड़क है, और व्यक्ति उस पर चलने वाला। मेरे लिए सिद्धान्त इस कारण बड़ा है कि मेरे जाने का पथ वही है। व्यक्ति इसलिए बड़ा है कि उसीने मुझे यह पथ दिखाया है और वही आज भी मेरा हाथ पकड़ कर उस पर ले जा रहा है।

× × ×

ईश्वर इसलिए बड़ा है कि व्यक्ति को अपनी सत्ता मर्यादित मालूम होती है; व्यक्ति इसलिए बड़ा है कि उसने ईश्वर को पहचाना है।

× × ×

व्यक्ति इसलिए बड़ा है कि उससे समाज बना है और समाज इसलिए बड़ा है कि वह व्यक्ति को ऊँचा उठने में सहायता देता है।

हीरा इसलिए बड़ा है कि उसका मूल्य अधिक है; जौहरी इसलिए बड़ा है कि वह हीरे को पहचानता है।

× × ×

यदि हम नीयत पर विश्वास रख सकें तो ग़लतफ़हमियाँ बहुत कम हों; यदि हों भी तो अधिक समय तक न टिकें।

× × ×

दुर्भाव की शंका से उत्पन्न हुई ग़लतफ़हमी तब मिट सकती है, जब या तो आप दूसरे की उस कसौटी पर सौटंच के साबित होइए, जो उसने आपकी भाव-शुद्धि के लिए बना रक्खी है; या चुपचाप उसका हित-साधन करते चले जाइए। कुछ समय के बाद वह अपना भ्रम समझ लेगा।

× × ×

यदि तुझे जल्दी है तो पहला मार्ग अंगीकार कर; यदि आज ही इसके लिए तैयार नहीं है तो दूसरा रास्ता ग्रहण कर।

× × ×

यदि तू इस बात से खुश है कि मैं तेरे बल, योग्यता और गुणों की बड़ाई और मान लोगों में करता रहूँ तो यह बिल्कुल आसान है; परन्तु क्या प्रेम का मतालबा यही होता है? क्या साथीपन की यही चाह है?

× × ×

यदि मैं तेरा सच्चा शुभैषी हूँ तो मुझे उचित है कि मैं तुझे इन प्रलोभनों से बचाऊँ।

"तो फिर तुम अपने को इस स्थिति में क्यों डाले हुए हो ?"

× × ×

प्यारे, चाहना एक बात है और मिलना दूसरी बात है। सांसारिक वैभव—मानादर—जो चाहता है, उससे दूर जाता है और जो नहीं चाहता उसके पीछे-पीछे फिरता रहता है।

× × ×

मुझे तेरा प्रेम खोकर मान्यता प्राप्त करने में सुख और स्वाद नहीं है। यह घाटे का व्यापार मैं हरगिज़ न करूँगा।

× × ×

हाँ, मैं व्यापारी हूँ—सद्गुणों का, सज्जनों का। इन्हें मैं बड़ी से बड़ी क़ीमत देकर भी ख़रीदता हूँ और जतन से अपने ख़ज़ाने में रखता हूँ।

× × ×

लेकिन मेरे यहाँ बिक्री नहीं होती है। उधार देने का रिवाज तो रक्खा है।

× × ×

कुछ मित्र कहते हैं, राजस्थान में कोई नेता नहीं है। मेरा अनुभव यह ह कि यहाँ नेता ही बहुत हैं।

× × ×

यदि उनका कहना सही है तो फिर कहना होगा कि उन्हें नेता की चाह नहीं है। जहाँ चाह होती है वहाँ वह चीज़ कहीं न कहीं से आ जाती है।

जब परस्पर-विरोधी कर्तव्य, परस्पर-विरोधी स्नेह, परस्पर-विरोधी हिताहित की समस्यायें तुझे असमंजस में, दुविधा में या चिन्ता में डालती हों तब सत्य के बराबर तेरा अचूक और सुगम पथदर्शक नहीं है। तू दृढ़ता से सत्य को पकड़ रख; बौछारों, कठिनाइयों, स्नेह-भंग आदि से मत डर। तुझे न केवल मार्ग सूझेगा, बल्कि शान्ति भी मिलेगी और स्नेह-भंग भी अधिक समय तक न ठहर सकेगा।

× × ×

जब मैं स्नेह, मोह, लाभ से प्रभावित होता हूँ तो जिधर जाता हूँ उधर से काँटे चुभने लगते हैं। जब सत्य की शरण जाता हूँ तो या तो काँटे चुभने बन्द हो जाते हैं, या उन्हें हँसते-हँसते सहने का बल मिलने लगता है।

× × ×

यदि तुझे राजनीति और समाज-नीति में शुद्धता लानी है तो तू राजनीति और समाज-कार्यों से हट कर यह कैसे कर सकता है?

× × ×

लोग तेरे दावे के अनुसार तुझे कड़ी कसौटी पर कसेंगे। बड़े-बड़े दावे करते समय तो तुझे बड़ा आनन्द आता था, बहुत उत्साह होता था, पर जब तू परीक्षा के लिए आग में तपाया जाता है, तब क्यों कराहने लगता है?

जिस बुराई को हम अपने लिए क्षम्य समझते हैं, या स्वाभाविक मानते हैं, या जिसकी हम अपने जीवन में उपेक्षा कर जाते हैं, उसके लिए दूसरे को कोसना असहिष्णुता है।

× × ×

असहिष्णुता की जड़ में अन्याय और द्वेष की प्रवृत्ति होती है। अन्याय और द्वेष को अपने अन्दर दबाये रखकर ऐ देश-सेवक, तू किस तरह लोक-प्रिय और सफल बनने की अभिलाषा रखता है।

× × ×

दूसरे को सुधारने की, दूसरे को ठीक करने की इच्छा रखने वाले ऐ मित्र, तू अपनी ओर नज़र डाल। अपने घर में अभी तेरे लिए बहुत काम है।

× × ×

अँधेरे में काम करनेवाले ऐ मित्र, तुझे चोर कहते हुए मेरी आत्मा को बड़ा क्लेश होता है। एक खुले विरोधी के रूप में तेरी बहादुरी की पूजा करते हुए मैं अपने को गौरवान्वित समझूँगा।

× × ×

मैं बहादुरी का शैदा हूँ—इसमें मैं शत्रु-मित्र का भेद नहीं करना चाहता।

× × ×

अँधेरे में काम करके तू बुद्धिमान् कहा जा सके; पर बहादुर नहीं।

जब मन शंका करने लगता है तो ओफ़्! कैसी-कैसी बातें वह सोचने लगता है; परन्तु जब विवेक जाग्रत होता है तो मालूम होता है कि मन पागल हो रहा था।

× × ×

तुम किताबों को नहीं, मनुष्यों को पढ़ो। दूसरों के साथ-साथ अपने को भी पढ़ो।

× × ×

जब तुम अपने को पढ़ने लगोगे तो देखोगे कि कैसी-कैसी विस्मयजनक बातें सामने आती हैं। यदि तुम अपने मन के हर-एक भाव पर ध्यान रक्खोगे, उसको जाँचते रहोगे, तो तुम्हें अपने सुख-दुःख, हर्ष-शोक, सफलता-विफलता, मैत्री-वैर का कारण ढूँढने के लिए दूर न जाना होगा, न अलहदा प्रयत्न करना होगा।

× × ×

यदि तूने दुर्भाव से कोई काम किया है तो फिर उसका बाहरी रूप कितना ही निर्दोष हो, उसका दुष्परिणाम तुझे और जगत् को अवश्य भोगना पड़ेगा।

× × ×

जब तू अपने अन्दर ग़ोता लगाकर जगत् की सेवा करेगा तो देखेगा कि तेरी सेवा अधिक निर्दोष है।

× × ×

प्रसिद्धि सज्जनता की कोई जरूरी शर्त नहीं है। प्रसिद्धि तो कार्य और जीवन के स्वरूप पर अवलंबित है।

सज्जनता प्रसिद्धि के विषय में उदासीन रहती है। यदि तुझे सज्जनता प्रिय है तो दूसरों की प्रसिद्धि पर मोहित या दुखी न हो।

× × ×

यदि तुझे प्रसिद्धि की ही चाह है तो फिर तुझे सज्जनता की शर्तों को तोड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए परन्तु यदि तू दूरदर्शी है, बड़ा व्यापारी है, तो तुरन्त देख लेगा कि यह प्रसिद्धि, यदि मिली भी, तो बहुत मँहगी पड़ेगी।

× × ×

तू मेरी ईर्ष्या क्यों करता है? तू मुझ से क्या चाहता है? कोई कीमती भौतिक वस्तु तो मेरे पास है नहीं? और यदि कुछ हो तो उसमें मैं लिप्त नहीं हूँ।

क्या अब भी तुझे संतोष नहीं है?

× × ×

तू मुझसे क्यों शंकित रहता है? मैं तो शत्रु से भी प्रेम करने का अभ्यास करना चाहता हूँ। तू शंकाशील रहकर अपनी आत्मा का विनाश क्यों कर रहा है?

× × ×

यदि मेरा मित्र या रिश्तेदार मेरी बुराई करता है तो मुझे दुःख क्यों होना चाहिए? यदि वह बुराई मिथ्या है तो मुझे उस मित्र या रिश्तेदार के लिए ईश्वर से प्रार्थना करना चाहिए। यदि वह सच्ची है तो अपने लिए।

परन्तु मुझे दुःख इसलिए होता है कि मुझे यह डर हो जाता है कि दुनिया की दृष्टि में मैं गिर जाऊँगा। यदि तू सत्य का प्रेमी है तो यह क्यों नहीं मानता कि इससे मेरा और जगत् का लाभ होगा?

मेरा लाभ तो यह कि मैं आत्म-निरीक्षण में प्रवृत्त होता रहूँगा और जगत् का लाभ यह कि वह मेरी बुराई से बचने के लिए सावधान रहने लगेगा।

× × ×

इस कारण ऐसी निन्दा करनेवाले पुरुष को दोनों ओर से धन्यवाद मिलने चाहिए; किन्तु जगत् की उल्टी रीति देखिए कि उसे 'निन्दक' कहकर दुरदुराते हैं!

× × ×

एक समय था जब मैं खिल रहा था, मेरी महक फैल रही थी। तू सुगन्ध लेने आता था। अब मैं मुरझाने लगा हूँ। तुझे मुझसे विराग होना स्वाभाविक है।

× × ×

यदि तेरी आत्मा निर्भय है तो तुझे तलवार बाँधने की क्या ज़रूरत है? और यदि तू ने मृत्यु के भय को जीत लिया तो फिर संसार में कोई भय तुझे परास्त नहीं कर सकता।

और जब मृत्यु एक दिन निश्चित ही है तो फिर उसका डर ही क्यों रक्खा जाय? विश्वास रख कि मृत्यु के समय होने वाली पीड़ा तुझे संसार में मिलनेवाले कष्टों के पासंग में भी नहीं है।

× × ×

यदि तूने स्वार्थ को अपने हृदय में से निकाल डाला है तो फिर तुझे संसार में किसी से डरना और दबना न पड़ेगा।

× × ×

यदि तेरा मन भीतर से भयभीत रहा और ऊपर से तूने शस्त्रास्त्र बाँध रक्खे तो वे तेरी कितनी सहायता कर सकेंगे?

× × ×

जो बात तू व्यक्तिगत जीवन में बुरी समझता है, उसे तू सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में कैसे जायज़ समझ सकता है?

× × ×

कुछ लोग कहते हैं कि हम अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए तो झूठ बोलना या किसी की हत्या करना पसंद न करेंगे; परन्तु राष्ट्रीय हित के लिए ऐसा करना पड़े तो हम उसे अनुचित नहीं समझते। मैं पूछता हूँ आप इन्हें व्यक्तिगत जीवन में बुरा क्यों समझते हैं?

× × ×

इसीलिए न कि इनसे हमारा पतन होगा। तो फिर सामाजिक और राष्ट्रीय हित में इनका अवलम्बन करते हुए क्या आपका पतन न होगा?

असली बात यह है कि आपने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन में भेद मान रक्खा है। राष्ट्रीय या सामाजिक जीवन का अर्थ क्या है? व्यक्तिगत जीवन का विकास ही न?

× × ×

जब तक मेरा स्वार्थ मेरे शरीर और मन तक सीमित है तब तक मेरा जीवन व्यक्तिगत है; पर जब मेरा स्वार्थ मेरे शरीर और मन की सीमा को पार करके समाज या राष्ट्र में फैल जाता है तब वह राष्ट्रीय जीवन कहलाता है। अर्थात् वह मेरा व्यापक व्यक्तिगत स्वार्थ है। तो फिर उसके लिए मैं झूठ और हिंसा का आश्रय कैसे ले सकता हूँ?

× × ×

यदि लेता हूँ तो इसके साफ मानी यह हैं कि मैंने राष्ट्रीय हित को उतनी पवित्र वस्तु नहीं समझा है, राष्ट्रीय जीवन को शुद्ध रखने की मुझे उतनी चिन्ता नहीं है जितनी व्यक्तिगत जीवन को शुद्ध रखने की है।

× × ×

यदि इन दोनों जीवनों का भेद मिटा सके तो तुरन्त देख लेगा कि क्या व्यक्तिगत और क्या राष्ट्रीय दोनों जीवन के नियमों में अन्तर हो ही नहीं सकता।

× × ×

हाँ, दोनों जीवनों की प्रगति की गति में अन्तर हो सकता है। व्यक्तिगत जीवन की गति तीव्र और सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की मन्द हो सकती है।

वीरता क्या है ? निर्भय और बेधड़क होकर अपने को बड़े से बड़े कष्ट और खतरे का सामना करने के लिए तैयार रखना।

× × ×

आजकल पुस्तक लिखना और पढ़ना व्यापार ही नहीं, व्यसन हो गया है। मेरी राय में तो केवल दो ही उद्देश्यों से लिखना-पढ़ना आवश्यक है। एक तो मनुष्यता को समझने और उसका विकास करने के लिए; दूसरा जीविकोपार्जन के लिए।

× × ×

विना किसी उद्देश के संसार में कोई भी काम करना निरर्थक है। पढ़ना और लिखना भी किसी उद्देश को लेकर होना चाहिए।

× × ×

क्या तू नवयुवक है ? तो फिर तेरा मुख मलीन क्यों है ?

× × ×

किसी के बारे में किसी की रिपोर्ट पर तबतक निश्चित राय न बनाओ, जबतक सम्बन्धित व्यक्ति से स्वयं पूछताछ न कर लो।

× × ×

रिपोर्ट निर्दोष भाव से की जाने पर भी वह भ्रमपूर्ण, ग़लत और गुमराह करनेवाली हो सकती है; क्योंकि सभी मनुष्य सत्य और अहिंसा का पूर्णरूप से पालन नहीं करते हैं।

× × ×

लोग 'साम्यवाद' से न जाने क्यों इतना घबराते हैं ? यदि उसमें से हिंसा और द्वेष निकाल दिया जाय तो वह एक अच्छी

समाज-व्यवस्था हो सकती है। और अबतक यदि थोड़े लोगों को सुख और बहुतेरे लोगों हो दुःख मिला है तो अब कुछ समय तक बहुतेरे लोगों को सुख और थोड़े लोगों को दुःख मिलने की सम्भावना हो तो इस पर नाराज़ क्यों होते हो ?

× × ×

तुम मुझे खरीदने का यत्न क्यों करते हो ? मुझे खरीदोगे तो किसी दिन दिवाला निकालना पड़ेगा।

× × ×

मुझसे प्रेम करोगे तो बिना टके-कौड़ी और मिहनत के मुझे अपना गुलाम बना लोगे।

× × ×

स्वराज्य की कल्पना से आनंदित होने वालो, स्वराज्य-प्राप्ति के बाद विश्राम करने और निश्चिन्त होने की कल्पना करने वालो, तुम्हारी सच्ची परीक्षा का समय तो स्वराज्य मिलने के बाद ही है।

× × ×

आज वो शत्रु से लड़ने में खूब संगठन कर रहे हो; तुम्हारी एकता, एकनिष्ठा, लगन, धीरज की जाँच तो आगे होने वाली है जब आज से भी अधिक आन्तरिक कठिनाइयाँ पद-पद पर तुम्हें परेशान करेंगी।

× × ×

कुछ लोग कहते हैं—हमें तो स्वराज्य से मतलब है—हम हिंसा-अहिंसा के फेर में नहीं पड़ते। ऐसे मित्रों ने न तो देश की

वर्तमान स्थिति को ही, न स्वराज्य के स्वरूप को ही संजीदगी से समझने की चेष्टा की है और न यही विचारा है कि हमारी शक्ति का अच्छे से अच्छा उपयोग किस प्रकार हो सकता है ?

× × ×

इस टूटी-फूटी नाव के साथ तुम अपनी डोंगी क्यों जोड़ते हो ? इसका मल्लाह भी थका-माँदा है। हाँ,डूबने की तैयारी करली हो तो फिर हर्ज नहीं।

× × ×

ज्यों-ज्यों तू विवेक और ज्ञान की ओर बढ़ता जायगा त्यों-त्यों तेरे आवेश और व्याकुलता का स्थान स्थिरता, धीरज, और शान्ति को मिलता जायगा। तेरा काम थोड़ा होगा; पर फल बहुत निकलेगा।

× × ×

जब तक तुझमें आवेश और चंचलता है तब तक तू काम बहुत करेगा; परन्तु फल थोड़ा निकलेगा। तेरी बहुतेरी शक्ति व्यर्थ चली जाया करेगी।

× × ×

तू अपनी शक्ति को बहुत सोच-समझकर खर्च कर। कोई लखपति यदि अपने धन को अण्ट-शण्ट खर्च करने लगे तो उसे तू समझदार कहेगा ? इस तरह बिना प्रयोजन बोलने, चलने, खाने-पीने आदि में तू अपनी शक्ति खर्च करके दिवालिया बनने की तैयारी क्यों कर रहा है ?

जब दिल मिल चुका है तो फिर बहुतेरी बातों की क्या ज़रूरत ?

× × ×

जब मैं अपने बालबच्चों की चिन्ता का भार ईश्वर पर छोड़ देता हूँ तो मैं उनके प्रति उपेक्षा नहीं प्रकट करता हूँ, बल्कि अपने से हज़ारों गुणी समर्थ, शक्ति के आश्रय में उन्हें रख देता हूँ।

× × ×

जब तक मैं अपने कुटुम्बियों का भार-बोझ अपने पर समझता था तब तक बड़ा चिन्तित रहता था। अपने बीमार होने के समय सब से पहले यही चिन्ता होती थी कि मैं यदि मर गया तो कुटु-म्बियों का क्या होगा? पर जिस दिन मुझे यह अन्तः प्रेरणा हुई कि कुटुम्ब का ईश्वर मैं नहीं, कोई दूसरा है, और उसी पर सारे जगत् का भार है, उस दिन से मैं मस्त रहता हूँ और बीमार भी कम होता हूँ। कुटुम्ब की गाड़ी भी उसी तरह चल रही है।

× × ×

जब मैं यह कहता हूँ कि अपने-अपने कर्म का फल सबको भोगना ही पड़ता है तब उसके मानी यह नहीं है कि हम किसी के दुःख में सहायक न हों—बल्कि यह कि उस सहायता की मर्यादा है और उसे हमें सदा याद रखना चाहिए।

× × ×

यह मर्यादा हमें व्यर्थ की चिंताओं से और दूसरे को व्यर्थ की आशाओं से बचावेगी। फलतः दोनों का दुःख कम होगा।

मुक्ति तो बड़ी चीज़ है; सम्भव है, बहुतेरे लोगों की समझ में भी वह एकाएक न आवे; परन्तु संसार में सफलता के लिए यह आवश्यक है कि हम सुख-दुःख, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, राग-द्वेष से ऊपर उठ जायँ

× × ×

आनंद और शान्ति दो भिन्न वस्तुयें हैं। आनन्द उत्साह का और शान्ति ज्ञान का परिणाम है। आनन्द में उछलते हुए झरने का जीवन होता है; शान्ति में समुद्र की स्थिरता और गंभीरता।

× × ×

आनन्द उछलता, कूदता जाता है; शान्ति मुस्कराती हुई चलती है। आनन्द के पाँव में जब चोट लग जाती है तो शान्ति उस पर सान्त्वना की पट्टी बाँधती है।

× × ×

दूसरे के दुःख से दुखी होना आत्मिक विकास का आरम्भ है; किन्तु अपने को दुखी न होने देते हुए दुःख का इलाज दिलजान से करना ज्ञान की परिणति है।

× × ×

एक टिटहरी का बच्चा मर गया। वह दिन भर 'टीं-टीं' करती रही। उसी जगह बतखों के ६ बच्चे मर गये। बच्चों को अधमरा देखकर ही उन्होंने उनसे मोह छोड़ दिया। एक मित्र ने सरल व्यंग्य में कहा—'बतखें मनुष्यों के अधिक नज़दीक पहुँच गई हैं।'

एक दूसरे मित्र कौवों से बहुत प्रीति करने लग गये थे—कहते—मनुष्यों से कौवे अधिक ईमानदार होते हैं।

× × ×

ठीक है, मनुष्य को अपना, अपनी जाति का दोष ही देखना चाहिए!

× × ×

जो मनुष्य जितना ही अन्तर्मुख होगा, और जितनी ही उसकी वृत्ति सात्विक और निर्मल होगी उतनी ही दूर की वह सोच सकेगा और उतने ही दूर के परिणाम वह देख सकेगा।

× × ×

मैं स्वराज्य के लिए थोड़ा भी काम करता हूँ तो स्वराज्य एक-एक क़दम आता हुआ मुझे अवश्य दिखाई देना चाहिए।

× × ×

स्वराज्य कब आवेगा, यह दूसरे से नहीं, अपने से पूछो।

× × ×

कुछ मित्र कहते हैं कि फलाँ जेल जायँगे तो हम जेल जायँगे—पहले फलाँ चला जाय तो बाद को हम जायँगे। मैं कहता हूँ—स्वराज्य तो दो-चार आदमियों के जेल जाने या न जाने से रुकने वाला है नहीं; हाँ हम अलबत्ता इस घर आई गंगा में पवित्र होने का अवसर हाथ से खो रहे हैं। हम अपनी ही हानि कर रहे हैं।

हमें इस बात की कम फिक्र रहती है कि हम अच्छे बनें—इस बात की अधिक कि लोगों में अच्छे दिखाई दें। फिर भी लोग पूछते हैं कि साहब, पहले तो लोग······को बहुत मानते थे, अब क्यों नहीं मानते ?

× × ×

यदि तुम किसी के नज़दीक जाना चाहते हो तो उसके गुणों की क़द्र करो। आलोचक बनकर जाओगे तो और कहीं पहुँचोगे, उसके नज़दीक नहीं।

× × ×

विश्लेषण करना एक बात है, आलोचना करना दूसरी बात है। विश्लेषण गुण-दोष को अलग-अलग करके देखता है—आलोचक का दोष-दर्शन में अनुराग होता है।

× × ×

यदि मैं तेरी टीका या निन्दा नहीं करता हूँ तो यह समझने की भूल न कर कि मैं अन्धा हूँ। यदि मैं बिना जिरह किये तेरी बात पर विश्वास कर लेता हूँ तो यह न समझ कि तेरी सभी बातें विश्वास करने योग्य होती हैं।

× × ×

यदि तू चाल चल जाता है और मैं तुझसे इसकी शिकायत नहीं करता, तो यह न समझ कि मैं बेवकूफ़ हूँ।

× × ×

ऐ खुशामद चाहने वाले, यदि मैं तेरी खुशामद नहीं करता हूँ तो यह न समझ कि मैं तुझसे प्रेम नहीं करता हूँ।

तू अपना प्रदर्शन नहीं करता है किन्तु दूसरे प्रदर्शन करने वालों की शिकायत बनी रहती है, तो विचार कर कि तेरे संयम से तुझे शान्ति क्यों नहीं मिल रही है ?

× × ×

तू अकारण ही कटु और अपशब्दों का प्रयोग करके अपना मूल्य और प्रभाव क्यों कम करता है ? यह तेरी निर्भीकता हो सकती है; परन्तु विवेक और समझदारी नहीं।

× × ×

जब मैं स्नेह से देखता हूँ तो मुझे सब लोग आत्मीय से लगते हैं; किन्तु ज्ञान से देखने की चेष्टा करता हूँ तो सब मुसाफिर-से मालूम होता है।

× × ×

जब मेरे मन में कुछ द्वेष था तो तू घिनौना मालूम होता था— अब तेरे लिए ईश्वर से प्रार्थना करता रहता हूँ।

× × ×

संघ और दल दो चीज़ें हैं। संघ में सेवा और धर्म-प्रचार का भाव अधिक है और दल में राजनैतिक संगठन और संग्राम का।

× × ×

संघ सेवा और प्रचार करते हैं; दल लड़ते हैं।

× × ×

'दलवन्दी' में दूसरे दल वालों के खिलाफ संगठन करने का भाव है। संघ और दल बनाना बुरा नहीं; पर 'दलवन्दी' बुरी है।

'दलबन्दी' से समाज और देश का हित एक ओर रह कर 'दल' ही मुख्य होने लगता है। इससे आपस में ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, द्रोह, कलह के घृणास्पद भाव फैलते हैं।

× × ×

संसार में हम किसे अपना शत्रु मानें? हम खुद जितना नुकसान अपने को पहुँचाते हैं उतना दूसरा हरगिज़ नहीं पहुँचाता।

× × ×

तो फिर हमसे बढ़कर हमारा शत्रु कौन हो सकता है? यदि हम इस सत्य को समझ लें तो सफलता हमारे आस-पास नाचने लगे और चारों ओर हमें मित्र ही मित्र दिखाई देने लगें।

× × ×

मैं बड़ा हूँ या साधन? जब तक मुझे साधनों के पास जाना पड़ता है तब तक साधन बड़े हैं—जब वे मेरे पास दौड़ते हुए आने लगते हैं तब मैं बड़ा हूँ।

× × ×

जिसने साधन निर्माण किये उसीका अंश यदि मैं हूँ तो साधन मुझसे बड़े कैसे हो सकते हैं?

× × ×

यदि साधन ही बड़े हैं तो लोग राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, मुहम्मद, ईसा-मसीह, गाँधी को क्यों मानते हैं, साधनों की पूजा क्यों नहीं करते?

तू स्वयं अपनी परिस्थिति का रचयिता है। जिस परिस्थिति में तूने जन्म पाया है वह भी तेरी ही कृतियों से प्राप्त हुई है।

× × ×

यदि तू अपने से अधिक महत्व परिस्थिति और साधनों को देता रहेगा तो तेरी आत्मा निर्बल होती चली जायगी—तुझे सदा दूसरों की शिकायत रहेगी और तू अपनी त्रुटियों को न देख सकेगा, न सुधार सकेगा।

× × ×

दूसरों की शिकायत करने के बनिस्बत अपनी शिकायत करने में अधिक बल और बहादुरी की ज़रूरत होती है।

× × ×

बुद्धि का फल यह न होना चाहिए कि हम दूसरों के दोष देखते रहें, उन्हें जतन से संभाल कर रखते रहें, बल्कि यह होना चाहिए कि गुण अधिक देखे जायँ और उन्हें संग्रह किया जाय।

× × ×

बुद्धि यह भी चाहती है कि हम इस बात को समझें कि दूसरों के दोष देखने से हमारा और जगत् का इतना लाभ नहीं है जितना कि उसके गुण देखने में है।

× × ×

इसका यह अर्थ नहीं कि हम अवलोकन करना ही बन्द कर दें। बल्कि यह कि भूसी में से गेहूँ रख लें और भूसी फेंक दें।

किसी का दोष देखकर उसका रस लेना एक बात है और उस पर दया आना दूसरी बात है।

× × ×

जब तक हमारा दिल रस लेता रहता है तब तक हमारे लिए आत्मशोधन की बहुत आवश्यकता है। निश्चित रूप से वही चोर हमारे घर में घुसा हुआ है जिसने दूसरे के घर को खोखला बना दिया है।

× × ×

पक्षपात मुझे अपने मित्रों का स्नेह-पात्र कुछ समय के लिए बना सकता है परन्तु नये मित्रों के आने का रास्ता रोक देता है।

× × ×

यदि तू अपने अपराधों और पापों पर पश्चात्ताप कर लेगा तो फिर तुझे वे एक बीते हुए सपने की तरह नज़र आते रहेंगे और तू सदा के लिए उनके आतंक से बच जायगा।

× × ×

पश्चात्ताप तो वह है जब हमारा दिल कहता है और दुखी होता है कि अरे यह कैसा जघन्य कार्य हो गया! परन्तु प्रायश्चित्त उसे कहते हैं जब हम अपने को कोई ऐसी सज़ा देते हैं जिससे आगे बुरा करने की प्रवृत्ति न हो।

× × ×

जो सज़ा अपने आप ली जाती है वह प्रायश्चित्त है और जो दूसरों के द्वारा दी जाती है वह दण्ड है। प्रायश्चित्त से मन वैसा

ही हरा-ताज़ा हो जाता है जैसा कि स्नान करने से शरीर हो जाता है; किन्तु दण्ड से पश्चात्ताप कम होता है, पतन अधिक।

× × ×

यदि तू सचमुच न्यायी रहना चाहता है तो जिससे तेरी अनबन है उसके विषय में अधिक उदार रहने की चेष्टा कर।

× × ×

तू किसी को उपदेश न दे, जबतक कि तेरे शुद्ध भाव पर उसे विश्वास न हो और वह तुझे उपदेश देने के योग्य न समझता हो।

× × ×

चमक ही बड़े पन की निशानी नहीं है। झूठे मोती सच्चे मोती से ज़्यादा चमकते हैं।

× × ×

यदि किसी ने तेरी बात पर ध्यान नहीं दिया तो उसे गाली मत दे, तू उसका कारण खोज; तुझे उसमें अपनी ही कोई ख़ामी नज़र आवेगी।

× × ×

तू गुरु बनने की जल्दी मत कर। अभी तो सच्चे विद्यार्थी की शर्तों को भी तू पूरा नहीं कर रहा है।

× × ×

चाहे साम्यवादी बन, चाहे हिंसावादी बन; पर कपटनीति का आश्रय मत ले। याद रख, यह तेरी आत्मा (Morale) को

कुतर-कुतर कर खा जायगी और तेरा यह महल किसी दिन धड़ाम से गिर जायगा।

× × ×

हिंसा में फिर भी कुछ बहादुरी है। और यदि बहादुरी नहीं तो साहस अवश्य है। किन्तु छल-कपट में तो कायरता और नीचता दोनों है।

× × ×

जगत् उसी को जानता और मानता है जो जगत् के लिए महान् हुआ हो।

× × ×

जो अपने लिए महान् बने हों, उन्हें यदि जगत् ने जाना और माना न हो तो इसलिए जगत् की शिकायत क्यों की जाय?

× × ×

यदि तू पतित है तो जगत् के सामने यों रोता और गिड़गिड़ाता क्यों है? जगत् रोने वाले को और रुलाता है।

× × ×

यदि मैं तुझे उठाने का प्रयत्न करता हूँ तो इससे मैं अपना ही अधिक हित करूँगा। तू तो अपने ही प्रयत्न से उठ सकेगा।

× × ×

तू निराश मत हो, धीरज मत छोड़। हर एक पुण्यात्मा ने कभी न कभी कोई पाप ज़रूर किया है और अबतक बड़े से बड़े पापियों का भी उद्धार हो चुका है।

किसी संस्था में हम सेवा और सहयोग के लिए जाते हैं न कि सत्ता पाने और भेद बढ़ाने के लिए। यदि हम योग्य हैं तो सत्ता और बड़प्पन हमारे पास अपने आप आ जायगा।

× × ×

मुझे अपने गुणों पर बढ़ना चाहिए, न कि दूसरों की कृपा पर। मेरे गुण मुझे बढ़ायगे, उसकी कृपा उसे दढ़ावेगी।

× × ×

दूर रह कर, मेरे गुणों की चर्चा सुनकर मेरे भक्त बननेवाले की अपेक्षा नज़दीक आकर, मेरे दुर्गुणों को देखकर, मेरा निन्दक बनजाना मैं पसन्द करूँगा।

× × ×

वह भक्त मुझे डुबावेगा; यह निन्दक मेरा उद्धार करेगा।

× × ×

महात्मा गाँधी ने यह बहुत ठीक कहा है कि जबतक मेरी निन्दा और टीका होती रहती है तबतक मैं बेखटके सोता हूँ, जब प्रशंसा के पुल बँधने लगते हैं तब मुझे चिन्ता के साथ जागना पड़ता है।

× × ×

आत्म-विश्वास की कमी हमारी किसी और कमी की निदर्शक है। यदि सचाई पर हमारा पूरा भरोसा है तो हमारा आत्मविश्वास-बढ़ना ही चाहिए।

यदि कोई बात तेरी समझ में न आती हो तो यह मत कह दे कि ऐसा हो ही नहीं सकता। इससे न केवल अपनी बुद्धि की कमी सूचित होती है; बल्कि दूसरे की बुद्धि का अनादर भी होता है।

× × ×

अनासक्ति की कसौटी यह है कि फिर उस वस्तु के अभाव में हम कष्ट का अनुभव न करें।

× × ×

यदि हम कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं और सचमुच उसपर दृढ़ रहते हैं तो अनासक्ति अपने आप आजाती है।

× × ×

अनासक्ति का अर्थ प्रेम की कमी हरगिज़ नहीं है। जहाँ प्रेम का फल दुःख होता हुआ दिखाई दे वहाँ समझो कि आसक्ति है।

× × ×

जो वेतन मैं अभी पा रहा हूँ उससे यदि मेरी योग्यता अधिक है तो मुझे अपनी जीविका की चिन्ता नहीं हो सकती।

× × ×

दूसरे मेरे लिए जो शुभ या अशुभ भावना रखते हैं उसका परिणाम मेरे जीवन और कार्य-क्रम की सफलता पर अवश्य होता है।

× × ×

मेरे लिए अशुभ भावना वही रक्खेंगे जिन्हें या तो मेरे द्वारा दुःख या हानि पहुँची है, अथवा मेरे कार्यों से पहुँचने की संभावना है।

परन्तु यदि मैं सत्य और अहिंसा को अपना अटल पथदर्शक मानता रहूँगा तो मेरे द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचने की संभावना कम होती जायगी।

× × ×

मेरी अहिंसा उन्हें मेरी तरफ से कष्ट न पहुँचने देगी और मेरा सत्य उन्हें इस बात के लिए प्रेरित करता रहेगा कि वे अपने कष्ट और हानि को ज़िम्मेवार मुझे न समझें।

× × ×

मेरा काम है सेवा के लिए तैयार रहना। उसे स्वीकार करना न करना तेरी मर्ज़ी की बात है।

× × ×

यदि तू मुझे क्षुद्र समझकर मेरी सेवा स्वीकार नहीं करता है तो तू अपने निरभिमान होने के अवसर को खोता है। यदि मुझे बड़ा समझकर स्वीकार नहीं करता है तो तू सहिष्णु बनने के अवसर को गँवाता है।

× × ×

ज़ालिमो, दमन करके तुम अपनी क्रूरता को सन्तुष्ट कर सकते हो; तुम्हारी मनुष्यता तो तुम्हें अपने पतन के लिए कोसती ही रहेगी।

× × ×

कौशल एक योग है—जो सत्य और अहिंसा के संयोग से पैदा होता है।

धोखाधड़ी का नाम कौशल नहीं है। धोखाधड़ी शैतान की ढाल है और कौशल सत्पुरुष का साधन है।

× × ×

कुछ सुधारकों के मन में वेश्याओं के विवाह का बहुत उत्साह है। विधवायें तो अब देश में रही ही नहीं कि जिनका विवाह कराया जावे ! हमारी भी सलाह है कि स्वराज्य का काम भी छोड़कर सब को इसी आवश्यक सुधार में लग जाना चाहिए। इससे स्वराज्य के काम में धन-जन दोनों की मदद भी मिलेगी !!

× × ×

"अरे भाई, ज़रा संभाल कर बोला करो !"

"जानता नहीं, मैं नवयुवक हूँ !!"

× × ×

"भाई जरा बड़े-बूढ़ों की सेवाओं का लिहाज़ रक्खा करो।"

"आप बड़े-बूढ़ों को ही क्यों नहीं कहते कि वे नौजवानों से न उलझा करें। हम तो नवयुवक ही ठहरे !"

× × ×

"रोज़-रोज़ स्वाद की उपेक्षा करने से क्या लाभ ? हमें सदा जैसा मिल जाय वैसा ही आनन्द से खा लेने के लिए अपना मन तैयार रखना चाहिए।"

× × ×

"अरे, आज दलिया में घी नहीं छोड़ा। और ये रोटियाँ भी रूखी ही।"

"जी, आज घी नहीं आया।"

बाबूजी का चेहरा लम्बा हो गया; आँखें नीरस दीखने लगीं। खाना अधा भी नहीं खाया गया!

× × ×

"आप का काम सन्तोषजनक क्यों नहीं हो रहा है?"

"आपने मुझे पूरी ज़िम्मेवारी तो दी ही नहीं।"

× × ×

"योग्यता का परिचय मिलने के बाद ज़िम्मेवारी दी जाती है? या ज़िम्मेवारी देने के बाद योग्यता की जाँच की जाती है? कोई कभी यह कहेगा कि पहले मुझे प्रोफेसर बना दो, फिर देख लेना मैं कैसा पढ़ाता हूँ?"

× × ×

ज़ोरदार पौधा अपने आप आसपास की जमीन में से रस खींच लेता है। कमज़ोर की जड़ पानी पिलाते रहने पर भी सड़ जाती है।

× × ×

आनन्द में एक प्रकार का मीठा नशा होता है। उसके निकल जाने पर वह शान्ति हो जाता।

× × ×

आनन्द दुःख को पास नहीं आने देना चाहता; शान्ति दुःख को हज़म कर जाती है।

जिन व्यक्तियों के द्वारा तुम्हें बार-बार कष्ट पहुँचता हो तो समझो कि उन्हें ईश्वर ने तुम्हारे सुधार के लिए तुम्हारे पास भेजा है।

× × ×

मुझे दूसरे से कष्ट उसी अवस्था में पहुँच सकता है जब मेरे अन्दर कुछ खामियाँ, कुछ बुराइयाँ हों।

× × ×

जब हम बाह्य प्रवृत्तियों में—भिन्न-भिन्न जीवन-कार्यों में—लगे रहते हैं तब हम देने की तरफ अधिक ध्यान रखते हैं, कमाने की तरफ कम।

× × ×

कमाई करना हो तो अपने-आप में डूबो। अपनी एक-एक कमजोरी पर निगाह रक्खो। नहीं तो किसी दिन बुरी तरह दिवाला निकल जायगा।

× × ×

हमें देने की फ़िक्र इतनी क्यों पड़ी रहती है? यह जल्दी ही हमें पाखण्ड में प्रवृत्त करती है। आडम्बर इसीके कारण हमारे घर आता है।

× × ×

पता नहीं पिछले ज़माने के लोगों ने स्त्रियों पर इतना आक्रमण क्यों किया है? तो फिर क्या यह ग़लत है कि स्त्रियों पर वार करना कोई शूर-वीरता नहीं है?

भय ही निन्दा कराता है। निन्दक के बराबर कायर नहीं। सच-मुच स्त्रियों की मनमानी निन्दा करके क्या उन लोगों ने अपने को कायरों में नहीं खपाया है ?

× × ×

सूरमा लड़ता और जीतता है, गाली नहीं दिया करता। गाली देने वाला अपना बल पहले ही खो चुका होता है।

× × ×

शर्म हारने में नहीं, गाली देने में है। हारता वही है जो लड़ता है। गाली देने वाले और लड़ने वाले एक ही नहीं हुआ करते।

× × ×

शर्म हारने में नहीं, भागने में है। स्त्रियों को जीतो, उनसे डर कर भागो मत। उन्हें गाली देना तो मातृ-जाति का निरादर करना है।

× × ×

स्त्रियों को जीतना अपने-आपको जीतना है। जिसने अपने-आप को जीत लिया उसने सारा जग जीत लिया।

× × ×

तुझको भगवान् ने बहुत-कुछ दिया है; मैं दीन-हीन हूँ। क्या इसीलिए मेरे मनुष्यत्व को तेरे सामने गिड़गिड़ाना चाहिए ?

× × ×

यदि तुझे तेरे वैभव का अभिमान है तो मेरी 'न-कुछता' मेरे लिए कम मूल्यवान् नहीं है।

वास्तव में वही सम्पत्तिवान् है जिसने अपने को 'न-कुछ' समझ लिया है। शेष तो सम्पत्ति के चौकीदार-मात्र हैं।

× × ×

तुम सम्पत्ति और पोज़ीशन के फेर में क्यों पड़ते हो? बिना चोरी किये और लूटे दो में से एक भी चीज तुम्हारे हाथ नहीं लग सकती।

× × ×

तुम अपनी आत्मा को उजालो—जिसमें अटूट सम्पत्ति और ऐश्वर्य भरा हुआ है एवं जो मनुष्य की सर्वोच्च स्थिति है। असली गुलाब तुम्हारे पास है—काग़ज़ी फूलों के पीछे क्यों मर रहे हो?

× × ×

तू विद्वान् है? तो इतनी डींगें क्यों मारता है? क्या विद्वान् की यह जरूरी पहचान है?

× × ×

तू खुद उद्धत रहकर मुझे नम्र बनाना चाहता है? तो यों क्यों नहीं कहता कि मुझे नम्रता से प्रीति नहीं, मैं तो तुझे झुकाना चाहता हूँ।

× × ×

पर भाई, जो नम्र है उसे कोई कैसे झुका सकता है? झुकना तो उद्धत के ही लिए है। नम्रता मनुष्यता का विकास है; उद्धतता पशुता का अवशिष्ट है।

तुझे मुझसे प्रीति है, या मेरे वैभव से? यदि मुझसे है तो फिर मेरे वैभव की इतनी तारीफ़ क्यों?

× × ×

यदि मुझसे प्रीति है तो फिर मेरे लिए ईश्वर से प्रार्थना करने के बजाय अपने लिए मुझी से क्यों प्रार्थना करता है?

× × ×

क्या तेरी मित्रता के लिए यह जरूरी है कि मैं अपना सिद्धांत छोड़ूँ, अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध चलूँ? यदि हाँ, तो तू मुझे अपना मित्र नहीं, गुलाम बनाना चाहता है!

× × ×

तू अपने दुःख का कारण, पूर्व जन्म की अपेक्षा, इसी जन्म में खोज। तुझे आश्चर्य होगा कि जिस तरह का दुःख तू पा रहा है, उसी तरह कादुष्कर्म तेरे हाथों इसी जन्म में हुआ है।

× × ×

किसी भी दुःख या क्लेश का कारण ढूँढ़ने में सुस्ती और गफ़लत मत कर। कारण मिल जाने पर तुझे उतना ही आनन्द होगा जितना अन्धे को आँखें मिल जाने से होता है।

× × ×

यदि तू आज़ादी का मतवाला है तो फिर तूने अपनी सैनिकता की इतनी शर्तें क्यों लगा रक्खी हैं?

× × ×

घर में आग लगी हुई है—और तू इसलिए उसे बुझाने नहीं दौड़ पड़ता है कि भाइयों से तेरी बनती नहीं है!!

यज्ञ-कुण्ड धधक रहा है—आहुतियों पर आहुतियाँ गिरती जा रही हैं! और तू इसलिए रूठा बैठा है कि ऋत्विजों से तेरा मन नहीं मिलता है!!

× × ×

क्या मेरी खिल्ली तू इसीलिए उड़ाता है कि तेरा मेरा मत नहीं मिलता है? क्या मेरी खिल्ली उड़ाकर तू अपने मत की उपयोगिता सिद्ध कर रहा है?

× × ×

मैं तेरे मत को नहीं देखना चाहता, तेरे जीवन को, तेरे चरित्र को देखना चाहता हूँ।

× × ×

मैं त्याग करता हूँ, कष्ट उठाता हूँ, फिर भी मेरा जी भीतर से जलता क्या रहता है? देख तो कहीं प्रतिफल पाने की आशा तो नहीं झुलस रही है?

× × ×

कल वह तुझे कितना प्यारा लगता था—आज उसे आता देख तेरी आँखें उसे कोसने क्यों लगती हैं?—जो तेरा सहयोगी था—वह कहीं तेरा प्रतिद्वन्द्वी तो नहीं हो गया है?

× × ×

जब मेरे दुःख का सवाल था तब मेरी आँखें तुझे कितने स्नेह से देखती थीं—अब तेरे दुःख का प्रश्न है तब मुझे तेरी आँखों का स्नेह क्यों नहीं दिखाई देता?

उपन्यास पढ़कर तो प्रेम, आनन्द, समता की बातें बहुतेरे करने लग जाते हैं; परन्तु दुनिया की रगड़ में पड़ने के बाद जो उसी उत्साह से प्रेम, आनन्द और समता अपने जीवन में दिखाता है वही सच्चा मर्द है।

× × ×

तुम मेरी उदासीनता से क्यों चिन्तित होते हो ? क्या नारियल के अन्दर मीठा पानी नहीं होता है ?

× × ×

मैंने एक पिता से शिकायत की कि आप बराबरी के पुत्र को दूसरों के सामने इस बुरी तरह से फटकारते हैं कि उस समय उसके चेहरे की तरफ मुझसे देखा नहीं जाता। उन्होंने उत्तर दिया—वात्सल्य इसी का नाम है। वह हित के सिवा और किसी बाहरी बात का विचार नहीं करता।

× × ×

तू अपनी जगह इसलिए है कि तू उसी के योग्य है। ईश्वर के यहाँ अन्याय नहीं है। तू और अच्छी जगह चाहता हो तो और अच्छा बन।

× × ×

ईश्वर को या जगत् को कोसने से तेरी स्थिति नहीं सुधर जायगी। अपनी स्थिति के लिए तू अपने को ही दण्ड दे।

श्रम-साध्य वस्तु यदि सहज में मिलती हो तो उसे लेते हुए हिचक। बिना परिश्रम के फल मिलता हो तो उसे ईश्वर की कृपा नहीं शैतान की करतूत समझ।

× × ×

मेरे मौन से तू इतना क्यों डरता है? क्या तू एक ज़बान की ही बोली समझता है?

× × ×

तुम मेरे विरोधी हो या मेरे मत के?—"मत के"। तो फिर मेरे मत की निन्दा करो; मेरी निन्दा करके तुम अपने को सज़ा क्यों दे रहे हो?

× × ×

सुन्दरता रूप में है, गुण में है, या देखने वाले की आँखों में है? यदि रूप में है तो लैला में कौन-सा रूप था? यदि गुण में है तो वेश्याओं के इतने उपासक क्यों है? इतने तलाक़ क्यों दिये जाते हैं? यदि देखने वाले में है तो फिर वाह्य जगत् की क्या आवश्यकता है?

× × ×

सुन्दरता वहीं है जहाँ सत्य है। सुन्दरता वहीं है जहाँ शिव है। सत्य सदा कल्याणकारी होता है। मनुष्य को वही वस्तु सुन्दर मालूम होती है जिसमें उसका मन रम जाता हो —मन को आनन्द और शान्ति प्रतीत होती हो। आनन्द और शान्ति वास्तव में सत्य के ही परिणाम हैं; परन्तु स्थूल-बुद्धि मनुष्य उन्हें रूप आदि

बाह्य साधनों में देखने लगता है। इसीलिए वह विलासी बन जाता है। यदि वह उसकी तह तक पहुँच सके तो सच्चे सौन्दर्य का उपभोग भी करेगा और उसकी वासना से भी दूर रहेगा।

× × ×

संसार की प्रत्येक वस्तु को हमें इस कसौटी पर कसना ही पड़ेगा कि वह हितकर और उपयोगी है या नहीं? यदि ईश्वर को यह मंजूर न था तो उसने मनुष्य को बुद्धि-हीन ही क्यों न रहने दिया।

× × ×

सत्य ही मनुष्य का एक-मात्र साध्य है—शेष सब साधन हैं। शास्त्र, कला, सौन्दर्य, सब सत्य की ओर ले जानेवाली सीढ़ियाँ हैं। यदि ये सत्य से विमुख होने लगें तो समझ लो कि ये व्यभिचारी हो गये हैं।

× × ×

केवल और स्वतंत्र आनन्द नामक कोई वस्तु जगत् में नहीं है। उसके नाम से हम सूक्ष्म विलास की ही पूजा और साधना करते हैं।

× × ×

आनन्द और मनोरंजन के नाम पर प्रचलित काव्य, कला, सौन्दर्य, चतुर विलासिनी रमणी की उपमा के योग्य हैं।

× × ×

जीवन की साधना और रमणीयता में कोई ख़ास नाता नहीं है, रमणीयता साधना की नहीं, बल्कि साधना रमणीयता की कसौटी होनी चाहिए।

आनन्द नहीं, शान्ति के पीछे पड़ो। आनन्द तुम्हें बहा ले जायगा—शान्ति तुम्हें किनारे लगा देगी।

× × ×

आनन्द में रस और मद है; शान्ति में समाधान और सुख है। आनन्द इन्द्रियों को उत्तेजित करता है; शान्ति उनके आवेगों को अपने उदर में समा लेती है।

× × ×

आनन्द चञ्चल और शान्ति निश्चल है। आनन्द उफान है; शान्ति स्थिर सम्पत्ति है।

× × ×

श्रमजीवी से बुद्धि-जीवी क्यों बड़ा है? क्या इसीलिए कि वह उनके श्रम से अपना लाभ करना जानता है? तो क्या बड़ा उन्हें कहना चाहिए जो सीधे लोगों को बेवकूफ़ बनाकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं?

× × ×

तो वे लोग महा मूर्ख हैं जो राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद आदि को बड़ा मानते और पूजते हैं। इनके तो ऐसे किसी महत्कार्य का उल्लेख इतिहास या कथा-वार्ताओं में नहीं मिलता।

× × ×

धरती धर्म पर पर टिकी हुई है, धन पर नहीं। धन को धर्म से अधिक महत्व देनेवाले धरती को रसातल भेजने पर तुले हुए मालूम होते हैं।

उपकार करना और उपकार चाहना दो भिन्न वस्तुयें हैं। उपकार करना मनुष्यत्व का उच्च गुण है; परन्तु उपकार चाहना मनुष्यता की पामरता है।

× × ×

जहाँ उपकार चाहने वालों की संख्या बढ़ जाती है वहाँ उपकार करनेवालों की संख्या कम हो जाती है।

× × ×

मुझे तेरे मन की चाह है, धन की रक्षा मैं कहाँ करता फिरूँगा? मन को तो अपने मन में हिफ़ाज़त से रख लूँगा।

× × ×

मेरी प्रशंसा से तेरी भलाई नहीं होगी। ऐसा काम कर जिससे मुझे तेरी प्रशंसा करनी पड़े।

× × ×

तू खुशामद क्यों चाहता है? क्या मेरे गुण तेरे काम के लिए काफ़ी नहीं हैं? तू मुझ से काम चाहता है, या अपनी बड़ाई?

× × ×

मुझ बूढ़े को घर में से क्यों निकालते हो? क्या अपनी जवानी में मैंने ही इस घर को आबाद नहीं किया था?

× × ×

मुझे नसीहत क्यों देते हो? आपने भी तो अपनी जवानी में बाबा को घर से निकाल दिया था। मेरा नहीं यह जवानी का क़ुसूर है।

जवानी दीवानी होती है और बुढ़ापा कुढ़ापा। विचारों में बूढे और भावना में जवान रहो। जवानी और बुढ़ापे में इस तरह मेल साध लो, उन्हें लड़ाओ मत।

× × ×

जवानी, आ! तू मेरे हृदय की देवी है। बुढ़ापा, आ! तू मेरे सिर का मौर है, मेरी छत्रच्छाया है।

× × ×

'प्राणेश्वरी' और 'प्राणेश्वर' शब्दों में यदि सचमुच प्राण हो तो यह संसार स्वर्ग बन जाय। ओ शब्दों के जीव, प्राणों की पिपासा शब्दों से नहीं तृप्त होती।

× × ×

अपराध करना बुरा है, उसको स्वीकार करना नहीं। स्वीकार करना तो अपराध को धोना है।

× × ×

भोगेच्छा हमसे पाप करवाती है और मिथ्याभिमान उसे स्वीकार करने से रोकता है।

× × ×

असंयम आत्मा पर इन्द्रियों की विजय है; संयम इन्द्रियों पर आत्मा की मुहर है।

× × ×

मैं अपने विद्यार्थी जीवन में ही इस नतीजे पर पहुँच गया था कि मैंने प्राय: सब विकारों को जीत लिया है। अब बरसों से प्रयत्न

ते हुए भी जब अपनी असफलताओं की गिनती लगाता हूँ तो
ाने उस भोलेपन पर तरस आता है !!

× × ×

उद्धत और कायर में कौन भला है ? उद्धत। क्योंकि कायर
ूसरे को अत्याचारी बनाता है और उद्धत दूसरे में बहादुरी लाता
—प्रतिकार-शक्ति उत्पन्न करता है। कायर उद्धत को आततायी
नाता है और उद्धत कायर को बहादुर।

× × ×

क्रोध करके हम दूसरे को उसकी गलती नहीं समझाते हैं
ापनी पशुता की स्वीकृति उससे कराना चाहते हैं।

× × ×

"तुम ग़रीब ही रहना चाहते हो, या अमीर बनना चाहते
ो ?"

"बाबा अमीर बनाकर क्या करोगे ? मुझे ग़रीब ही बना रहने
दो। गरीब रहकर मैं परमात्मा को याद तो किया करूँगा—अपने
दुखी भाई-बहनों के कुछ काम तो आया करूँगा।"

× × ×

तू मुझे झुकाने में, जलील करने में, अपना गौरव क्यों समझता
है ? एक का गौरव घटाने से ही क्या दूसरे का गौरव बढ़ता है ?

× × ×

तेरे पास सत्ता है तो इतने ही से मूँछों पर ताव क्यों देता है ?
फूलना ही हो तो अपनी भलमनसाहत पर फूल, सत्ता पर नहीं।

"लोग दामाद की इतनी खातिर क्यों करते हैं? जो किसी की बहन-बेटी को सतीत्व नष्ट करने के लिए ले जाता हो उसका इतना आदर करते हुए लोगों को शर्म नहीं आती?"

"नहीं, वह अपने को खतरे में डाल कर भी हमारी बहन-बेटी के सतीत्व की रक्षा की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेता है—इसीलिए उसका इतना आदर-सत्कार किया जाता है।"

× × ×

जिस दिन से हम गुणों का मूल्य रुपयों में आँकने लगे उस दिन से गुण हलका हो गया और रुपया भारी।

× × ×

किसान जगत् को देकर अपना पेट पालता है; व्यापारी अपना पेट पालने के लिए जगत् को देता है।

× × ×

पुरुष सिपाही है; स्त्री सेविका है। पुरुष डराकर छीनता है; स्त्री प्रेम से देती है।

× × ×

जिसे याद रखना पड़ता है, वह त्याग नहीं। व्यापारी याद रखता है; त्यागी भूल जाता है।

× × ×

पता नहीं, नंगा रहना बुरा क्यों समझा गया है? कहते हैं नंगी जातियों में तो विलासिता और कामुकता कम होती है। तब क्या विलास बढ़ाने के लिए ही मनुष्य ने कपड़े पहनना सीखा है?

मैं मजदूर हूँ—तुम मालिक हो । मैं दिन भर मेहनत करके थोड़ा-सा लेता हूँ—तुम मेरा सब कुछ लेकर थोड़ा-सा मुझे दे देते हो ।

× × ×

तुम ऊँचे हो और मैं नीच हूँ । क्योंकि तुम सेवा लेते हो और मैं सेवा करता हूँ ।

× × ×

तुम कुलीन और मैं अछूत हूँ, क्योंकि तुम अपने घरों को गंदा करते हो, और मैं उन्हें साफ करता हूँ !

× × ×

तू भिन्न-भिन्न भाषाओं में विज्ञता प्राप्त करने की अपेक्षा आत्मा की भाषा क्यों नहीं सीखता ? इस एक ही भाषा के सीख लेने से तू मनुष्य-जाति ही नहीं, प्राणी-जाति से बातचीत कर सकेगा ।

× × ×

तू भौगोलिक, सांस्कारिक,आदि टुकड़ों में मनुष्य-जाति को बाँट कर ईश्वर के घर में क्यों भेद डालने की चेष्टा करता है ? इन टुकड़ों से तू अपने को चाहे धोखा दे ले; पर उस सर्वव्यापक की अनन्त आँखों में तू धूल नहीं झोंक सकता ।

× × ×

क्या तुम मेरी करुण पुकार सुन कर आये हो ? तो फिर मेरी दीनता का—निर्बलता का, असहायता का उपहास क्यों करते हो ?

यदि किसी दुखी के लिए तुम्हारे पास सान्त्वना नहीं है तो अपने व्यङ्ग और उपहास से तो उसके कलेजे को मत छेदो। वह अमृत की आशा से आया है—ज़हर तो उसे साँप और छिपकली से भी मिल सकता था।

× × ×

तू अपने वैभव में मुझे क्यों भूलता है? वैभव तो मेरी विभूति की एक झलक-मात्र है यदि उसी में तू चकाचौंध हो गया तो मेरा दर्शन कैसे करेगा?

× × ×

तू पत्थर के देव लिए जीते देवों का द्रोह क्यों करता है? यदि ईश्वर सब का है और सब जगह है तो फिर इन धार्मिक कलहों में क्यों अपने को बरबाद करता है और ईश्वर से दूर फेंकता है?

× × ×

यदि आप धार्मिक पुरुष हैं तो रोज़ दाल-रोटी की फिक्र क्यों लगी रहती है? क्या ईश्वर पर इतना भी भरोसा नहीं है?

× × ×

यदि आप धार्मिक पुरुष हैं तो मुसलमान को देखकर तो आपका खून खौलने लगता है, पर एक अँगरेज़ को देखकर दुम दबाकर क्यों सलाम करने लगते हैं?

× × ×

मनुष्य इन चार में से किसी भाव से काम करता है—(१) सेवा-भाव, (२) कर्त्तव्य-भाव, (३) उपकार-भाव और (४) स्वार्थ-

भाव। सेवा-भाव वाला केवल अपनी ज़िम्मेवारी का विचार नहीं करता, बल्कि कार्य की सफलता उसके सामने मुख्य है। कर्त्तव्य-भाव वाला अपनी ज़िम्मेदारी से आगे नहीं बढ़ना चाहता। उपकार-भाव मानों किसी पर एहसान करता हो—इसका दिल काम में नहीं होता। स्वार्थ-भाव के लिए यह कहावत अच्छी है—"गँजेड़ी यार किसके ? दम लगाया और खिसके।"

× × ×

जो मनुष्य जितना ही अभिमानी होगा, उसको उतना ही झुकना पड़ेगा—कभी-कभी जलील भी होना पड़ेगा। उसकी प्रगति में यह आवश्यक संशोधन-क्रिया है।

× × ×

जो खुद झुक जाता है वह अपनी श्री को क़ायम रखता है; जिसे दूसरे जलील करते हैं वह श्री-हीन हो जाता है।

× × ×

परन्तु वह मनुष्य यदि वास्तव में श्रेयार्थी है तो यह तेजोवध भी, एक समय के बाद, उसकी प्रगति को ज़ोर का धक्का देता है।

× × ×

विकार, चोरों की तरह, गाफ़िल मनुष्य के घर में ही सेंध लगाते हैं। जागरूकता उनके आक्रमण से बचाने के लिए सब से बड़ी ढाल है।

मन को गफ़लत के सुख से इतनी प्रीति है कि उसे देखकर सृष्टि-रचयिता की बुद्धि पर आश्चर्य और सन्देह दोनों होने लगते हैं !

× × ×

संसार में ईश्वर के सिवा ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ मनुष्य अपना सारा हृदय खोल कर रख सके। और जगह कुछ-न-कुछ पर्दा जरूर रहता है। यह क्यों ? इसलिए कि ईश्वर एक की बात दूसरे से नहीं कहता। और आवश्यकतानुसार शरणार्थी की रक्षा और सहायता करता है।

× × ×

मनुष्य के संबंधों में साधारणतः कुछ न कुछ स्वार्थ की, अपेक्षा की बू आया ही करती है, और मनुष्य के सामने दिल खोलने वाले को यह आशंका रहती है कि न जाने कब इसका विपरीत परिणाम निकल आवे।

× × ×

फिर जब कि ईश्वर सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी है, तो फिर उससे कोई बात छिपाकर रक्खोगे भी कहाँ ? यह तो भलमन्सी और अक्लमंदी दोनों का तकाज़ा है कि ईश्वर के सामने मनुष्य सरल भाव से अपना हृदय खोल दिया करे।

× × ×

परन्तु जिस मनुष्य ने सत्य का रास्ता ग्रहण किया है, जो प्रत्येक मनुष्य में उसी ईश्वर का अंश देखता है, जिसे मनुष्य की मूलभूत अच्छाई पर विश्वास है, उसे मनुष्य से इतना चौंकने की क्या आवश्यकता है ?

लोग कहते हैं कि संसार में दुःख अधिक है तो फिर लोग आत्महत्या क्यों नहीं कर डालते ? अथवा बीमार होने पर इलाज क्यों करते-कराते हैं ।

× × ×

इसका कारण कहीं यह तो न हो कि मरने में उन्हें इससे भी अधिक दुःख का भय रहता है ? या यह कि सांसारिक दुःख को सुख में बदलने के प्रयत्न के जो अवसर मिलते हैं उनकी आशा दुःखों को हलका कर देती है—उन्हें प्रसन्नता के साथ सहन कर लेने का बल दे देती है ?

× × ×

ईश्वर की क्या खूबी है कि पत्नी, माता और बहन तीनों के एक साथ सामने आने पर भी मनुष्य के मन में तीन जुदी-जुदी भावनायें पैदा होती हैं ।

× × ×

पहले मैं सरपट दौड़ता चला जाता था। अब फूँक-फूँक कर क़दम रखता हूँ—यह मेरी उन्नति है या अवनति ? प्रगति है या परागति ?

× × ×

जहाँ सरपट दौड़ने की ज़रूरत है वहाँ हिचकना बुज़दिली है; जहाँ आहिस्ते चलने की ज़रूरत है वहाँ भी सरपट दौड़ना अविवेक है। दोनों का परिणाम होगा अवनति या परागति ।

आलस्य में पशुता है, क्रिया में जीवन है, विवेक में मनुष्यता है।

× × ×

भक्ति के हृदय होता है, ज्ञान के आँखें होती हैं, कर्म के पैर होते हैं।

× × ×

भक्ति में व्याकुलता होती है, ज्ञान में शान्ति होती है, कर्म में सजावता होती है।

× × ×

बुद्धि का चमत्कार देखना हो तो शास्त्रों को देखो। हृदय का जादू देखना हो तो कलाओं के पास जाओ।

× × ×

पुरुष को भगवान् ने अपनी बुद्धि से, और स्त्री को अपने हृदय से बनाया है। पुरुष शास्त्र और स्त्री कला है।

× × ×

स्थिति (Position) सब की जुदी है, परन्तु मनुष्य सब में एक है। तुम स्थिति को एक ओर रख कर मनुष्य को देखो आर उससे बातें करो। तुम दोनों का मनुष्य मिल जायगा!

× × ×

स्थितियाँ दूर हटाती हैं, मनुष्य मिलाता है।

× × ×

विद्यार्थी बछड़ा है, और गुरु गाय है।

आजकल की पाठशालाओं के विद्यार्थी 'पढ़ते' कम हैं, 'पढ़ते' अधिक हैं।

× × ×

यदि सारी दुनिया मेरा घर है तो जेलखाने में भी मैं घर समझकर क्यों न रहूँ ? जेल की चीजों को उसी एहतियात से क्यों न रक्खूँ जैसी कि घर की चीज़ों को रखता हूँ—जेल के सामान्य नियमों को उसी भाव से क्यों न पालूँ जिस भाव से अपने आश्रम के नियमों को पालता हूँ ?

× × ×

हमारी संस्थाओं में भी तो ऐसे नियम होते हैं जिन्हें कोई-कोई सदस्य पसन्द नहीं करते हैं; परन्तु पालते तो वे उन्हें भी उसी भाव से हैं। फिर जेल के नियम-पालन में हमारी वृत्ति भिन्न क्यों होनी चाहिए ?

× × ×

हमारी लड़ाई मौजूदा सरकार से है—सारी शासन-पद्धति से है। फिर भी हम डाक, रेल, पुलिस, अदालत, शिक्षा आदि भिन्न-भिन्न विभागों के नियमों को तो पालते ही हैं—फिर जेल में आकर ही हमें बग़ावत क्यों सूझती है ?

× × ×

"यहाँ आकर हम क़दम-क़दम पर अपमानित होते हैं—मनुष्य नहीं पशु समझकर हमारे साथ व्यवहार किया जाता है।" किन्तु यह शारीरिक और मानसिक कष्ट ही तो वह क़ीमत है, जो हम से

आज़ादी के लिए चाही जाती है। यह क़ीमत चुकाने ही तो हम जेलों में आये हैं। क्या यह हमारे लिए अधिक गौरव का विषय नहीं है ?

× × ×

हमारी पहली लड़ाई में ईश्वर की मन्शा इंग्लैंड को जगाने की थी—इस लड़ाई में वह भारत को संकेत कर रहा है। पहली में वह चाहता था कि इंग्लेण्ड आत्मनिरीक्षण करे—अब की चाहता है कि भारत अपने घर को देखे।

× × ×

मैं जितना ही ढोंग करता हूँ उतना ही जगत् को नहीं अपने को ही धोखा देता हूँ। क्योंकि जगत् की दृष्टि मेरी ओर रहेगी और मेरी जगत् की ओर। जगत् उसे हज़ारों आँखों से देखेगा, मैं उसे सिर्फ़ दो आँखों से देखूँगा।

× × ×

यह दूसरों को गाली देने का युग है। इस बीसवीं सदी के कोष में बहादुर का अर्थ है गाली देनेवाला।

× × ×

जिस सेवा के अन्त में मन को सन्तोष और शान्ति नहीं मिलती उसके मूल में हमारा कोई स्वार्थ अवश्य होगा।

× × ×

जब तुमसे मित्रता थी तो तुम्हारी तारीफ करता था, अब झगड़ा हो गया तो बुराई करता फिरता हूँ। वह मित्रता नहीं, सौदा था।

जीवन मृत्यु का विकास और मृत्यु जीवन की परिणति है।

× × ×

प्रसूति-गृह और श्मशान दोनों जीवन के स्थान हैं; एक में वह खेलता है और दूसरे में सोता है।

× × ×

प्रकृति के यहाँ जीवन और मरण का एक ही मूल्य है। एक के लिए हर्ष और दूसरे के लिए विषाद की जगह वहाँ नहीं है। दोनों उसकी उद्देश-पूर्ति के साधन हैं, और दोनों अनिवार्य हैं।

× × ×

प्रकृति के इस रहस्य को जो समझ लेते हैं वे न मृत्यु का शोच करते हैं, न शोक; न उससे भय खाते हैं। जो जन्म से हर्षित होते हैं, उन्हें मृत्यु का शोक अवश्य करना पड़ता है।

× × ×

मृत्यु के रहस्य को समझ लेना ही अमरता है। संसार का प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है, पर नाशवान् नहीं। जो हमको नाश होता हुआ दीखता है, वह वास्तव में रूपान्तर है।

× × ×

हमारे जीवन का दृष्टि-बिन्दु जब तक व्यष्टिगत होता है तभी तक हमारे लिए जीवन और मरण हर्ष-शोकदायी होते रहते हैं। व्यष्टि से आगे बढ़कर दृष्टि जहाँ समष्टिगत हुई नहीं कि जीवन-मरण खेल दिखाई देने लगे नहीं।

गुलाब में चाहे कितनी ही बढ़िया सुगंध क्यों न हो, उसका मूल्य जन-साधारण के लिए खाद की दुर्गन्ध से कम ही है। गुलाब की सुगन्ध थोड़ों को केवल आनन्दित कर सकती है; खाद की सड़न मनुष्य-मात्र को जीवन देती है।

× × ×

अंगूर, तेरी मिठास और गुण मेरे हृदय को खींचे लेते हैं; परन्तु ऐ खाद, तेरी सड़न तो मेरे सामने जीवन का उच्च आदर्श रखती है।

× × ×

यदि पति के मरने से स्त्री—विधवा—अमंगला समझी जाती है तो फिर पत्नी के मर जाने पर पुरुष—विधुर—क्यों न अमंगल समझा जाय ?

× × ×

रे मन, सुनने, समझने, और उपदेश करने में तो तू इतनी उत्सुकता बताता है कि हृदय आनन्द में मग्न हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि कृतार्थ हो गये, तर गये। परन्तु जब पालन करने का अवसर आता है, जब सर पर आकर पड़ती है, तब न जाने क्यों तू अड़ियल टट्टू बन जाता है। उस समय ऐसा मालूम होता है, मानों यह मन किसी और का है।

× × ×

जिस बात को नित्य याद रखने की चेष्टा करते हैं, जिसके लिए नित्य सावधान और जागरूक रहने का यत्न करते हैं, उसी को

ऐन मौके पर भूल जाते हैं, या अपने को गाफ़िल पाते हैं, या रोकते-रोकते भी अपने को नहीं रोक पाते; यह मन की कैसी विचित्रता और प्रबलता है ?

× × ×

मन के बल को ज्यों-ज्यों नापने लगते हैं, त्यों-त्यों उसकी शक्ति अपार और अपनी अल्प मालूम होती है; पर ज्यों-ज्यों हम संयम का यत्न करने लगते हैं, उसपर अंकुश लगाने में सफल होने लगते हैं, त्यों-त्यों लगाम हाथ में रखने वाले सवार की तरह अपने को सुरक्षित और बलवान् पाते जाते हैं।

× × ×

बचपन के संस्कार पत्थर की तरह अमिट साबित होते हैं। इसलिए बचपन की रक्षा एक सती जैसे सतीत्व की रक्षा के लिए सदा सचिन्त और जाग्रत रहती है, उसी तरह करनी चाहिए।

× × ×

कुसंगति के बराबर मनुष्य का शत्रु नहीं। बचपन में तो कुसंगति मीठे ज़हर का काम देती है।

× × ×

आस्तिकता, श्रद्धा, उत्साह और धीरज की परीक्षा विपत्ति और निराशा के ही समय होती है। जो व्यक्ति निःस्वार्थ है, जिसे पद और यश की लालसा नहीं है, कोई उच्च ध्येय जिसके सामने है, कार्य-सिद्धि के सिवा जिसे किसी बात की धुन नहीं

है, साध्य और साधन के सम्बन्ध में जिसकी बुद्धि निर्भ्रम और निश्चित है, जो यह मानता है कि सत्कर्म और सद्भाव का बुरा फल मिल ही नहीं सकता उसमें ये गुण अवश्य पाये जायँगे।

× × ×

मन को व्रतों, नियमों और प्रतिज्ञाओं से इतना बाँध कर हम रखते हैं फिर भी वह चुपके से ऐसा खिसक जाता है कि बड़ी देर के बाद पता लगता है। फिर वह हँसते-हँसते हम को भी इस तरह फुसलाता जाता है, ऐसी-ऐसी मनोहर दलीलें देता है, ऐसे-ऐसे लुभावने दृश्य दिखाता है, कि हम फिसल ही पड़ते हैं और यदि शीघ्र न सँभले तो धड़ाम से गिर पड़ते हैं। जब गिर पड़ते हैं तब यह शैतान तो ला-पता हो जाता है; मौत है बेचारे विवेक की, वह घण्टों जलता-भुनता और सिर धुनता रहता है!

× × ×

जब पुरुषार्थियों की यह दशा है, योद्धाओं की यह गत है, तब उन लोगों पर मुझे दया आये बिना नहीं रहती जो मन के नचाये नाचते रहते हैं, और समझते हैं कि हम अपने-आपके मालिक हैं। वास्तव में वे अभी मन को वश में करने की पाठशाला में ही भरती नहीं हुए हैं!

× × ×

मन की शक्तियाँ अपार और अनन्त हैं, पर यदि हमने उसे अपने वश में करके उनका वैसा ही उपयोग न किया, जैसा कि एक इंजीनियर बिजली या भाफ की शक्तियों का करता है, तो उसकी

बहुतेरी शक्ति बरसात की बाढ़ की तरह व्यर्थ चली जायगी, और लाभ के बदले हानि पहुँचायगी ।

× × ×

सृष्टि के सब पदार्थ ईश्वर-निर्मित हैं, फिर भी हम उनमें अच्छे और बुरे का, हितकर और अहितकर का, उपयोगी और अनुपयोगी का भेद करते हैं । इसी तरह मन की प्रत्येक प्रेरणा, भाव, विचार, तरंग, सब यद्यपि ईश्वर-निर्मित है तथापि उनमें भी हमें पूर्वोक्त अच्छे-बुरे आदि का भेद करना ही होगा । अन्यथा बुद्धि का कुछ उपयोग ही न रह जायगा, और हम देव बनने के प्रयत्न में पशु बन जायँगे । ईश्वर के नज़दीक पहुँचने की चेष्टा करते हुए शैतान के नज़दीक जा पहुँचेंगे ।

× × ×

जब मैं अपनी बुराइयाँ देखने लगूँगा तो दूसरे के प्रति अपने-आप उदार और सहिष्णु बनता जाऊँगा । जिस अंश तक मुझमें दूसरे के प्रति अनुदारता और असहिष्णुता है उस अँश तक, समझना चाहिए कि, मैंने अपनी कमियों, खामियों और बुराइयों को अच्छी तरह नहीं देखा है ।

× × ×

मेरी कृति, मेरी रचना, मेरा आचरण, मेरे प्रतिबिम्ब हैं । ये मुझ से अच्छे नहीं हो सकते ।

किसी में प्रेरक बल होता है, किसी में सञ्चालन-बल होता है, किसी में पथदर्शन-गुण होता है, किसी में दूसरों को अपने साथ खींच ले जाने का बल—प्रचोदन बल—होता है; किसी में संगठन-बल, किसी में प्रबन्ध-पटुता और किसी में संयोजना-शक्ति होती है। ये सब ईश्वरीय देन हैं—या यों कहें कि हमारे पूर्व संस्कारों के फल हैं। मेरी समझ से संयोजना शक्ति इन सब में प्रधान है क्योंकि किससे कितना और कैसा काम लेना इस बुद्धि के बिना ये सब शक्तियाँ स्वतन्त्र-रूप से विशेष उपकारिणी नहीं हो सकतीं।

× × ×

प्रेरक-बल में शुभ भावना, सञ्चालन-बल में आत्मविश्वास, पथ-दर्शन में अनुभव, प्रचोदन में आग्रह, संगठन में व्यापक प्रेम, प्रबन्ध-पटुता में व्यवहार-बुद्धि और संयोजना में विवेक, कौशल और स्वभाव-निरीक्षण की प्रधानता होती है।

× × ×

यदि तुम आत्मिक उन्नति चाहते हो तो मन पर विजय किये बिना छुटकारा नहीं है। यदि मन पर विजय करना हो तो दो बातें करनी होंगी—मन के प्रत्येक कार्य पर कड़ी निगरानी और गलती हो जाने की अवस्था में मन को क्षमा न करना। यदि जीवन में सुख, शान्ति और स्वाधीनता चाहते हो तो आत्मा की ओर गये बिना वह असंभव है।

अनुताप और उपवास ये दो श्रेष्ठ दण्ड-साधन हैं। अनुताप स्वाभाविक और उपवास कृत्रिम दण्ड है। किन्तु उपवास में कई उत्कृष्ट गुण हैं।

× × ×

शारीरिक मलों को मिटाने के लिए, विचार-शक्ति को जाग्रत करने के लिए, मन को प्रफुल्ल बनाने और विकारों को शान्त रखने के लिए उपवास महौषधि है। किन्तु अनुभवी की सलाह अवश्य ले लेनी चाहिए।

× × ×

फूलों को यों चखो तो प्रायः सब कडुवे मालूम होते हैं, परन्तु मधु-मक्खी उन्हीं में से मधु-रस—शहद—एकत्र कर लेती है। मधु-मक्खी के रहते हुए भी ऐ मनुष्य, तू दूसरों के सु-रसों का संग्रह क्यों नहीं करता ?

× × ×

यदि तू किसी से मित्रता करना चाहता है तो उसके हित के लिए कष्ट उठा।

× × ×

तू अधिकार पाने के लिए मुझ से लड़ता क्यों है ? या तो मेरी सद्भावना पर तुझे भरोसा नहीं है, या तेरी योग्यता की छाप मुझ पर नहीं पड़ी है। यदि पहली बात है तो क्या मैं और तरह से तुझे नुकसान नहीं पहुँचा सकता ? यदि दूसरी बात है तो तू मेरे निस्बत अपने से क्यों नहीं लड़ता !

विजय के मानी दूसरे को मिटाना या ज़लील करना नहीं, बल्कि सुनियन्त्रित करना है। विजय के मानी अपने को उद्धत, मदोन्मत और स्वेच्छाचारी बनाना नहीं बल्कि अधिक नम्र, अधिक न्यायी और अधिक ज़िम्मेदार बनाना है।

× × ×

यदि तू तेज़ मिज़ाज है तो तेरा शरीर हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सकता, तेरा मन शान्त और सुव्यवस्थित नहीं रह सकता।

× × ×

यदि तू तुनक मिज़ाज है तो किसी की सहानुभूति यदि तेरे साथ होगी भी तो वह नष्ट हो जायगी।

× × ×

यदि तू हठधर्मी है तो लोग तेरी अच्छी बातों की कदर करना छोड़ देंगे।

× × ×

यदि तू घमण्डी है, अहम्मन्य है तो लोग तुझे गिराने और ज़लील करने की चेष्टा करेंगे।

× × ×

यदि तू विषयासक्त है तो भले आदमी तुझसे मन ही मन घृणा करने लगेंगे।

× × ×

यदि तू मूर्ख है तो भले आदमी तेरे साथ हमदर्दी रक्खेंगे, तेरे दुःख-सुख में शरीक होंगे—यदि तू चुस्त-चालाक और मक्कार है तो

तेरी विपत्ति के समय लोग घर में बैठकर आपस में बातें करेंगे—अच्छा हुआ, ईश्वर ने न्याय ही किया है !

× × ×

भगवान् जाने, जन्म-मरण के फेरे से हमारे प्राचीन लोग इतने क्यों ऊब गये थे ? गर्भवास के दुःखों का इस समय हमें कोई ज्ञान नहीं है—और मृत्यु के दुःख का अनुभव नहीं—पिछले जन्मों की कोई स्मृति नहीं। हमें वास्तव में दुःखों से नहीं, उन कर्मों से घबराना चाहिए जिनका फल दुःख होता है। कुकर्म करना दुष्टता है और उनके फलों से घबराना कायरता है।

× × ×

यदि भगवान् सदा सत्कर्म करने की ही प्रेरणा करता रहे, तो बारबार संसार में आने में क्या बुराई है ? यहाँ आकर तो स्वार्थ-परमार्थ दोनों सधते हैं !

× × ×

हम भारतवासी बड़े दूरदर्शी हैं—या तो सोचेंगे पूर्व जन्म के कर्मों को, या सोचेंगे अगले जन्म के जीवन को; इस जन्म को तो वे इस तरह भूल जाते हैं जैसे नवदम्पती अपने माँ-बाप को।

× × ×

माता में वात्सल्य, पिता में उपयोगिता, पत्नी में अनुराग, मित्र में स्नेह, गुरु में हितकारिता, भाई में ममत्व और बहन में प्रीति होती है।

विवेकानन्द में वेदान्त का ज्ञान, रामतीर्थ में वेदान्त की उछाल, अरविन्द में साधना और गाँधी में वेदान्त का उत्साह या जीवन है।

× × ×

वर्तमान काल के नेता-पिताओं में स्व० पं० मोतीलालजी के ही भाग्य की सराहना की जा सकती है।

× × ×

अब देश के सामने स्व-भाग्य-निर्णय और राष्ट्र-रचना के प्रश्न इतने वेग से आ रहे हैं कि 'साहित्य-सेवा' मध्य-युग की वस्तु मालूम होती है।

× × ×

दमन और संयम भिन्न-भिन्न हैं। दमन में स्वतन्त्रता छीनी जाती है; संयम में बुरी बातों से अपने को बचाया जाता है। दमन प्रायः दूसरे करते हैं; संयम खुद किया जाता है। दमन में दूसरे का बल दबाता है; संयम में अपना ज्ञान बचाता है। दमन बिगाड़ता है, संयम सुधारता है।

× × ×

जिसके घर में साँप घुस गया है और जो इस बात को जानता नहीं है, उस पर हमें क्रोध आवेगा, या दया? तो फिर अज्ञानी, रोगी, पतित पर हमें क्रोध क्यों आना चाहिए? और फिर दया किन लोगों के लिए है?

जब कोई यह कहता है कि भाई, मैं दूसरों पर नहीं, अपने पर ही गुस्सा होता हूँ तो क्या इसका यह अर्थ नहीं होता कि दूसरों के अपराध का दण्ड मैं अपने को ही देता हूँ ?

× × ×

पहले इन्दौर से 'वीणा' निकली, बाद को इन्दौर-राज्य से 'वाणी' निकली। ठीक ही है, सरस्वती ने पहले तो शहर वालों के लिए 'वीणा' भेज दी, अब मुफस्सिल में वे खुद आई हैं। क्या उनकी यह योजना उचित नहीं है ?

× × ×

जहाँ लोग गुण्डों से डरकर, उन्हें पैसा देकर अपनाये रखना चाहते हों वहाँ सज्जनों के लिए घोर कलिकाल ही समझना चाहिए। कच्चे सज्जन भी यदि वहाँ गुण्डा बनने के लिए ललचा जायं तो क्या ताज्जुब है ?

× × ×

पहले माँ मीठी थी, अब कडुवी क्यों होगई ? क्या इसीलिए कि वह अपनी पतोहू को डाटती रहती है ?

× × ×

यदि तू उच्चाकांक्षी है तो तुझमें जोखिम उठाने का, ख़तरों में कूद पड़ने का साहस अवश्य होना चाहिए।

× × ×

कौटुम्बिक और सामाजिक बहिष्कार राजदण्ड से भी भयंकर है। राजदण्डित के साथ सारे देश की सहानुभूति होती है, समाज-बहिष्कृत से वे भी दूर रहने लगते हैं जो घनिष्ट मित्र कहलाते हैं।

बुद्धि कोई सन्तोषजनक उत्तर दे या न दे, जो ईश्वर पर सच्ची श्रद्धा रखता है, वह क़दम-क़दम पर चमत्कारों का अनुभव कर सकता है। दूसरों को जहाँ भयंकर खाई और अलंघ्य पर्वत दिखाई देता है, वहाँ उसके लिए खुला रास्ता मिलता है।

× × ×

ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाला काहिल, सुस्त, निकम्मा, और निष्क्रिय नहीं रह सकता। ईश्वर क्या है? अनन्त, अखण्ड, अक्षय अनवरत चैतन्य शक्ति है! उसका उपासक मन्द और जड़ कैसे हो सकता है?

× × ×

श्रद्धा अन्धता का नहीं, बल और धीरज का चिन्ह है। जहाँ अन्धता है, वहाँ स्व-प्रेरित और अनवरत क्रियाशीलता हो ही नहीं सकती।

× × ×

सिद्धान्त पर, तत्त्व पर, या आदर्श पर आँख मूँद कर श्रद्धा रक्खी जा सकती है, किन्तु व्यक्ति पर नहीं। व्यक्ति पर रखने से पहले इतनी बातों की खूब जाँच कर लो—(१) वह पूर्ण निःस्वार्थ है या नहीं? (२) उसका चरित्र शुद्ध और आदर्श उच्च है या नहीं? (३) जैसा कहता है वैसा करने का हार्दिक प्रयत्न करता है या नहीं? (४) उसका कोई निश्चित जीवन-सिद्धान्त है या नहीं?

तू आईने में अपना मुँह क्या देखता है ? दिल में अपना मुँह देख। आईना तो तेरे चमड़े का रंग तुझे दिखा देगा। दिल तुझे तेरी असली हालत दिखावेगा।

× × ×

यदि तू साधु है, योगी है, तो अंगूर और शहद को देखकर क्यों तेरी आँखें चमकने लगती हैं और चेहरे पर नूर छिटकने लगता है; परन्तु नीम, गिलोय, या कुनेन पीते वक्त क्यों मुँह बिगड़ने लगता है ?

× × ×

यदि सुख और सफलता में तू अधिक उत्साहित होता है तो दुःख और विफलता में अवश्य निराश होगा।

× × ×

देशभक्ति निरंकुशता का परवाना नहीं, आत्मसंयम और आत्मत्याग की कसौटी है।

× × ×

विद्वत्ता यदि हमें ग़ैर-ज़िम्मेवार बनाती है त मूर्ख रहकर हमने अपने धन, समय और श्रम की कितनी बचत की होती।

× × ×

धन और अधिकार यदि हमें उन्मत्त बना देते हैं तो फिर मद्यपान-निषेध का आन्दोलन क्यों व्यर्थ ही किया जाता है ?

× × ×

मन का भाव बदलते ही आँखों का रंग बदल जाता है। किसी के भाव को देखना हो तो उसकी आँखों को अच्छी तरह देखो।

या तो अत्यन्त तेजस्वी या अपराधी मनुष्य आँखों से आँख नहीं मिलाता। तेजस्वी दूसरे को अपने प्रभाव से बचाना चाहता है और अपराधी अपनी कमज़ोरी को छिपाना चाहता है।

× × ×

'अ' की मूँछ के बाल खड़े रहते थे। एक मित्र ने कहा कि जिसकी मूँछों के बाल खड़े होते हैं, उसके बुद्धि कम होती है। अब 'अ' को हम सफाचट देखते हैं। तो अब बुद्धि किसको कम हुई।

× × ×

एक संगीतज्ञ मित्र अपनी नवागता पत्नी की तारीफ़ करते हुए नहीं अघाते। मालूम होता है उन्होंने अपने संगीत की तान उसी को समझ लिया है!

× × ×

मैं जनता का हितैषी हूँ; क्योंकि मैं रूस की सरकार से पैसे लेकर उसके लिए अख़बार निकालता हूँ, व्याख्यान देता हूँ, पर्चे बांटता हूँ, और इसके लिए संघ बनाता हूँ; तुम पूँजीपतियों के पुछल्ले हो; क्योंकि तुम धनिकों से भीख मांग-मांगकर खादी का व्यापार करते हो!!

× × ×

मुझे ऊँचे स्टैंडर्ड से रहना चाहिए; क्योंकि मैं 'कम्युनिस्ट' हूँ मुझे जनता को ऊँचा उठाना है!!

'इतना बड़ा स्वराज्य का आन्दोलन चल रहा है, और तुम अभी तक जेल नहीं गये ?'

'हाँ, क्योंकि कांग्रेस में पूँजीपतियों की प्रधानता है, वह जनता की सच्ची प्रतिनिधि नहीं है !'

× × ×

'तो आप कांग्रेस से स्वतन्त्र रह कर क्यों नहीं जेल जाते ?'

'क्योंकि अहिंसात्मक आन्दोलन में मेरा विश्वास नहीं है !'

× × ×

स्वर्गीय पण्डित मोतीलालजी नेहरू ने एक बार कहा था कि एक प्रभावशाली मुसलमान सज्जन ने उनसे कहा—'पण्डितजी क्या करें, गाँधीजी तो मर्दों के हाथों में चूड़ियाँ पहना देना चाहते हैं। कोई तलवार का प्रोगाम आप बनावें तो मैं दल-बल-सहित कूद पड़ने को तैयार हूँ !'

पण्डितजी ने जवाब दिया—'अजी वाह ! मैं ऐसे ही लोगों की तो तलाश में हूँ। आप कल फिर आइए और हम दोनों मिलकर प्रोग्राम बना लेंगे।'

पण्डितजी बेचारे स्वर्गधाम को सिधार गये; पर उन सज्जन के दर्शन उन्हें फिर न हुए।

× × ×

जो उधर तो आतङ्कवादियों को उकसाते रहते हैं और इधर कांग्रेस में शान्तिवादी बनते हैं वे कायर और बेईमान दोनों हैं।

मनुष्यता की पहली शर्त, ईमानदारी, को तोड़कर वे देश के युवकों को ग़लत रास्ता दिखाने के भी अपराधी हैं।

× × ×

जो देश की राष्ट्रीय सरकार (कॉंग्रेस) को धोखा दे सकते हैं—वे किसे छोड़ेंगे ?

× × ×

मानवी गुणों को धूल में मिलाकर भारत को स्वतन्त्र और उच्च राष्ट्र बनाने की कल्पना करना फ़जूल है।

× × ×

जो शख़्स अपनी ही बात दूसरों से मनवाना चाहता है वह—(१) या तो यह मानता होगा कि मैं सर्वज्ञ हूँ, या (२) यह कि मैं सम्पूर्ण हूँ (३) अथवा यह कि दूसरे की स्वतन्त्रता को ठेस पहुँचा कर भी उसके सिर पर चढ़ने का दुराग्रह उसमें है।

× × ×

यदि किसी दुखी, या अनुतप्त या पीड़ित को देखकर तुम्हारे मन में यह भाव पैदा हो कि अच्छा हुआ, इस को भगवान् ने ठीक ही सज़ा दी है, तो समझो कि तुममें मनुष्यता की कमी है।

× × ×

यदि किसी स्त्री को देख कर उस के रूप की ओर तुम्हारा मन ललचाया तो समझो कि तुम्हारी आँखों में ज़हर भरा हुआ है, जो उससे पहले तुम्हारा सत्यानाश कर देगा।

ी के पतन पर तुम्हें खुशी हो तो समझ लो कि
म्हारा पतन हो रहा है।

× × ×

वह है जो शत्रु के भी गुणों की प्रशंसा करे, जो शत्रु
पर उसके दुःख से दुःखी हो; जो उसकी बुराई को
र जो उसके तेज को मलिन करने का यत्न न करे।

× × ×

परमात्मा की ओर देखता हू तो वह बहुत नज़दीक
है; पर जब जगत् की ओर देखता हूँ तो उसके
भी शंका होने लगती है—कम से कम उसकी न्याय-
तो अवश्य।

× × ×

ने अभी तक जितना कुछ जाना है उसी पर से तो उसने
की गद्दी पर अपना अधिकार साबित कर दिया है। जो
जाना है, वह उस जाने हुए से बहुत अधिक है; उसके
पर तो शायद वह यह दावा करने लगेगा कि केवल पर-
नहीं मैं तो उसका बनानेवाला हूँ।

× × ×

ष्य ज्यों-ज्यों ऊँचा उठता है, ज्यों-ज्यों सूक्ष्म-बुद्धि होता है,
उसका मार्ग बहुत सँकड़ा होता जाता है। परन्तु इस तंग
लहूलुहान पैरों से पैदल चलते हुए उसे जो सुख और

समाधान मिलता है, वह राज-मार्गों में गेंद की तरह उछलती हुई। मोटर पर दौड़ते हुए नहीं मिलता था।

× × ×

तुम मुझे क्यों मान देते हो, जब कि दूसरे उसे चाहते हैं? तुम उनको मुझसे वंचित रख कर मेरी कठिनाइयों की वृद्धि क्यों करते हो?

× × ×

अंगरेज़ों से आने के पहले हम लोग गँवार और पुरुषार्थ-हीन थे; क्योंकि एक कमाता था और दस का पेट भरता था; अब हम सभ्य और स्वावलम्बी हो गये हैं क्योंकि १० कमाते हैं फिर भी दसों का पेट नहीं भरता!!

× × ×

जब चन्दा लेने जाते हैं तो सेठजी व्यापार के टोटे का हाल सुनाने लगते हैं; जब बेटे का ब्याह होता है तो हज़ारों आतिश-बाज़ी, मँगलामुखियों के दर्शन, और भोजों में उड़ा देते हैं! मालूम होता है भगवान् से उन्होंने कोई ठहराव कर लिया है कि जब चन्दा लेने वाले आवें तो व्यापार में नुकसान कर दिया करे और ब्याह-शादी का अवसर आवे तो वारे-न्यारे कर दिया करे!

× × ×

एक दामाद अपने ससुर के यहाँ चन्दे के लिए लिवा ले गये। उनकी आशा और कल्पना के बाहर ससुरजी ने हमें सूखा टरका दिया। एक-दो बातें ऐसी भी कह दीं तो दामाद जी को लग गईं?

बाहर निकलने पर दामाद-मित्र कहने लगे—'माफ़ कीजिएगा, मैं नहीं जानता था कि आपको इस तरह निराश और अपमानित भी होना पड़ेगा।' मैंने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'भाई, यह तो हम जैसों की मज़दूरी है !!'

× × ×

भगवान् भी ज़बरदस्त शिक्षक है। जब मैं कठिनाइयों का स्वागत करने लगता हूँ; कष्ट उठाने का कार्य-क्रम बनाता हूँ तो वह सुविधायें कर देता है। जब मैं उन सुविधाओं से लाभ उठाने लगता हूँ—ग़ाफ़िल होने लगता हूँ तो वह उन्हें चुपके से खींच लेता है।

× × ×

तू स्थितप्रज्ञ है; क्योंकि जब मैं दुखी था तो तू हँसता था; मैं संसारी जीव हूँ; क्योंकि अब तू दुखी है और मैं तेरे लिए रो रहा हूँ !!

× × ×

जब मैं अपने हृदय पर हाथ रखता हूँ तो उसकी धड़कन में तेज़ी मालूम होती है; दिमाग़ को टटोलता हूँ तो वह दिल की शिकायत करता मालूम होता है।

× × ×

दिमाग़ दिल को खींच रखना चाहता है और दिल दिमाग़ को ले भागना चाहता है।

क्या तू मुझ से बैर निकालना चाहता है ? तो फिर मुझे जान से मार डालने की अपेक्षा मेरी बदनामी और बुराई जगत् में क्यों नहीं करता रहता ?

× × ×

छुपकर पाप करना कायरता और खुलकर पाप करना बेहयाई है। पापी के लिए परमात्मा की शरण के सिवा कहीं जगह नहीं है।

× × ×

पाप करके भी जो मूँछे मरोड़ता फिरता है, समझो कि अभी उसका अधःपात बाकी है।

× × ×

जो पाप करके छिपाता है, वह और गिरता है, जो लज्जित होता है वह पाप का रास्ता रोकता है, जो पश्चात्ताप करता है वह पुण्य को निमंत्रण देता है।

× × ×

पाप की कल्पना आरम्भ में अफीम के फूल की तरह सुन्दर और मनोहारिणी होती हैं; किन्तु अन्त में नागिन के आलिंगन की तरह विनाशमयी है।

× × ×

पाप मृत्यु की, विनाश की बंसी है, जिसके काँटे का ज्ञान मछली को लीलते समय नहीं वल्कि मरते समय होता है।

× × ×

बुद्धिमान् वह है जो पाप की आज़माकर परीक्षा न करे। मित्र वह है जो पाप में पड़ने से रोके। शत्रु वह है जो पापकी ओर ले जाय।

मुझे अपने पर विश्वास है; क्योंकि मुझे परमात्मा में विश्वास है। और मैं दूसरे पर विश्वास करता हूँ; क्योंकि मुझे अपने पर विश्वास है।

× × ×

जो आज पर दृष्टि रखता है वह व्यावहारिक, जो कल पर दृष्टि रखता है वह आदर्शवादी कहलाता है। परन्तु ये दोनों अधूरे हैं; पूर्ण वह है जो कल से आज का मेल मिलाता है।

× × ×

सामाजिक कार्यों की गति धीमी और लाभ व्यापक रहेगा। समाज व्यक्ति की तेज़ी से नहीं चल सकता। समाज में सामान्यतः मध्यम-मार्ग ही अधिक सफल हो सकता है।

× × ×

तुमने क्रोध और आवेश में जितना कुछ लिखा है वह चाहे कितना ही सुन्दर हो, निष्ठुर होकर काट डालो। वह सुन्दरता साँप के फन की सुन्दरता की तरह है।

× × ×

आवेश में जो-कुछ भी करोगे उसका पश्चात्ताप पीछे ज़रूर होगा।

× × ×

आँसू हमारे हृदय के मोती हैं। करुणा के आँसू दुखी की सान्त्वना है; पश्चात्ताप के आँसू हृदय की शुद्धि है; शोक के आँसू हृदय की पुकार है; हर्ष के आँसू धन्यवाद और कृतज्ञता की दौड़ है।

क्या तू मुझ से वैर निकालना चाहता है ? तो फिर मुझे जान से मार डालने की अपेक्षा मेरी बदनामी और बुराई जगत् में क्यों नहीं करता रहता ?

× × ×

छुपकर पाप करना कायरता और खुलकर पाप करना बेहयाई है। पापी के लिए परमात्मा की शरण के सिवा कहीं जगह नहीं है।

× × ×

पाप करके भी जो मूँछे मरोड़ता फिरता है, समझो कि अभी उसका अधःपात बाकी है।

× × ×

जो पाप करके छिपाता है, वह और गिरता है, जो लज्जित होता है वह पाप का रास्ता रोकता है, जो पश्चात्ताप करता है वह पुण्य को निमंत्रण देता है।

× × ×

पाप की कल्पना आरम्भ में अफीम के फूल की तरह सुन्दर और मनोहारिणी होती है; किन्तु अन्त में नागिन के आलिंगन की तरह विनाशमयी है।

× × ×

पाप मृत्यु की, विनाश की बंसी है, जिसके काँटे का ज्ञान मछली को लीलते समय नहीं वल्कि मरते समय होता है।

× × ×

बुद्धिमान् वह है जो पाप की आज़माकर परीक्षा न करे। मित्र वह है जो पाप में पड़ने से रोके। शत्रु वह है जो पापकी ओर ले जाय।

'तो मुझे आप क्या काम देंगे ? अपना सेक्रेटरी बना लेंगे ?' उन्होंने उसी तरह येत्तटके कहा—'नहीं, चरखा दूँगा।'

× × ×

एक पैसे वाले मित्र ने लिखा—'मैं चाहता हूँ कि तुम्हें पैसे का कष्ट हो।' अरे भाई, ब्राह्मण को अपने लिए तो पैसे की जरूरत होती नहीं, और देश कार्य के लिए तो वह बड़े से बड़े कष्ट उठाने को तैयार रहता है; फिर पैसे का कष्ट कौन बड़ा है ? यदि वह सच्चा देश-सेवक है तो उसके कष्टों की फिक्र करना उसका काम नहीं है।

× × ×

जब सत्कर्मी को असह्य कष्ट चाहिए कि ई

शीघ्र ही उस पर कृपा करनेवाला

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य (दोनों भाग) १।)
३—तामिलवेद ।।।)
४—शैतान की लकड़ी अर्थात् व्यसन और व्यभिचार ।।।=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ ।।।)
६—भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग) १।।।-)
७—अनोखा ! १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ।।।-)
९—यूरोप का इतिहास (तीनों भाग) २)
१०—समाज-विज्ञान १।।)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ।।।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ।।।=)
१३—चीन की आवाज़ ।-) (अप्राप्य)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग) १)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर ।≡) (गांधीजी) ।≡)
१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ।)।।
२२—अँधेरे में उजाला ।≡)
२३—स्वामीजी का बलिदान ।-)
२४—हमारे ज़माने की गुलामी ।)
२५—स्त्री और पुरुष ।।)
२६—घरों की सफाई ।) (अप्राप्य)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १।।=)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ।।=)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ।।-)

३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे— ।)
३२—गंगा गोविन्दसिंह ॥=) (अप्राप्य)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर— ॥=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=) (अप्राप्य)
३९—तरंगित हृदय ,, ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—ज़िन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) दो खण्ड सजिल्द १॥)
४४—जब अंग्रेज़ आये (ज़ब्त) १।=)
४५—जीवन-विकास अजिल्द १।) सजिल्द १॥)
४६—किसानों का बिगुल =) (ज़ब्त)
४७—फाँसी ! ॥)
४८—अनासक्तियोग तथा गीताबोध ।=)
अनासक्तियोग =)
गीताबोध—(श्लोक-सहित) ~)॥
४९—स्वर्ण-विहान (नाटिका) (ज़ब्त) ।=)
५०—मराठों का उत्थान और पतन २॥) स० जि० ३)
५१—भाई के पत्र १॥) सजिल्द २)
५२—स्व-गत— ।=)
५३—युग-धर्म (ज़ब्त) १=)
५४—स्त्री-समस्या १॥।) सजिल्द २)
५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबला ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—राष्ट्रवाणी ॥=)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ॥।)
६२—हमारा कलंक ॥=)
६३—बुद्बुद ॥)

'इन्दु' स्मृति-माला का चतुर्थ पुष्प.

भक्ति और वेदान्त

(विवेकानन्द ग्रन्थावली संख्या १)

लेखक—

स्वामी विवेकानन्द

अनुवाक—

श्री रामविलास शर्मा, बी० ए० (ऑनर्स)

प्रकाशक—

सरस्वती पुस्तक भण्डार

श्रीराम रोड, लखनऊ.

प्रथमावृत्ति २००० } अक्टूबर सन् १९३३ { मूल्य ।।।=)

प्रकाशक—
रामस्वरूप गुप्त, संचालक—
सरस्वती पुस्तक भंडार,
श्रीराम रोड-लखनऊ.

मुद्रक—
पं० मन्नालाल तिवारी,
हरीकृष्ण कार्यालय शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस,
६६ लाटूश रोड-लखनऊ.

दो शब्द.

"भक्ति और वेदान्त" स्वामी विवेकानन्द के भिन्न-भिन्न स्थानों में दिए हुए चार व्याख्यानों का अनुवाद है। पश्चिम में हमारे धर्म के वे सर्व-प्रथम और सर्व-श्रेष्ठ प्रचारक थे। विलासिता और भौतिकवाद के मद में चूर पाश्चात्य देशों को उन्होंने दिखाया कि सांसारिक सुख से भी बढ़कर एक सुन्दर जीवन है, जो मरने के बाद किसी अन्य लोक में नहीं वरन् इसी संसार में सुलभ है। मनुष्य इसी जीवन में सत्य ज्ञान-(वेदान्त) अथवा सत्य-प्रेम (भक्ति) द्वारा आत्मा और परमात्मा की तन्मयता का अनुभव कर अमरता को पा सकता है। सभी धर्मों का यही ध्येय है और इसी लिए उनमें बाह्य विभिन्नता होने पर भी एक आन्तरिक समानता है। धर्म के रहस्य को स्वामीजी ने भलीभाँति समझाया है।

कुछ दिनों से नवशिक्षित लोगों ने पश्चिम की देखा-देखी अपनी पुरानी रूढ़ियों पर आक्रमण करना तो सीख लिया है; पर सामने कोई निश्चित आदर्श नहीं रक्खा। कहना न होगा कि आज यूरोप और अमेरिका से कहीं अधिक भारतवर्ष में ही स्वामीजी के विचारों के प्रचार होने की आवश्यकता है। भारतीय आदर्श का क्या महत्व है तथा उसके लिए हमें क्यों अभिमान होना चाहिए, पाठक इस पुस्तक को पढ़कर भली-भाँति समझ सकेंगे।

विनीत—

रामस्वरूप गुप्त

सूची-पत्र

भक्ति और वेदान्त

मेरे पथ-प्रदर्शक

[स्वामी विवेकानन्द ने यह व्याख्यान न्यूयार्क में वेदान्त-सोसाइटी के सम्मुख दिया था.]

भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"

(जब संसार से पुण्य उठ जाता है और पाप की बढ़ती होती है, तब मनुष्य-जाति का उद्धार करने के लिए मैं अवतार लेता हूँ।)

बहु-संख्या अथवा अन्य परिस्थितियों के कारण जब संसार में परिवर्तन की आवश्यकता होती है, तभी एक नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। मनुष्य के दो कार्य-क्षेत्र हैं—एक पार्थिव, दूसरा आत्मिक; परिवर्तन दोनों ही क्षेत्रों में होता है। आधुनिक समय में तो यूरोप ही पार्थिव क्रियाओं की रंगभूमि है; पर प्राचीनतम काल से समस्त संसार में आत्मिक

सूची-पत्र

भक्ति और वेदान्त

मेरे पथ-प्रदर्शक

[स्वामी विवेकानन्द ने यह व्याख्यान न्यूयार्क में वेदान्त-सोसाइटी के सम्मुख दिया था.]

भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"

(जब संसार से पुण्य उठ जाता है और पाप की वढ़ती होती है, तब मनुष्य-जाति का उद्धार करने के लिए मैं अवतार लेता हूँ।)

वहु-संख्या अथवा अन्य परिस्थितियों के कारण जब संसार में परिवर्तन की आवश्यकता होती है, तभी एक नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। मनुष्य के दो कार्य-क्षेत्र हैं— एक पार्थिव, दूसरा आत्मिक; परिवर्तन दोनों ही क्षेत्रों में होता है। आधुनिक समय में तो यूरोप ही पार्थिव क्रियाओं की रंगभूमि है; पर प्राचीनतम काल से समस्त संसार में आत्मिक

उन्नति का प्रधान केन्द्र भारतवर्ष ही रहा है। आज भी आत्मिक क्षेत्र में परिवर्तन की आवश्यकता है। भौतिकता अपनी शक्ति तथा प्रसिद्धि के उच्चतम शिखर पर विराज रही है। संभव है कि मनुष्य अपनी स्वर्गीय प्रकृति को भूलकर सांसारिक वस्तुओं पर अधिकाधिक निर्भर होता हुआ पैसा पैदा करने की मशीन-मात्र रह जावे; इसीलिए परिवर्तन की नितान्त आवश्यकता है। भौतिकवाद की घिरती हुई घटाओं का ध्वंस करने के लिए नव-शक्ति का जन्म हो चुका है, रण-भेरी बज चुकी है, यह शक्ति मनुष्य-मात्र को उनकी विस्मृत स्वर्गीयता का पुनः स्मरण करावेगी और एक बार फिर इस शक्ति का जन्म-स्थान एशिया ही होगा। मनुष्यों के कार्य बटे हुए हैं। एक ही मनुष्य सभी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता; फिर भी हम कितने निर्बुद्धि हैं। सरल बच्चा समझता है कि संसार में यदि किसी वस्तु की आकांक्षा की जा सकती है, तो वह उसकी खेलने की गुड़िया है। इसी भाँति एक जाति, जिसने भौतिक शक्ति प्राप्त की है, समझती है कि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया, उन्नति के शिखर पर पहुँच गई, सभ्यता की चरम सीमा को पार कर लिया! अन्य जातियों का, जिन्होंने पार्थिव उन्नति नहीं की, जीना व्यर्थ है। उन्हें जीने का अधिकार नहीं, साथ ही एक जाति भौतिक उन्नति को बिल्कुल ही निरर्थक भी समझ सकती है। प्राच्य ने गम्भीर वाणी से पुकार कर कहा था कि यदि आसमुद्र पृथ्वी आकाश की वस्तुओं का भी कोई जन स्वामी है; पर आत्मिक उन्नति से हीन है, तो

ही दोनों आदर्शों के सहानुभूतिपूर्ण मिश्रण की
आवश्यकता है। प्राच्य के लिए आत्मिक संसार
है, जितना कि पाश्चात्य के लिए भौतिक। आशा
लिए सारी वस्तुएँ उसके लिए वहीं विद्यमान हैं।
रेतार्थ करने के लिए सब कुछ वहीं है। पाश्चात्य
केवल स्वप्न देखता है, उसी भाँति उसके लिये भी
र माया-स्वप्न देखता है। यह देखकर उसे हँसी आती
मस्तिष्क वाले स्त्री-पुरुष मुट्ठी भर मिट्टी को इतना
जिसे उन्हें आज या कल छोड़ना ही पड़ेगा। एक
स्वप्न देखनेवाला बताता है; पर मनुष्य-जाति की
र प्राच्य आदर्श उतना ही आवश्यक है, जितना कि
र जैसा कि मैं समझता हूँ, उससे भी अधिक मशीनों
ति को कभी सुखी नहीं बनाया, न बनावेंगी। जो
हमें विश्वास दिलाता है, वह यही कहता है, कि सुख
न कि मनुष्य के हृदय में। वही पुरुष, जो अपने
मस्तिष्क का स्वामी है, केवल वही सुखी हो सकता
ीं और फिर मशीनों की शक्ति ही क्या है? एक पुरुष
में से बिजली की धारा भेज सकता है, बड़ा मनस्वी
शाली क्यों कहा जाता है? क्या प्रकृति प्रति क्षण

उससे सहस्रों बार अधिक अद्भुत कार्य नहीं करती, तब प्रकृति के चरणों में गिरकर उसकी पूजा क्यों नहीं करते हो? समस्त संसार पर तुमने अधिकार कर लिया, तो क्या हुआ? सृष्टि के अणुमात्र को अपने वश में कर के भी तुम सुखी नहीं हो सकते। यदि सुखी होने की शक्ति स्वयं तुम्हारे भीतर नहीं है, यदि तुमने अपने आपको नहीं जीता। यह सच है कि मनुष्य प्रकृति को जीतने के लिए ही उत्पन्न हुआ है, पर पाश्चात्यों का प्रकृति से तात्पर्य केवल बाहरी भौतिक प्रकृति से ही होता है। निस्सन्देह भौतिक प्रकृति सुन्दर है। उसके पर्वत, नदियाँ, समुद्र—सभी सुन्दर हैं; उसके रूप और शक्तियाँ अनन्त हैं। फिर भी मनुष्य की एक आन्तरिक प्रकृति है, जो सूर्य, चन्द्र और तारागणों से भी ऊँची, भौतिक प्रकृति और संसार से ऊँची, हमारे क्षणभंगुर जीवन बुद्बुदों से जो कहीं अधिक ऊँची है। इस प्रकृति की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में प्राच्य सदा बढ़े रहे हैं जैसे कि पाश्चात्य दूसरे में। अतएव यह योग्य ही है कि जब आत्मिक क्षेत्र में कोई परिवर्तन हो, तो उसका श्रीगणेश प्राच्य में ही हो। साथ ही प्राच्य भी जब मशीन बनाना सीखना चाहे, तो उसे पाश्चात्य के चरणों का आश्रय ले सीखना चाहिए। और जब पाश्चात्य जीव, आत्मा, परमात्मा व इस सृष्टि के रहस्य को समझना चाहे, तो उसे प्राच्य की दीक्षा लेनी चाहिए।

मैं आप लोगों के सम्मुख एक ऐसे पुरुष की जीवनी वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसने भारतवर्ष में ऐसे ही आन्दोलन को जन्म

दिया था। पर इसके पहिले मैं यह समझाने की चेष्टा करूँगा कि भारतवर्ष है क्या? उसका रहस्य क्या है? जिनकी आँखों में भौतिक वस्तुओं की चमक-दमक ने चकाचौंध उत्पन्न कर दी है, जिन्होंने 'खाओ, पियो, मौज करो' के आदर्श की वेदी पर अपने जीवन को अर्पित कर दिया है, धन और भूमि ही जिन्हें सबसे अधिक अभीप्स्य है, इन्द्रिय-सुख ही जिनके लिए वास्तविक सुख है, पैसा जिनका परमेश्वर और मृत्यु-पर्यन्त विलासमय जीवन, विताना जिनका ध्येय है, जो आगे देख नहीं सकते, विषय-वासना और सुख की वस्तुओं से घिरे हुए जो उनसे ऊँची बातें सोच नहीं सकते, ऐसे पुरुष जब भारतवर्ष में जाते हैं, तो क्या देखते हैं? निर्धनता, दीनता, अन्ध-विश्वास, अन्धकार, सर्वव्यापी जघन्यता! क्यों इसलिए कि ज्ञान का अर्थ उनके लिए है अच्छी पोशाक, शिक्षा, व्यावहारिक सभ्यता। पाश्चात्य जातियां ने अपनी भौतिक उन्नति करने के लिए कुछ उठा नहीं रक्खा; पर भारतवर्ष ने वैसा नहीं किया। समूची मानवजाति के इतिहास में संसार की यदि किसी जाति ने अपनी सीमाओं को लाँघकर अन्य जातियों को जीतने की इच्छा नहीं की, तो वह हमारी हिन्दू जाति ही है! भारतवासियों ने पराया धन पाने की चेष्टा कभी नहीं की। उनका दोष केवल इतना था कि उनकी भूमि बहुत उपजाऊ थी, उनकी बुद्धि बहुत प्रखर थी, जिससे कि उन्होंने अपने हाथों की गाढ़ी कमाई से अगाध धन-सम्पत्ति इकट्ठी की, जिसे देखकर

ज्ञातियाँ लुभाती रहीं और आकर उसे हर ले गईं। धन देकर और वर्बर कहाकर भी उन्हें सन्तोष है, बदले में वे संसार को सर्वश्रेष्ठ और सर्वव्यापी परमात्मा के सौन्दर्य को दिखाना चाहते हैं। जिस पर्दे के पीछे वास्तविक मनुष्य छिपा हुआ है, उसे वे तहस-नहस कर डालना चाहते हैं; क्योंकि वे इस स्वप्न का अर्थ समझ गये हैं और जानते हैं कि इस भौतिकवाद के पीछे मनुष्य की वह अमर स्वर्गीय प्रकृति रहती है, जिसे कोई पाप, दुष्कर्म व वासना दूषित अथवा कलुषित नहीं कर सकती, जिसे अग्नि जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता, गर्मी सुखा नहीं सकती, मृत्यु भी जिसे मार नहीं सकती। उनके लिए मनुष्य की यह वास्तविक प्रकृति उतनी ही सत्य है, जितना कि किसी पाश्चात्य के लिए कोई भौतिक पदार्थ। जिस प्रकार तुम 'हुर्रे' की ध्वनि करते हुए तोप के मुँह में कूद सकते हो, स्वदेश के लिये वीरतापूर्वक अपना जीवन दे सकते हो, उसी प्रकार वे अपने ईश्वर के नाम पर वीरता के कार्य कर सकते हैं। इसी वीरता पर एक मनुष्य जो कहता है कि संसार विचारमात्र है, मिथ्या स्वप्न है, यह दिखाने के लिये कि जिस बात पर उसे विश्वास है, सत्य है, अपने कपड़े-लत्ते, धन-दौलत, सब त्याग देता है, इसी वीरता पर एक पुरुष जीवन को अमर जान नदी के किनारे शरीर को किसी क्षुद्र वस्तु की भाँति त्याग देना चाहता है, वैसे ही जैसे तुम किसी तृण का त्याग कर सकते हो। अपनी वीरता के कारण वे मृत्यु का एक सहोदर के समान सामना कर सकते

हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उनके लिये कोई मृत्यु नहीं है। इसी वीरता ने उन्हें शताब्दियों के विदेशी आक्रमणों और निर्द्वन्द अत्याचारों के सम्मुख अजेय रक्खा है। वह जाति आज भी जीवित है और उस जाति में इस जघन्य दुर्दशा और विपत्ति के दिनों में भी आत्मिक उन्नति के प्रबल महारथी उत्पन्न हुए हैं। जैसे कि पाश्चात्य ने विज्ञान व राजनीति में उद्भट विद्वान् उत्पन्न किये हैं, वैसेही एशिया ने आत्मिक क्षेत्र में महान् पथ-प्रदर्शकों को जन्म दिया है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में जब भारतीय विचार-धारा पर पाश्चात्य आदर्शों ने स्वाधिकार जमा लिया, जबकि विजेता वीर हाथ में सिरोही लिये ऋषियों की सन्तानों से कहने लगे कि तुम लोग बर्बर हो, अभी तक केवल स्वप्न देखते रहे हो, तुम्हारा धर्म दन्तकथाएँ मात्र हैं, आत्मा, परमात्मा आदि जो कुछ भी पाने की तुम सदियों से अभिलाषा कर रहे हो वह अर्थहीन शब्द भर हैं, तुम्हारे आत्मिक युद्ध के सहस्रों वर्ष, अपूर्व त्याग की अनन्त शताब्दियाँ सब व्यर्थ ही गईं, तब विद्यालयों के नवयुवकों में इस प्रश्न को लेकर खूब वाद-विवाद हुआ कि आज तक का हमारा जातीय जीवन क्या योंही नष्ट हो गया! क्या वे अपनी धर्म-पुस्तकें फाड़ डालें? अपने दर्शन जला डालें? अपने उपदेशकों को मार भगावें? अपने मन्दिरों को ढहा दें और एक बार पाश्चात्य आदर्श के अनुसार अपने जातीय जीवन का फिर आरंभ करें?

पाश्चात्य विजेता ने, जो बन्दूक और तलवार लिये अपने धर्म

का प्रचार कर रहा था पुकारकर कहा, कि तुम्हारे पुराने ग्रन्थ अन्ध-विश्वास और पाषाण-पूजा भर हैं। नए स्कूलों में शिक्षा पाये हुए बच्चे, जिन्होंने बचपन से ही पाश्चात्य विचारों को ग्रहण किया था, अपने नवीन आदर्श पर कार्य करने लगे। आश्चर्य नहीं कि चारों ओर मानसिक अशान्ति उत्पन्न हुई। पर अन्ध-विश्वास छोड़ सत्य की सच्ची खोज करने के बजाय, सत्य की कसौटी यह हुई कि 'पाश्चात्य क्या कहता है?' ब्राह्मण पण्डितों को मार भगाओ, वेदों को जला दो, क्यों? इसलिये कि पाश्चात्य ने कहा है। इस मानसिक अशान्ति ने 'सुधार' की एक नई लहर पैदा कर दी।

पर यदि तुम सच्चे सुधारक होना चाहते हो, तो तीन बातों की आवश्यकता है। पहिली यह कि तुम्हें वास्तविक सहानुभूति होनी चाहिए। अपने भाइयों के दुख से क्या तुम सचमुच ही दुखी हो? तुम सत्य ही समझते हो कि संसार में दुःख, अज्ञान और अन्ध-विश्वास भरा हुआ है? क्या इस विचार ने तुम्हारे सारे मस्तिष्क पर अधिकार कर लिया है। तुम्हारी रक्त-विन्दुओं के संग क्या यह विचार भी तुम्हारी धमनियों में दौड़ता है? क्या तुम्हारा हृदय समवेदना से विकल हो चुका है, यदि ऐसा है, तो सीढ़ी का अभी यह पहला डंडा है। इसके अनन्तर तुम्हें सोचना चाहिए कि तुम्हारा कोई निश्चित पथ भी है या नहीं। पुराने विचार सब अन्ध-विश्वास ही क्यों न हों इन्हीं अन्ध-विश्वास की काली घटाओं

के भीतर सत्य और ज्ञान की स्वर्ण-ज्योति छिपी हुई है। क्या तुमने बादलों की कालिमा के उस पार उस पुण्य-प्रभा के दर्शन किए हैं? यदि यह सब किया है, तो यह अभी दूसरा डंडा है। अभी एक बात की और आवश्यकता है। तुम्हारा उद्देश्य क्या है? धन, वैभव अथवा प्रसिद्धि की अभिलाषा ने तो तुम्हें कार्य के लिए उत्साहित नहीं किया? क्या तुम्हें विश्वास है कि अपने आदर्श पर तुम सदा डटे रहोगे? सारा संसार तुम्हें पैरों की ठोकरें दे, तो भी तुम पीछे पग न हटाओगे? क्या तुम्हें अपना लक्ष्य साफ़-साफ़ दिखाई देता है? कर्तव्य-कर्म के लिए अपना जीवन तक उत्सर्ग करने के लिए क्या तुम तैयार हो? जब तक जीवन रहेगा, हृदय की एक भी धमनी में रक्त बहेगा, तब तक निरन्तर अपना कार्य ही करते जाओगे? ऐसा करने पर ही तुम सच्चे उपदेशक, सुधारक, पथ-प्रदर्शक तथा विश्व के सच्चे कल्याणकारी हो सकोगे। पर मनुष्य कितना बेसबरा, कितना अदूरदर्शी होता है! विलम्ब उसे असहनीय है। भविष्य को वह देख नहीं सकता। क्यों? इसलिए कि कर्म करके कर्मफल भी वह शीघ्र ही चाहता है। उसे दूसरों से निष्काम सहानुभूति नहीं है। 'कर्म केवल कर्म के लिए' उसका आदर्श नहीं है। कृष्णजी ने कहा था—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।"

तुम्हारा अधिकार कर्म करने का है, कर्मफल की चिन्ता क्यों करते हो? कर्म करो, कर्मफल को अपनी फ़िकर आप करने

दो। पर मनुष्य में सहनशीलता तनिक भी नहीं है। नेता बनने का इच्छुक वह किसी भी पथ पर चल पड़ता है। संसार के सुधारक अधिकांश इसी श्रेणी के पुरुष होते हैं।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ इस सुधार-आन्दोलन का तब जन्म हुआ था जबकि भौतिकवाद की लहरें भारतीय किनारों से टकरा रहीं थीं और ऐसा मालूम होता था कि वे हमारे सभी आर्ष सिद्धान्तों और आदर्शों को बहा ले जावेंगी। पर इस देव-भूमि के तट पर ऐसी न जाने कितनी ही लहरें टक्कर मार चुकी थीं। उनके सामने यह तो बहुत हल्की थी। शताब्दियों तक अनेक लहरों ने आकर हमारे देश को आन्दोलित किया है तथा जो कुछ उनके सामने पड़ा है, उसे नष्ट कर डाला है; इस्लाम की तलवार यहाँ चमक चुकी है और दीन और अल्लाह की ध्वनि ने भारतीय आकाश को कम्पायमान कर दिया है फिर भी यह सब तूफ़ान शान्त हो गए हैं और हमारे जातीय आदर्श जैसे के तैसे बने रहे हैं।

हमारी भारतीय जाति का नाश हो नहीं सकता। आज भी वह अमर खड़ी है और तब तक इसी भाँति अटल और अमर खड़ी रहेगी जब तक कि भारतीय अपने आर्ष आदर्शों का त्याग न करेंगे, जब तक कि वे अपनी आत्मिकता को न छोड़ेंगे। भारतीय दीन, हीन, भिखारी होकर ही क्यों न रहें; दीनता और ...िद्र उन्हें कदाचित् सदैव के लिए ही क्यों न घेरे रहें, पर वे ...पने परमात्मा को न छोड़ेंगे, वे यह कभी न भूलेंगे कि वे

ऋषियों की सन्तान हैं। जैसे कि पश्चिम में निर्धन से निर्धन जन भी अपनी उत्पत्ति किसी तेरहवीं शताब्दी के डाकू सर्दार से ढूँढ निकालने में अपना गौरव समझता है, उसी प्रकार भारतीय सिंहासन पर बैठा हुआ एक चक्रवर्ती सम्राट् भी, किसी वनचारी भिक्षुक ऋषि का, जिसने वल्कल-वस्त्र पहन, कन्द मूल-फल खाकर, परमेश्वर के अनन्त सौन्दर्य के दर्शन किए हों, अपने आपको वंशज बताकर गौरव मानता है। ऐसे ही पुरुषों से उत्पत्ति ढूँढ निकालने में हमारा गौरव है और जब तक पवित्रता इस प्रकार पूजी जायगी, भारतवर्ष अमर रहेगा।

इसी समय जब भारतवर्ष में विविध प्रकार के सुधार आन्दोलन हो रहे थे, बंगाल के एक सुदूर गाँव में २० फेब्रुअरी सन् १८३५ ई० को एक निर्धन ब्राह्मण-दम्पति के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक के माता-पिता दोनों ही कट्टर ब्राह्मण थे। एक सच्चे कट्टर ब्राह्मण का जीवन वास्तव में त्याग का जीवन होता है। उसके लिए बहुत थोड़े पेशे हैं और केवल धन-दौलत उत्पन्न करने का तो वह कोई कार्य नहीं कर सकता। उसे फिर दूसरों का दान भी न लेना चाहिए। आप लोग सोच सकते हैं, उनका जीवन कितना कठोर होता होगा। आप लोगों ने ब्राह्मण जाति के विषय में अनेक बातें सुनी होंगी; पर कभी अपने हृदय में यह न सोचा होगा कि भला, ऐसी क्या बात है जिससे इस जाति ने अन्य जातियों पर इतना प्रभाव जमा रक्खा है। देश की सभी जातियों में यह जाति सबसे अधिक ग़रीब है। उनके प्रभाव का रहस्य है, उनका

त्याग। धन सम्पत्ति की वे कभी कामना नहीं करते। संसार के जितने धर्म-गुरु समुदाय हैं, भारतीय ब्राह्मण समाज उन सबसे ही अधिक निर्धन है, और इसी कारण उन सबसे अधिक शक्तिशाली भी है। ऐसी निर्धनता में भी एक ब्राह्मण स्त्री एक ग़रीब आदमी को बिना कुछ खाने को दिये हुए गाँव से न चला जाने देगी। भारतीय माता का यह श्रेष्ठ कर्तव्य माना जाता है। माता होने से अन्त में, सबको खिलाकर उसे स्वयं खाना चाहिए। इसलिये भारतवर्ष में माता की ईश्वर के समान उपासना की जाती है। वर्तमान शिशु की माता एक आदर्श माता थी। जितनी ही ऊँची जाति होती है, उतने ही विशेष नियम उसे पालन करने पड़ते हैं। नीची जातिवाले जो चाहें खा पी सकते हैं; पर जैसे ही सामाजिक श्रेणियों में ऊपर चढ़ो, रहन-सहन और खान-पान के नियम भी वैसे ही बढ़ते जाते हैं। और ब्राह्मण जाति में पहुँचकर जो कि सबसे ऊँची जाति है और भारतवासियों की गौ रूपी धर्म-गुरु है, नियम इतने अधिक हो जाते हैं कि जीवन बहुत ही संकुचित हो जाता है। पाश्चात्य खान-पान और रहन-सहन को देखते हुए तो उनका जीवन घोर तपस्या है। पर उनमें बड़ी दृढ़ता होती है। कोई भी विचार हाथ आ जाने पर वे उसके अन्त तक ही पहुँच कर छोड़ते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे उसी विचार को पकड़े रहते हैं, जब तक कि उसका सार नहीं नि लेते।

कट्टर हिन्दुओं का जीवन इस प्रकार बहुत ही एकान्त होता

नके विचार, उनकी भावनाएँ उन्हींकी होती हैं। पुरानी
ों में उनकी जीवनचर्या प्रत्येक छोटी से छोटी बात को
ान रखकर वर्णित की गई है और उन्होंने भी प्रत्येक
को वज्र-हाथों से पकड़ रक्खा है। भूखे मरना उन्हें स्वी-
है पर इतर जाति के पुरुष का बनाया भोजन कदापि ग्रहण
ंगे। पर उनमें सच्ची लगन और अपार दृढ़ता रहती
कट्टर हिन्दुओं का जीवन प्रगाढ़ विश्वास और अनुपम
वरण का जीवन है। अपने प्रगाढ़ विश्वास के ही कारण तो
ट्टर होते हैं। हम सब लोगों के लिए चाहे उनका पथ जिसका
त दृढ़ता से अनुसरण करते हैं, ठीक न हो ; पर उनके लिए
। हमारी धर्म-पुस्तकों में लिखा है कि मनुष्य को सीमा के
र भी दानी होना चाहिए। यदि एक जन दूसरे की प्राण-रक्षा
लिए स्वयम् भूखा रहकर अपने प्राण गँवाता है, तो वह ठीक
ा है। यही नहीं, प्रत्युत उसे ऐसा आचरण करना भी
हिए। ब्राह्मण से आशा की जाती है कि इस विचार को वह
कठोर सीमा तक अनुसरण करे। जो भारतीय साहित्य से
चित हैं, उन्हें महाभारत की एक सुन्दर कथा याद आवेगी
समें एक समूचे परिवार ने भूखे रहते हुए अपना अन्तिम
ोसा हुआ भोजन एक भिखारी को देकर प्राण त्याग दिए।
में कोई अत्युक्ति नहीं ; क्योंकि ऐसी बातें अब भी होती हैं।
र गुरु के माता-पिता का चरित्र भी बहुत कुछ इसी प्रकार का
। वे बहुत ही निर्धन थे। फिर भी बहुधा एक गरीब आदमी

को भोजन देकर माता दिनभर स्वयं विना अन्न के रहतीं। ऐसे माता-पिता के घर यह बालक जन्मा था और आरम्भ से वह एक अद्भुत बालक था। उसे अपना पिछला जीवन जन्म से ही याद था। जिस लिये वह संसार में आया था उसका भी उसे ध्यान था अपने ध्येय की पूर्ति के लिए उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। अभी वह बिल्कुल बच्चा ही था जबकि उसके पिता का स्वर्गवास हो गया। बच्चा पढ़ने के लिए पाठशाला में बिठाया गया। ब्राह्मण-पुत्र को पाठशाला अवश्य जाना चाहिए; क्योंकि जाति-नियमों के कारण वह केवल विद्या-सम्बन्धी कार्य कर सकता है। भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली जो आज भी वहाँ अनेक स्थानों में विशेषकर सन्यासियों में प्रचलित है, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से बिल्कुल भिन्न थी। विद्यार्थियों को कोई शुल्क न देना होता था। विद्या इतनी पवित्र समझी जाती थी कि धन लेकर उसका क्रय करना एक नितान्त गर्हित कार्य गिना जाता था। विद्या निःशुल्क, विना किसी रोक-टोक के दी जानी चाहिए। शिक्षक विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा ही न देते थे; प्रत्युत् बहुत से उन्हें अपने पास से भोजन-वस्त्र भी देते थे। इन शिक्षकों के पोषण के लिए कुछ धनी परिवार विवाह आदि के अवसर पर अथवा किसी मृतक की अन्तक्रिया आदि करने पर उन्हें समुचित धन देते थे। कुछ दान उनके बँधे हुए थे जिसके बदले उन्हें विद्यार्थियों का पालन करना होता था। इस बालक का बड़ा भाई बहुत विद्वान् था। वह उसीके पास विद्याध्ययन के

लिए गया। थोड़े ही दिनों में इस बालक को विश्वास हो गया कि सांसारिक विद्याओं का लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति की ओर ही है। इसलिये उसने अध्ययन छोड़ आत्मिक ज्ञान को खोजने का निश्चय किया। पिता की मृत्यु होने से यह परिवार और भी निर्धन हो गया था। बालक को अपनी जीविका आप उपार्जित करनी थी। कलकत्ते के पास एक जगह जाकर वह एक मन्दिर का पुजारी हो गया। ब्राह्मण के लिए पुजारी-कार्य बहुत निन्द्य समझा जाता है। हमारे मन्दिर आप लोगों के गिर्जाघरों की भाँति नहीं हैं। जनता वहाँ उपासना के लिए नहीं आती; क्योंकि भारतवर्ष में सार्वजनिक उपासना की प्रणाली नहीं है। धनी पुरुष केवल धार्मिक कार्य जानकर मन्दिर बनवाते हैं।

यदि किसीके पास अधिक धन-सम्पत्ति होती है, तो वह एक मन्दिर बनवाता है। उसमें ईश्वर के किसी अवतार की मूर्ति की वह स्थापना करता है। फिर ईश्वर के नाम पर पूजा के लिए उसे अर्पित कर देता है। उपासना बहुत कुछ आप लोगों के रोमन कैथलिक गिर्जाघरों की सी होती है यथा धार्मिक पुस्तकों में से कुछ वाक्य पढ़ना, मूर्ति की आरती करना, मूर्ति का सब प्रकार से आदर-सम्मान करना जैसे कि हम किसी महान पुरुष का करते हैं; मन्दिर में केवल यही होता है। जो मन्दिर में नित्य जाता है, वह न जाने वाले से कुछ बहुत अधिक धार्मिक नहीं माना जाता। वास्तव में न जानेवाला अधिक धार्मिक समझा जाता है, क्योंकि भारतवर्ष में धर्म प्रत्येक पुरुष का अपना विशेष

कार्य है। वह अपनी उपासना स्वेच्छानुसार अपने घर भीतर बैठकर ही करता है। प्राचीन-काल से ही हमारे देश में पुजारी-वृत्ति निन्द्य समझी गई है। इसके पीछे एक विचार और छिपा है। पैसा लेकर विद्या देना जब निन्द्य समझा गया है तब धर्म के लिए पैसा लेना और व्यापार करना तो उससे कहीं अधिक जघन्य कार्य है। आप सोच सकते हैं कि उस बालक के हृदय पर क्या वीती होगी जब जीविका के लिए वाध्य हो उसे पुजारी-वृत्ति गृहण करनी पड़ी होगी।

वंगाल में ऐसे अनेक कवि हो गए हैं, जिनके गीतों ने साधारण जनता के हृदय को मोह लिया है। कलकत्ते की गलियों में और प्रत्येक गाँव में वे गीत गाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश धार्मिक गीत हैं। उनका मुख्य विषय जो कि सभी भारतीय धर्मों में समानरूप से पाया जाता है, ईश्वर की अनुभूति है। भारतवर्ष में कोई भी धार्मिक पुस्तक ऐसी नहीं है, जिसमें इसी विचार का प्रतिपादन न किया गया हो। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात् अनुभव होना चाहिए, उसे देखना चाहिए, उससे वातचीत करना चाहिए; यही धर्म है। भारत में अनेक महात्माओं की कथाएँ प्रसिद्ध हैं, जिन्हें ईश्वर ने दर्शन दिए हैं। ऐसे ही सिद्धान्तों पर भारतीयों का धर्म स्थिर है। उनकी धार्मिक पुस्तकें और ग्रन्थ ऐसे पुरुषों के लिखे हुए हैं जिन्हें आत्मिक विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव था। यह पुस्तकें मस्तिष्क के लिए नहीं लिखी गईं न कितनी ही तर्क-बुद्धि उन्हें समझ ही सकती है; क्योंकि इन्हें उन

पुरुषों ने लिखा था जिनका अनुभव प्रत्यक्ष था। बिना उनकी समानता प्राप्त किए कोई उन्हें समझ नहीं सकता। वे कहते हैं कि इस जीवन में ही ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव संभव है और धर्म का आरंभ इस प्रकार की अनुभव-क्रिया से ही होता है। सभी धर्मों का समानरूप से यह आन्तरिक सिद्धान्त है। इसी कारण एक जन जिसने वक्तृत्वकला में पूर्ण निपुणता प्राप्त की है तथा जिसकी तर्क-बुद्धि भी अत्यन्त प्रखर है, जब हमारे यहाँ बड़े लम्बे-चौड़े उपदेश देता है, तो भी कोई उसकी बात सुनने नहीं आता। इसके विरुद्ध एक निर्धन पुरुष को जो अपनी मातृ-भाषा भी कठिनता से बोल सकता है, आधा देश उसके जीवनकाल में ही उसे ईश्वर के समान पूजने लगता है। लोगों को किसी प्रकार विश्वास हो जाता है कि उसे प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है, धर्म उसके लिए तार्किक विवेचना का विषय-भर ही नहीं है, तथा वह धर्म, परमात्मा, आत्मा की अमरता आदि विषयों पर अँधेरे में ही नहीं टटोल रहा है। देश के कोने-कोने से आकर लोग उसके दर्शन करते हैं और धीरे-धीरे उसे ईश्वर का अवतार मान उसकी पूजा करने लग जाते हैं।

मन्दिर में अभयदायिनी माता की एक मूर्ति थी। यह बालक सन्ध्या, सवेरे उसकी पूजादि कार्य करवाता था। धीरे-धीरे उसके मन में यह प्रश्न बार-बार उठने लगा कि 'इस मूर्ति के पीछे क्या वास्तव में कुछ है? क्या यह सत्य है कि संसार में एक अभयदायिनी माता है? क्या वह चैतन्यरूप से रहती हुई संसार

की गति को निश्चित् करती है ? अथवा यह सब स्वप्न है ! धर्म में क्या कोई तथ्य है ?' इस प्रकार के तर्क-वितर्क का समय प्रायः प्रत्येक हिन्दू बच्चे के लिये आता है। हमारे देश में सन्देह करने का यह एक स्थायी विषय है कि जो हम कर रहे हैं, वह सत्य है वा नहीं। कोरे तार्किक सिद्धान्तों से हमें सन्तोष नहीं होता। यद्यपि आत्मा-परमात्मा के विषय में जितने भी तर्क-सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ विद्यमान हैं। तर्क और पुस्तकें लोगों को सन्तोष नहीं देतीं ; क्योंकि सहस्रों पुरुषों के हृदय पर इसी प्रत्यक्ष ईश्वरानुभूति के विचार ने अधिकार जमा रक्खा है। क्या सत्य ही परमेश्वर कहीं है ? यदि है, तो क्या मैं उसे देख सकता हूँ ? क्या मैं सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता हूँ ? पाश्चात्यों के लिये यह सब बहुत ही असंभव जँचेगा पर हम लोगों के लिए इससे अधिक संभव कुछ नहीं। इस सिद्धान्त के लिए मनुष्य अपना जीवन तक उत्सर्ग कर देंगे। इसी विचार के पीछे सहस्रों हिन्दू प्रतिवर्ष अपना घर-बार छोड़ देते हैं और उनमें से बहुत से आगामी कठिनाइयों का सामना न कर सकने के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। पाश्चात्य देशीयों के लिए यह सब बहुत ही काल्पनिक जँचेगा और मैं उसका कारण भी समझता हूँ ; पर पश्चिम में इतने वर्ष रहकर भी मैं समझता हूँ कि ऐसे विचार वाला जीवन ही वास्तविक जीवन है।

जीवन क्षण-स्थायी है ; चाहे तुम गली में काम करनेवाले मजदूर हो, चाहे लाखों जनों के ऊपर राज्य करनेवाले चक्रवर्ती

। हिन्दू कहता है कि जीवन की इस पहेली की केवल
, परमात्मा और धर्म। यदि ये सत्य हों, तो जीवन
हने योग्य तथा सार्थक होता है; नहीं तो जीवन व्यर्थ
क है। यह हमारा प्राच्य सिद्धान्त है; पर कोई भी
सिद्ध नहीं कर सकता। वह केवल उसे संभव कर
इससे अधिक नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव इन्द्रियों द्वारा
सरों को धर्म की सत्यता दिखाने के लिए हमें धर्म की
भूति होनी चाहिए। तत्पश्चात् ईश्वर में विश्वास करने
ईश्वर का साक्षात् अनुभव चाहिए। इसलिए हमारा
हमें इन वस्तुओं की सत्यता बता सकता है।
चार ने बालक के हृदय को अपने वश में कर लिया।
र का प्रतिक्षण वह इसी विषय का चिन्तन करते हुए
दिन प्रतिदिन वह रो-रोकर कहता—'माता, तू सत्य
अथवा यह सब कोरी भावुकता है? तेरा अस्तित्व
गों और कवियों की कल्पना-मात्र है या एक अखण्ड
स्तकों की विद्या से वह अनभिज्ञ था तथा स्कूली
मिली न थी। इसलिए उसका मस्तिष्क और भी
भाविक और ताजा था। दूसरों के विचारों को न
रण उसके अपने विचार और भी पवित्र थे। यह
दिन उसके हृदय में जोर पकड़ता गया यहाँ तक कि
अन्य किसी बात की कुछ भी चिन्ता न होती।

पूजा वह भली-भाँति न करा पाता। छोटी छोटी बातों में भूल हो जाती। कभी वह मूर्ति का भोग लगाना भूल जावे, कभी सारे दिन आरती ही उतारा करे तथा और सब बातें भूल जावे। अन्त में मन्दिर में पुजारी-कार्य करना उसके लिए असंभव हो गया। मन्दिर छोड़ उसने एक समीपवर्ती वन में प्रवेश किया और वहाँ रहने लगा। अपने जीवन के इस भाग का इतिहास उन्होंने मुझसे कई बार कहा है। बालक को सूर्य के उदय-अस्त का भी ज्ञान न होता, न यही ध्यान था कि मैं किस प्रकार रह रहा हूँ। अपनी ओर से उसे पूर्ण विस्मृति हो गई तथा उसे खाने-पीने की भी सुधि न होती। इस समय एक दयालु सम्बन्धी उसकी प्रेम-पूर्वक देख-भाल करता तथा उसके मुँह में भोजन रख देता, जो वह चुपचाप स्वभाववश चबा लेता।

बालक के रात्रि दिन इसी प्रकार बीतने लगे। पूरा दिन बीत जाने पर संध्या समय जब मन्दिर के घण्टों की मधुर ध्वनि तथा उपासकों के गीत का मोहक शब्द वन-वृक्षों की शाखा-प्रशाखाओं को भेदकर बालक के कानों तक पहुँचता, तो वह बहुत दुखी होता और कातर होकर कहता—'माता एक दिन और भी व्यर्थ गया और तू न आई। मेरे इस लघु-जीवन का एक दिन बीत गया और मुझे सत्य के दर्शन न हुए।' कभी तो बहुत ही कातर हो जमीन पर लोट-लोटकर वह खूब रोता।

सत्य ज्ञान के लिए मनुष्य-हृदय में उत्पन्न होनेवाली यह तीव्र पिपासा थी। इसी पुरुष ने मुझसे कहा था—'मेरे

वच्चे, यदि एक कोठरी में एक स्वर्ण-मुद्राओं की थैली हो और वग़ल की कोठरी में एक डाकू सोता हो, तो क्या तुम समझते हो कि उसे नींद आवेगी ? कभी नहीं। वह यही सोचता रहेगा कि कैसे दूसरी कोठरी में जाऊँ और रक्खा हुआ धन प्राप्त करूँ। तव क्या तुम समझते हो कि जिसे यह दृढ़ विश्वास होगा कि इस माया-प्रकृति के पीछे एक अमर सत्य है, एक परमात्मा है, एक सच्चिदानन्द है, जिसके समक्ष हमारे सभी इन्द्रिय सुख फीके हैं, वह विना उसे प्राप्त किए रह सकता है ? पल भर भी वह विना प्रयत्न किए न रहेगा। लगन उसे पागल वना देगी।' इसी दैवी पागलपन ने वालक को भी घेर लिया। इस समय उसका कोई गुरु न था, सव कहते कि उसका दिमाग़ फिर गया है पर कोई कुछ वात वतानेवाला न था। दुनियाँ में होता ही ऐसा है यदि कोई सांसारिक मिथ्या विभवों को त्याग देता है, तो लोग उसे पागल कहने लगते हैं; पर संसार का जीवन इन्हीं पागलों पर निर्भर होता है। इसी पागलपन में से उन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने हमारी इस दुनिया को हिला दिया है तथा इसी पागलपन से भावी की वह शक्तियाँ जन्मेंगी, जो संसार को फिर भी चकित कर देंगी। सत्य की प्राप्ति के लिए इसी प्रकार घोर आत्मिक युद्ध के दिन, सप्ताह और मास वीतने लगे। धीरे-धीरे वालक अद्भुत दृश्य देखने लगा। उसकी प्रकृति की छिपी हुई शक्तियाँ ऊपर आने लगीं। पर्दे के वाद पर्दा हटने लगा। माता स्वयं ही उसकी गुरु हुई और उसे वह गुप्त सत्य

पूजा वह भली-भाँति न करा पाता। छोटी छोटी बातों में भूल हो जाती। कभी वह मूर्ति का भोग लगाना भूल जावे, कभी सारे दिन आरती ही उतारा करे तथा और सब बातें भूल जावे। अन्त में मन्दिर में पुजारी-कार्य करना उसके लिए असंभव हो गया। मन्दिर छोड़ उसने एक समीपवर्ती वन में प्रवेश किया और वहाँ रहने लगा। अपने जीवन के इस भाग का इतिहास उन्होंने मुझसे कई बार कहा है। बालक को सूर्य के उदय-अस्त का भी ज्ञान न होता, न यही ध्यान था कि मैं किस प्रकार रह रहा हूँ। अपनी ओर से उसे पूर्ण विस्मृति हो गई तथा उसे खाने-पीने की भी सुधि न होती। इस समय एक दयालु सम्बन्धी उसकी प्रेम-पूर्वक देख-भाल करता तथा उसके मुँह में भोजन रख देता, जो वह चुपचाप स्वभाववश चबा लेता।

बालक के रात्रि दिन इसी प्रकार बीतने लगे। पूरा दिन बीत जाने पर संध्या समय जब मन्दिर के घण्टों की मधुर ध्वनि तथा उपासकों के गीत का मोहक शब्द वन-वृक्षों की शाखा-प्रशाखाओं को भेदकर बालक के कानों तक पहुँचता, तो वह बहुत दुखी होता और कातर होकर कहता—'माता एक दिन और भी व्यर्थ गया और तू न आई। मेरे इस लघु-जीवन का एक दिन बीत गया और मुझे सत्य के दर्शन न हुए।' कभी तो बहुत ही कातर हो जमीन पर लोट-लोटकर वह खूब रोता।

सत्य ज्ञान के लिए मनुष्य-हृदय में उत्पन्न होनेवाली यह तीव्र पिपासा थी। इसी पुरुष ने मुझसे कहा था—'मेरे

बच्चे, यदि एक कोठरी में एक स्वर्ण-मुद्राओं की थैली हो और बग़ल की कोठरी में एक डाकू सोता हो, तो क्या तुम समझते हो कि उसे नींद आवेगी? कभी नहीं। वह यही सोचता रहेगा कि कैसे दूसरी कोठरी में जाऊँ और रक्खा हुआ धन प्राप्त करूँ। तब क्या तुम समझते हो कि जिसे यह दृढ़ विश्वास होगा कि इस माया-प्रकृति के पीछे एक अमर सत्य है, एक परमात्मा है, एक सच्चिदानन्द है, जिसके समक्ष हमारे सभी इन्द्रिय सुख फीके हैं, वह बिना उसे प्राप्त किए रह सकता है? पल भर भी वह बिना प्रयत्न किए न रहेगा। लगन उसे पागल बना देगी।' इसी दैवी पागलपन ने बालक को भी घेर लिया। इस समय उसका कोई गुरु न था, सब कहते कि उसका दिमाग़ फिर गया है पर कोई कुछ बात बतानेवाला न था। दुनियाँ में होता ही ऐसा है। यदि कोई सांसारिक मिथ्या विभवों को त्याग देता है, तो लोग उसे पागल कहने लगते हैं; पर संसार का जीवन इन्हीं पागलों पर निर्भर होता है। इसी पागलपन में से उन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने हमारी इस दुनिया को हिला दिया है तथा इसी पागलपन से भावी की वह शक्तियाँ जन्मेंगी, जो संसार को फिर भी चकित कर देंगी। सत्य की प्राप्ति के लिए इसी प्रकार घोर आत्मिक युद्ध के दिन, सप्ताह और मास बीतने लगे। धीरे-धीरे बालक अद्भुत दृश्य देखने लगा। उसकी प्रकृति की छिपी हुई शक्तियाँ ऊपर आने लगीं। पर्दे के बाद पर्दा हटने लगा। माता स्वयं ही उसकी गुरू हुई और उसे वह गुप्त सत्य

बताया, जिसे वह खोज रहा था। इस समय वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर रमणी आई, जो सुन्दरी होने के साथ ही एक बहुत बड़ी विदुषी थी। मेरे गुरू कहा करते थे कि वह विदुषी न थी, वरन् विद्या की देवी थी। मानुषी स्वरूप में सरस्वती थी। हमारी भारतीय जाति की विचित्रता आपको यहाँ भी दिखाई देगी। साधारण स्त्रियों के अविद्यान्धकार में घिरे रहने पर भी, तथा जिसे आप लोग स्वतंत्रता कहते हैं, उससे वञ्चित रहने पर भी, हमारे यहाँ आपको ऐसी आशातीत आत्मिक उन्नति करने वाली स्त्रियाँ मिल सकती हैं। वह एक सन्यासिनी थी; क्योंकि स्त्रियाँ भी संसार त्याग, धन-सम्पति छोड़ और अविवाहित रह-कर परमेश्वर की उपासना करती हैं। वह आई और उस वन-बालक की कहानी सुनकर उसके पास जाना निश्चय किया। इस रमणी से उसे पहिली सहायता मिली। बालक के दुख को उसने शीघ्र पहचान लिया और उससे कहा—'मेरे बच्चे, वह पुरुष धन्य है, जो इस प्रकार पागल हो जाता है। सारी दुनिया ही पागल है, कोई धन के लिए, कोई सुख के लिए, कोई कीर्ति के लिए, कोई अन्य वस्तुओं के लिए। पर वह जन धन्य है, जो परमात्मा के लिए पागल होता है। ऐसे मनुष्य विरले ही होते हैं।' यह रमणी उस बालक के समीप वर्षों तक रही, उसे सभी भारतीय धर्मों की शिक्षा दी, योगाभ्यास की सभी क्रियाएँ बताईं, तात्पर्य यह कि बालक की विशाल शक्ति को आत्मिक उन्नति के उचित मार्ग पर लगा दिया।

बाद को उसी बन में भिक्षावृत्ति से रहनेवाला एक सन्यासी आया। वह बड़ा विद्वान् तथा सभी दर्शनों का ज्ञाता था। वह एक विचित्र आदर्शवादी था। वह कहता था कि संसार सत्य नहीं है और यह दिखाने के लिए कि वह कभी किसी घर में नहीं जाता, वर्षा, गर्मी, सभी समय बाहर मैदान में वह खुली हवा में ही रहता। वह बालक को वेदों की शिक्षा देने लगा और उसे शीघ्र मालूम हो गया कि कुछ बातों में उसका शिष्य गुरु से भी बढ़कर है। वह बालक के पास कई मास रहा, फिर उसे सन्यास-आश्रम में दीक्षित कर वहाँ से चला आया।

बालक के सम्बन्धियों ने सोचा था कि बालक का विवाह कर देने से उसका पागलपन दूर हो जायगा। भारतवर्ष में कभी कभी लड़कों के माता-पिता बिना उनके पूछे ही उनका विवाह कर देते हैं। इस बालक की १८ वर्ष की आयु में एक ५ वर्ष की कन्या से शादी कर दी गई थी। वास्तव में ऐसा विवाह तो सगाई-मात्र होता है। सच्चा विवाह तो तब होता है, जब कन्या युवावस्था को प्राप्त होती है और जब वर जाकर उसे अपने घर लिवा लाता है; पर यह बालक तो अपनी स्त्री के विषय में सब कुछ ही भूल गया था। अपने सुदूर घर में उस बालिका ने सुना कि उसका पति सत्य और धर्म की खोज में लगा है तथा कोई-कोई उसे पागल भी समझते हैं। सच्ची बात जानने की इच्छा से वह पति के पास स्वयं चल पड़ी। अन्त में जब वह अपने सन्यासी पति के सम्मुख आकर खड़ी हुई, तो तुरन्त उन्होंने

उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया। यद्यपि भारतवर्ष में कोई मनुष्य स्त्री हो वा पुरुष धार्मिक जीवन व्यतीत करने पर इस प्रकार के सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। नवयुवक सन्यासी उसके चरणों पर गिर पड़ा और बोला—"मैंने प्रत्येक स्त्री को माता-मय देखना सीखा है, फिर भी मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत हूँ।"

बालिका की आत्मा पवित्र और उन्नत थी। वह अपने पति के हृदय की महत्ता को पहचान सकती थी तथा उसके विचारों से उसे सहानुभूति थी। उसने तुरन्त पति को समझा दिया कि वह उन्हें सांसारिक माया-जाल में फिर नहीं फँसाना चाहती है। उसकी इच्छा केवल यह है कि वह उनके पास रहे, उनकी सेवा करे तथा उनसे शिक्षा ग्रहण करे। स्वामी के श्रेष्ठ भक्तों में से वह एक थी तथा उनकी वह देवता के समान पूजा करती। इस प्रकार अपनी स्त्री की स्वीकृति से अन्तिम बन्धन तोड़ वह अपना सन्यासी-जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र हो गए।

इसके अनन्तर अन्य धर्मों के तथ्य जानने की उन्हें प्रबल इच्छा हुई। अभी तक अपना धर्म छोड़ अन्य किसी धर्म से वे परिचित न थे। दूसरे धर्मों के रहस्य को भी वह जानना चाहते थे। इसलिए वह अन्य धर्मों के गुरुओं के पास गए। इस बात का आप लोग सदा ध्यान रखिए कि गुरु से हमारा तात्पर्य बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़नेवाले से नहीं है, वरन् उससे है, जिसे सत्य की स्वानुभूति हुई हो, जिसने सत्य को पुस्तकों द्वारा शताब्दियों बाद

न जाना हो। वह एक मुसलमान धर्मज्ञ के पास गए और रहने लगे। उसके बताए हुए नियमों के अनुसार वे आचरण करने लगे और उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भली-भाँति नियमों का पालन करने पर वह उसी लक्ष्य पर पहुँचे हैं, जहाँ कि स्वधर्म-मार्ग से वह पहिले ही पहुँच चुके थे। ईसामसीह के सच्चे धर्म का पालन करने पर भी उन्हें वैसा ही अनुभव हुआ। देश के अन्य उपधर्म, जहाँ तक उन्हें मिले, उनका भी सच्चे हृदय से उन्होंने पालन किया और प्रत्येक बार वह एक ही लक्ष्य पर आकर रुके। इस प्रकार अपने अनुभव से उन्होंने जाना कि प्रत्येक धर्म का लक्ष्य एक ही है, एक ही बात वे सब सिखाते हैं। अन्तर केवल क्रिया-विधि में है और उससे भी अधिक भाषा में। वास्तविक लक्ष्य सबका एक ही है।

फिर उन्हें यह विचार हुआ कि पूर्ण मनुष्य होने के लिए स्त्री-पुरुष का भेद-भाव नष्ट हो जाना चाहिए। आत्मा तो न स्त्री है न पुरुष। स्त्री-पुरुष तो केवल हम शरीर से होते हैं। इसलिये जिसे सच्ची आत्मा की प्राप्ति करनी हो, उसे इस भेद को जी से निकाल देना चाहिए। पुरुष-शरीर पाने के कारण उन्होंने प्रत्येक वस्तु को नारी-मय देखना आरंभ किया। वह यह सोचने लगे कि हम स्त्री हैं, स्त्रियों के ही कपड़े पहनने लगे, स्त्री के समान ही बातचीत करने लगे तथा अपने कुटुम्ब की स्त्रियों में ही रहने लगे। अन्त में वर्षों के इस प्रकार के जीवन के पश्चात् स्त्री-पुरुष का भेदज्ञान उनके हृदय से बिल्कुल ही नष्ट हो गया।

मनुष्य-जीवन ने उनके लिये एक नया ही रूप धारण कर लिया।

हम पश्चिम में नारी-पूजा की बात बहुत सुनते हैं; पर यहाँ नारी केवल अपने यौवन और सुन्दरता के लिये ही पूजी जाती है। हमारे गुरू प्रत्येक नारी को अभयदायिनी माता ही मानकर पूजते; अन्य किसी कारण से नहीं। मैंने उन्हें उन स्त्रियों के चरणों पर गिरते देखा है, जिन्हें समाज छूता भी नहीं है तथा आँसू बहाते हुये यह कहते सुना है कि 'माता, एक रूप में तू गली में घूमती है, दूसरे में तू ही समस्त सृष्टि है। माता, मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। नमस्कार करता हूँ।'

उस जीवन की सुन्दरता को सोचिये, जिसकी सारी सांसारिकता नष्ट हो गई है, जहाँ प्रति स्त्री का मुख बदलकर केवल अभयदायिनी, विश्व की कल्याणकारिणी, स्वर्गीय माता का ही दीप्त मुख दिखाई देता है। ऐसे मनुष्य ने सचमुच ही प्रति स्त्री के प्रति प्रेम और श्रद्धा करना सीखा है। इसीकी हमें आवश्यकता है। क्या तुम कहते हो कि नारी की पवित्रता कभी नष्ट भी हो सकती है? नहीं, नारी की पवित्रता कभी नष्ट नहीं हुई न होगी। स्वभाव से ही वह छल-कपट पहिचान लेती है तथा सत्य, ज्ञान और पवित्रता को हृदय से लगाती है। सच्चे आत्म-ज्ञान के लिए इसी प्रकार की पवित्रता की नितान्त आवश्यकता है।

इसी प्रकार की कठोर और अद्भुत पवित्रता इस पुरुप के जीवन में भी आ गई। सभी जीवन-संग्रामों में वह विजय पा

चुका था। जिसकी कमाई के लिए जीवन के तीन चौथाई भाग को उन्होंने घोर परिश्रम करते हुए व्यतीत किया था, वही आत्म-ज्ञान का अमूल्य धन अब संसार को देने का समय आ गया था। उनके उपदेश और शिक्षा का ढङ्ग निराला ही था; क्योंकि वह कभी धर्म-गुरू का स्थान ग्रहण न करते। हमारे यहाँ धर्मोपदेशक ईश्वर के समान ही पूज्य समझा जाता है। माता-पिता के प्रति भी हम उतनी श्रद्धा-भक्ति नहीं दिखाते, माता-पिता हमें यह शरीर-मात्र ही देते हैं; पर गुरु तो हमारी आत्मा को मोक्ष-मार्ग बताता है। हम उसीकी सन्तान हो जाते हैं, वह हमें नव-जन्म देता है। सभी हिन्दू श्रेष्ठ धर्म-गुरु का आदर करते हैं, चारों ओर से घेरकर उसकी पूजा करते हैं। यह एक ऐसे ही धर्म-गुरु थे, पर उन्हें इसका तनिक भी ध्यान न था कि वे पूज्य हैं अथवा एक बड़े आत्म-ज्ञानी हैं। वह समझते थे कि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह माता ही मुझसे कहलवाती है। वह सदा यही कहते थे—"यदि कभी मैं कोई अच्छी बात कहता हूँ, तो वह माता ही कहती है। मेरा उसमें क्या है ?" अपने कार्य के विषय में उनका सदा यही विचार रहा और मृत्यु-पर्य्यन्त उन्होंने उसे न छोड़ा। इस मनुष्य ने किसी के आगे हाथ न पसारे। उनका सिद्धान्त था कि पहिले पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करो, पहिले आत्म-ज्ञान जानो, फल तुम्हें इसका अपने आप मिलेगा। एक उपमा जो वह बहुत दिया करते थे, यह थी—"जब कमल खिलता है, तो मधु-मक्खियाँ मधु के लिये स्वयं आ जाती हैं। उसी प्रकार

तुम अपने चरित्र-कमल को विकसित होने दो, फल इसका तुम्हें अपने आप मिलेगा।" सीखने के लिये यह एक आवश्यक पर विकट पाठ है। मेरे गुरु ने मुझे सैकड़ों ही वार उसे मुझे पढ़ाया, फिर भी मैं उसे कभी-कभी भूल जाता हूँ। विचार की शक्ति को वहुत कम लोग जानते हैं। यदि एक मनुष्य किसी गह्वर गुफ़ा में जा अपने आपको वन्दकर वास्तव में कोई महत् विचार सोचकर मर जाता है, तो वह विचार गुफा की प्रस्तर-प्राचीरों को भी भेदकर वायु की तरंगों पर चलकर मनुष्य-जाति के हृदय में समा जायगा। विचार की ऐसी ही महती शक्ति है। अपने विचार दूसरों को वताने के लिये शीघ्रता करने की कोई आवश्यकता नहीं। पहिले अपने भीतर कुछ विचार भी तो इकट्ठे कर लो। वही सिखा सकता है, जिसके पास कुछ सिखाने को है; क्योंकि धर्म सिखाना कोरी वातें वनाना नहीं है। धर्म दिया जाता है। जिस प्रकार मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ, उसी प्रकार आत्मज्ञान भी दिया जा सकता है। यह विल्कुल ही सत्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। भारतवर्ष में यह विचार वहुत प्राचीन समय से है। पश्चिम में इसीसे मिलता-जुलता धर्म गुरुओं के उत्तराधिकार का विचार है अर्थात् उन रोमन कैथलिक धर्म-गुरुओं का सिद्धान्त जो अपने आप को ईसा-मसीह के वारह शिष्यों का क्रमानुसार शिष्य मानते हैं। इसलिये तुम्हारा पहिला श्रेष्ठ कर्त्तव्य अपना चरित्र वनाना है। सत्य को पहिले तुम स्वयम् जानो, फिर तुम्हें ऐसे वहुत मिलेंगे; जिन्हें तुम उसे सिखा

सकोगे। वे सब स्वयं ही तुम्हारे पास आवेंगे। मेरे गुरू का यही आदर्श था। वे किसीके भी दोष न निकालते थे।

वर्षों मैं उस पुरुष के साथ रहा; पर कभी भी मैंने उसे किसी भी धर्म के लिये एक भी निन्दा-वाक्य कहते नहीं सुना। सबके लिये उनके हृदय में समान सहानुभूति थी। उनकी पारस्परिक समानता को उन्होंने पहिचान लिया था। कोई ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म-मार्ग का अनुसरण करे, चाहे रहस्यवादी हो, और संसार के मत-मतान्तर इन्हीं में से एक वा अधिक मत का प्रतिपादन करते हैं, फिर भी यह सब एक हो सकते हैं और भावी संसार यही करने भी जा रहा है। यही विचार उनका भी था। वह किसी की भी निन्दा न करते, वरन् सभी की अच्छाइयों को देखते।

सहस्रों की संख्या में लोग इस अद्भुत पुरुष को एक ग्राम्य भाषा में व्याख्यान देते हुए सुनने के लिये आते। उनके भाषण का प्रति शब्द ज्ञान और जोश से भरा रहता। व्याख्याता का व्यक्तित्व ही, जो कुछ भी वह कहता है, उसे न्यूनाधिक प्रभावशाली बनाता है, कहा चाहे जो जावे और उससे भी अधिक भाषा चाहे जौन ही हो; हमारा सब का ही ऐसा अनुभव होगा। हम लोग बहुत सुन्दर व्याख्यान, तर्क से भरे हुए अद्भुत व्याख्यान सुनते हैं; पर घर जाकर सब भूल जाते हैं। इसके विरुद्ध कभी-कभी सरल से सरल भाषा में हम दो वाक्य सुन लेते हैं, जो जीवन-यात्रा में सदा हमारे संग रहते हैं और हमसे

ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि उनका प्रभाव चिरस्थायी होता है। जो मनुष्य अपने व्यक्तित्व को शब्दों में रख सकता है, उसका भाषण अवश्य प्रभावशाली होगा; पर उसका व्यक्तित्व भी महान् होना चाहिए। सभी शिक्षा लेना और देना है, गुरु देता, शिष्य लेता है; पर इसके पहिले गुरु के पास कुछ देने को भी चाहिए और शिष्य को खुले हृदय से लेने के लिए तैयार रहना चाहिए।

भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ता, जहाँ कि हमारे देश का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है, जो कि प्रति वर्ष अपने यहाँ से सैकड़ों की संख्या में सन्देहवादी और भौतिकवादियों को जन्म दे रहा था, उसी कलकत्ते के समीप वह रहने लगे। देश के नाना विद्यालयों से लोग आ-आकर उनका भाषण सुनते थे। मैंने भी इनकी चर्चा सुनी और उनका व्याख्यान सुनने गया। वह एक सामान्य पुरुष लगते थे, कोई भी विशेषता मुझे न दिखी। वह बहुत ही सरल भाषा का प्रयोग करते। मैंने सोचा, क्या यह भी कोई बड़ा धर्मोपदेशक हो सकता है? मैं उनके पास सरककर पहुँचा और वही प्रश्न जो मैंने जीवन भर औरों से पूछा था, उनसे भी पूछा—'क्या आपको ईश्वर में विश्वास है?' उन्होंने उत्तर दिया—'हाँ।' 'क्या आप उसे सिद्ध कर सकते हैं?' मैंने फिर पूँछा। उत्तर मिला—'हाँ।' मैंने पूछा—'कैसे।' "क्योंकि मैं ईश्वर को वैसे ही देख रहा हूँ जैसे तुम्हें, केवल तुम्हारे देखने से उसका देखना अधिक गूढ़ है।" इस उत्तर से मैं तुरन्त ही प्रभावित हो उठा। पहिली ही बार मुझे एक पुरुष मिला

जो कह सकता था कि मैंने परमेश्वर को देखा है, तथा धर्म एक दृढ़ सत्य है, जो जाना जा सकता है, सांसारिक वस्तुओं के समान और उनसे भी अधिक उसका भी अनुभव किया जा सकता है। मैं दिन प्रति दिन उस पुरुष के और निकट आता गया और अन्त में मैंने देखा कि धर्म दिया जा सकता है। एक स्पर्श, एक दृष्टिपात एक जीवन को बदल सकती है। मैंने बुद्ध, ईसा और मुहम्मद तथा उन प्राचीन धर्म-प्रवर्तकों का हाल पढ़ा था, जो कि खड़े हुए पुरुष से कहते—'तू संपूर्ण हो जा' और वह हो जाता था। अब मैंने उसकी सत्यता को जाना और जब इस पुरुष को देखा, तो सारा सन्देह आपसे आप लुप्त हो गया। वैसा किया जा सकता था और उनका कहना था कि धर्म संसार की अन्य किसी वस्तु से अधिक सुचारु रूप से दिया लिया जा सकता है। इसलिये पहिले आत्मज्ञान प्राप्त करो। कुछ देने के लिये अपने पास कर लो और फिर संसार के सम्मुख खड़े होकर उसे दे डालो। धर्म कोरी गप्पें हाँकना नहीं है, न थोथे सिद्धान्त, तर्क वा साम्प्रदायिकता ही है। धर्म सभा और साम्प्रदायों में नहीं रह सकता। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध धर्म है, एक सभा में वह कहाँ से आवेगा? धर्म का तब तो व्यापार होने लगेगा और जहाँ भी व्यापार अथवा व्यापार के सिद्धान्त धर्म में लगाये जाते हैं, वहीं आत्मज्ञान नष्ट हो जाता है। मन्दिर और गिर्जे बनवाने में धर्म नहीं है, न सार्वजनिक उपासना में सम्मिलित होने का ही नाम धर्म है। न सभाओं में, न व्याख्यानों

में, न पुस्तकों में, न शब्दों में—धर्म यहाँ कहीं नहीं है। धर्म आत्म-ज्ञान की अनुभूति में है। सत्य तो यह है कि हम सभी जानते हैं कि जब तक हमें स्वयं सत्य का अनुभव न होगा तब तक हमें उस पर विश्वास न होगा। चाहे जितना हम वाद-विवाद करें, चाहे जितने व्याख्यान सुनें, पर इनसे हमें कभी सन्तोष न मिलेगा; जब तक कि हमें स्वानुभव न होगा। उसी से हमारा सन्तोष होगा और इस प्रकार का अनुभव यदि हम केवल प्रयत्न करें, तो हम सबके लिये संभव है। धर्म के अनुभव के लिये पहला आदर्श त्याग का है। जहाँ तक हो सके, हमें त्याग करना चाहिये। अन्धकार और प्रकाश, सांसारिक सुख और आत्मिक आनन्द, यह दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। "ख़ुदा और शैतान की सेवा एक साथ ही तुम नहीं कर सकते।"

दूसरी बात इससे भी अधिक महत्व की है, जो मैंने अपने गुरू से सीखी है। वह यह सुन्दर सत्य है कि संसार के धर्म एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं, न उनमें विशेष अन्तर ही है। एक अमर सनातन धर्म के ही वे विविध निदर्शन हैं। एक सनातन धर्म अनन्तकाल से रहा है और रहेगा। विविध देशों में यही धर्म विविध रूप धारण करता है। इसलिए हमें सब धर्मों का सम्मान करना चाहिए और जहाँ तक हो सके, उन सभी का पालन करना चाहिए। जाति-गुणों तथा भौगोलिक दशा से ही नहीं, धर्म-प्रवर्तक की व्यक्तिगत शक्तियों के अनुसार भी प्रत्येक धर्म का रूप निश्चित होता है। एक मनुष्य में धर्म निरन्तर क्रिया

ा, कर्म के रूप में प्रकट होता है। दूसरे में अनन्य भक्ति
में रहस्यवाद, चौथे में दार्शनिकता—इसी प्रकार सब में
का अलग-अलग रूप होता है। यह सरासर गलत है, जब
दूसरों से कहते हैं—तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है। हमें इस
य को खूब समझ लेना चाहिए कि एक सत्य के नाना रूप
सकते हैं, अलग-अलग स्थानों से देखने से एकही सत्य नाना
ह का दिखाई पड़ता है। इसे समझ लेने पर हमें किसी भी
से द्वेष न रहेगा, सभी से प्रत्युत् सहानुभूति होगी। यह जान
र कि संसार में सबकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है, और एकही धर्म
लिए उनका आचरण भिन्न-भिन्न होगा, हमें एक दूसरे से द्वेष
याग देना चाहिए। जैसे प्रकृति के अनेक रूप होते हुए भी वह
एक है, उसके क्षणभंगुर सहस्र-सहस्र पार्थिव रूपों के पीछे एक
अनन्त स्थायी और अनादि प्रकृति है, वैसेही मनुष्य भी है। एक
छोटा सा अणु भी इस भारी ब्रह्माण्ड का एक बहुत ही जरूरी
अंश है। इन सब नाना रूपों के होते हुए भी उन सबका ही
एक अनन्त आत्मा है। इस बात को हमें अच्छी तरह समझ
लेना चाहिए। आज इस बात को समझने की सबसे अधिक
आवश्यकता है। हमारा देश तो अनन्त धर्म-उपधर्मों का घर
है। सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से जिस किसी के दिमाग में भी
एक धार्मिक विचार उत्पन्न हुआ, वह अपने मत का झण्डा सबसे
ऊँचा फहराना चाहता है। बचपन से ही संसार के धर्म-उपधर्मों
को मैंने जान रक्खा है। मॉर्मन लोग तक भारत में धर्म-प्रचार

के लिए आए थे। मैं कहता हूँ, भारत उन सबकी आवभगत करो। भारतभूमि ही तो धर्म-प्रचार के लिए अच्छी भूमि है। और सब कहीं से वहाँ धर्म की जड़ अधिक जमती है। यदि भारत में तुम राजनीति सिखाने आओगे, तो हिन्दू उसे समझेंगे नहीं; पर यदि तुम धर्म का प्रचार करोगे, तो वह चाहे जितना विचित्र हो, तुम्हारे थोड़े ही समय में सहस्रों अनुयायी हो जावेंगे। बहुत संभव है कि अपने जीवन में ही तुम देवता के समान पूजे जाओ। मुझे यह देख कर हर्ष होता है, कि भारतवर्ष में इसीकी आवश्यकता है। हिन्दुओं के मत-मतान्तर सहस्रों हैं और बहुधा एक-दूसरे के अत्यन्त विरुद्ध होते हैं; फिर भी पूछोगे तो वे यही कहेंगे कि सभी मत और उपधर्म एक प्रधान धर्म के नाना रूप हैं। "जिस प्रकार नाना नदियाँ, भिन्न-भिन्न पर्वतों से निकल, कोई टेढ़ी, कोई सीधी बहती हुई सभी समुद्र के जल में मिल जाती हैं; उसी प्रकार सभी मत-मतान्तर अपने-अपने निराले मार्गों से अन्त में, हे ईश्वर! तुझे ही प्राप्त होते हैं।" यही कोरा सिद्धान्त नहीं; पर इसे एक दृढ़ सत्य जानना चाहिए। पर उन लोगों की भाँति नहीं, जो बड़ी उदारता दिखलाते हुए कहते हैं—"हाँ, हाँ, और धर्मों में भी कोई-कोई बातें बहुत अच्छी है।" (कोई कोई तो इतने उदार होते हैं कि सोचते हैं कि धार्मिक उन्नति होते हुए और धर्म बने हैं। वह धार्मिक उन्नति हमारे धर्म में आकर समाप्त हुई है; अतः हमारा धर्म तो पूर्ण है, अन्य अधूरे हैं।) एक महाशय कहते

हैं कि हमारा धर्म सबसे पुराना है, इसलिए सबसे अच्छा है। दूसरे महाशय कहते हैं, हमारा धर्म सबसे बाद का है, इसलिए और भी अच्छा है। हमें जानना यह चाहिए सभी धर्म मनुष्य को मुक्ति दे सकते हैं। तुमने मन्दिर और गिर्जों में जो भेद-भाव की बात सुनी है, वह सब मिथ्या प्रपञ्च है। सबका रक्षक वही एक परमात्मा है और न तुम, न मैं, न अन्य कोई आत्मा को रत्ती भर भी मुक्ति दे सकता है। मुक्तिदाता वही एक ईश्वर है। मैं नहीं समझता कि कैसे लोग अपने को आस्तिक कहते हुए समझते हैं कि परमात्मा ने सारा सत्य-ज्ञान मुट्ठी भर मनुष्यों को सौंपकर उन्हींको संसार की मुक्ति का ठेका दे दिया है। किसी भी मनुष्य के विश्वास में दख़ल न दो। यदि तुम्हारे पास कुछ अधिक सुन्दर देने को है, यदि जहाँ एक मनुष्य खड़ा है वहाँ से ढकेलकर उसे तुम और ऊपर ले जा सकते हो, तो वैसा करो; नहीं तो जो उसके पास है, उसे भी नष्ट न करो। सच्चा गुरु वही है, जो एक पल में मानों अपने सहस्रों रूप रख सकता है। सच्चा गुरु वही है, जो शिष्य के संग शिष्य बन सकता है, उसके शरीर में पैठ उसकी ही आंखों से देख सकता है, उसके ही कानों से सुन सकता है तथा उसके मस्तिष्क से विचार सकता है। ऐसा ही गुरु धर्म सिखा सकता है, अन्य नहीं। जितने खण्डन करने वाले, और दूसरे के धर्म को थोथा बताने वाले धर्म गुरु हैं, उनसे संसार का कोई भला नहीं हो सकता।

अपने गुरू को देखकर मैंने समझा कि इस जीवन में भी

मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है। उस मुखारविन्द ने कभी किसीके लिए कोई निन्दा-वाक्य नहीं कहा, न किसीके दोष ही निकाले। वे आंखें बुराई देख ही न सकतीं थीं, उस मस्तिष्क के लिए बुराई की कल्पना करना भी असंभव था। अच्छाई छोड़ वह कुछ न देख सकते थे। यह अपार पवित्रता, यह अन्यतम-त्याग आत्म-ज्ञान पाने के दो रहस्य-मय मार्ग हैं। वेद कहते हैं— "न तो धन-सम्पत्ति से, न सन्तान-उत्पत्ति से, केवल त्याग से ही तुम अमरत्व प्राप्त कर सकते हो।" ईसा ने भी ऐसा ही कहा है "जो कुछ तुम्हारे पास हो, उसे बेचकर गरीबों को दे दो और फिर मेरे अनुयायी हो।"

यही बात बड़े-बड़े धर्म-प्रवर्तकों और सन्तों ने कही है और उसीके अनुसार उन्होंने जीवन भर आचरण भी किया है। बिना त्याग के आत्मज्ञान कैसे मिल सकता है? सर्वत्र सभी धर्मों का मूल तत्व यह त्याग है और जिस धर्म में भी त्याग का अंश कम होगा, इन्द्रिय-सुख उतना ही अधिक होगा, फलतः आत्म-ज्ञान भी उतना ही कम होगा। वह मनुष्य तो त्याग की मूर्ति था। हमारे देश में जो सन्यासी हो उसके लिए घर-बार धन-दौलत का त्यागना आवश्यक है, मेरे गुरु ने इस नियम का अक्षरशः पालन किया।

ऐसे सैकड़ों थे, जो उन्हें कोई भेंट देकर अपने को कृतकृत्य मानते, जो सहस्रों की थैलियां उनके चरणों पर बिना मांगे ही निछावर कर देते; पर ऐसे ही मनुष्यों से वह दूर भागते थे।

त्याग करना कोई उनसे सीख सकता था, धन-वैभव की इच्छा और इन्द्रिय सुख पर उन्होंने पूर्ण विजय पाई थी। इन दिनों में ऐसे त्याग की आवश्यकता है, जब मनुष्य समझने लगे हैं कि वे अपनी "ज़रूरियातों" के बिना रह ही नहीं सकते और जब वे दिन-प्रतिदिन प्रबल वेग से बढ़ती जा रही है। आज आवश्यकता है ऐसे पुरुष की जो संसार के इन अविश्वासियों के सन्मुख खड़ा होकर उनसे कहे—देखो, मैं तुम्हारे धन, वैभव, कीर्ति और गौरव की तृण भर भी पर्वाह नहीं करता और संसार में ऐसे पुरुष अभी हैं।

मेरे गुरु के जीवन का पहला भाग आत्मज्ञान एकत्रित करने में लगा था, शेष भाग उसे वितरण करने में। झुण्ड के झुण्ड मनुष्य उनकी बातें सुनने आते और चौबीस घण्टों में वह बीस घण्टे निरन्तर बातें ही किया करते और यह भी एक दिन के लिए नहीं वरन् महीनों तक यही क्रम जारी रहा। यहाँ तक कि इस अपार परिश्रम के कारण उनके शरीर ने जवाब दे दिया। सहस्रों में छोटे से छोटे ने भी यदि उनकी सहायता चाही, तो मनुष्य-जाति के लिये अपने असीम प्रेम के कारण उन्होंने उसे सहायता देना अस्वीकार नहीं किया। धीरे-धीरे उनके गले में एक प्राण-घातक रोग उत्पन्न हो गया, फिर भी उन्होंने अपने परिश्रम में कमी न की। जैसे ही वह सुनें कि मनुष्य उन्हें देखने के लिये खड़े हैं, वह उन्हें अन्दर आने देने के लिये हठ करते तथा उनके सभी प्रश्नों का उत्तर देते। एक बार एक पुरुष ने

उनसे पूछा—'महाराज, आप एक बड़े भारी योगी हैं, फिर शरीर की ओर तनिक ध्यान देकर आप अपने रोग को अच्छा क्यों नहीं कर लेते ?" पहिले उन्होंने कोई उत्तर न दिया ; पर प्रश्न के दुहराये जाने पर वह बड़ी शीलता से बोले—'मेरे मित्र, मैं समझता था कि तुम ज्ञानी होगे ; पर तुम भी सांसारिक मनुष्यों की सी बातें करते हो । यह मन तो ईश्वर का हो चुका । क्या तुम कहते हो कि मैं उसे वापस ले लूँ, इस शरीर के लिये जो कि आत्मा का पिंजड़ा-मात्र है ?"

इसी प्रकार वह धर्मोपदेश करते रहे । अन्त में चारों तरफ़ यह खबर फैल गई कि अब वह शरीर-त्याग करने वाले हैं, जिसका फल यह हुआ कि मनुष्य और भी अधिक संख्याओं में उनके पास आने लगे । आप लोग इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि भारतवर्ष में लोग किस प्रकार इन धर्म-गुरुओं के पास आते हैं, तथा उन्हें चारों ओर से घेरकर जीवित ही देवता बना देते हैं । सहस्रों उनके वस्त्र के छोर को छूकर ही अपने आपको धन्य मानते हैं । दूसरों के आत्मज्ञान का इस प्रकार सम्मान करने से ही आत्मज्ञान बढ़ता है । जिस वस्तु की जिसे चाहना है, वह यदि उसका सम्मान करता है, तो वह उसे अवश्य मिलेगी । यही बात जातियों के लिये भी सत्य है । यदि भारतवर्ष में तुम कोई राजनैतिक व्याख्यान देने जाओ, तो कितना ही सुन्दर वह क्यों न हो, तुम्हें कठिनता से थोड़े से सुननेवाले मिलेंगे । पर जाकर तनिक धर्मोपदेश करो, कोरा उपदेश ही

नहीं, सच्चा धर्माचरण भी करो, तो देखो सैकड़ों लोग तुम्हारे पैर छूने के लिये तुम्हें चारों ओर से घेर लेंगे। जब लोगों ने सुना कि यह पवित्रात्मा उनके बीच से चली जानेवाली है, तो वे और भी अधिकाधिक उनके पास आने लगे। मेरे गुरु अपने स्वास्थ्य का तनिक भी ध्यान न रखते हुए उन्हें लगातार उपदेश देते रहे। हम लोग इसे बन्द न कर सके। बहुत से लोग बड़ी दूर-दूर से आते और जब तक उनके प्रश्नों का वह उत्तर न दे लेते, शान्ति से न बैठते। वह कहते—जब तक मुझमें बोलने की शक्ति है, मैं उन्हें अवश्य उपदेश दूँगा, और इसीके अनुसार वह कार्य भी करते थे। एक दिन उन्होंने हम लोगों से कहा कि आज हम यह शरीर त्याग देंगे, फिर समाधि लगाकर वेदों के पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उन्होंने इस लोक से प्रस्थान किया।

उनके विचार और उनका सन्देश ऐसे बहुत कम लोगों को मालूम था, जिनमें उनके प्रचार करने की योग्यता थी। अन्य लोगों में उनके अनुयायी कुछ नवयुवक भी थे, जिन्होंने संसार त्याग दिया था तथा जो उनके कार्य को आगे करने के लिये तैयार थे। उन्हें नष्ट करने की चेष्टाएँ भी की गईं, पर उस महान् जीवन के आदर्श से उत्साहित हो वे दृढ़ता-पूर्वक स्थिर रहे। उस महान् पुरुष से संसर्ग होने के कारण उन्होंने मैदान न छोड़ा। ये लोग सन्यासी थे। कलकत्ते की ही गलियों में जहाँ वे पैदा हुए थे, वे भिक्षा-वृत्ति करते, यद्यपि उनमें से कई बड़े धनी घरानों के थे। पहिले उन्हें बड़े विरोध का सामना करना पड़ा;

पर धीरे-धीरे धैर्य के साथ दिन प्रति दिन वे समस्त भारत में अपने गुरु के सन्देश का प्रचार करते रहे यहाँ तक कि सारा देश उनके प्रचार किये हुए विचारों से भर गया। बंगाल के एक सुदूर गाँव के इस पुरुष ने बिना कोई शिक्षा पाये अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति के ही बल पर सत्य का अनुभव किया तथा दूसरों को उसे बताया और अन्त में उसका प्रचार करने के लिये थोड़े से नवयुवकों को ही छोड़ गया।

आज श्रीरामकृष्ण परमहंस का नाम भारतवर्ष और उसके कोटि-कोटि पुरुषों में प्रसिद्ध है। यही नहीं, उस पुरुष की शक्ति हमारे देश की सीमा को भी लाँघ चुकी है और यदि संसार में कहीं भी सत्य और आत्मज्ञान का एक भी शब्द मैंने कहा है, तो मैं उसके लिए अपने गुरु का ही आभारी हूँ। जो भूलें हुई हैं वे मेरी हैं।

वर्तमान संसार के लिये स्वामी रामकृष्ण का यह सन्देश है—"सिद्धान्त, प्राचीन अन्धविचार, मतमतान्तर, गिर्जे, मन्दिर—किसी की भी चिन्ता न करो। मनुष्य-जीवन का सार जो आत्मज्ञान है, उसके समक्ष उनका कुछ भी महत्व नहीं। मनुष्य में जितना ही आत्मज्ञान बढ़ेगा उतना ही संसार का वह अधिक उपकार करेगा। उसीका सञ्चय करो, पहिले उसे प्राप्त करो और किसी धर्म में दोष न निकालो; क्योंकि सभी धर्म और मतों में कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है। अपने जीवन के आचरण से यह बता दो कि धर्म का अर्थ शब्द-समूह नहीं, न केवल नाम न सम्प्रदाय है, धर्म का अर्थ सच्चा आत्मज्ञान है। जिन्होंने इसे

पर धीरे-धीरे धैर्य के साथ दिन प्रति दिन वे समस्त भारत में अपने गुरु के सन्देश का प्रचार करते रहे यहाँ तक कि सारा देश उनके प्रचार किये हुए विचारों से भर गया। बंगाल के एक सुदूर गाँव के इस पुरुष ने बिना कोई शिक्षा पाये अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति के ही बल पर सत्य का अनुभव किया तथा दूसरों को उसे बताया और अन्त में उसका प्रचार करने के लिये थोड़े से नवयुवकों को ही छोड़ गया।

आज श्रीरामकृष्ण परमहंस का नाम भारतवर्ष और उसके कोटि-कोटि पुरुषों में प्रसिद्ध है। यही नहीं, उस पुरुष की शक्ति हमारे देश की सीमा को भी लाँघ चुकी है और यदि संसार में कहीं भी सत्य और आत्मज्ञान का एक भी शब्द मैंने कहा है, तो मैं उसके लिए अपने गुरु का ही आभारी हूँ। जो भूलं हुई हैं वे मेरी हैं।

वर्तमान संसार के लिये स्वामी रामकृष्ण का यह सन्देश है—"सिद्धान्त, प्राचीन अन्धविचार, मतमतान्तर, गिर्जे, मन्दिर—किसी की भी चिन्ता न करो। मनुष्य-जीवन का सार जो आत्मज्ञान है, उसके समक्ष उनका कुछ भी महत्व नहीं। मनुष्य में जितना ही आत्मज्ञान बढ़ेगा उतना ही संसार का वह अधिक उपकार करेगा। उसीका सञ्चय करो, पहिले उसे प्राप्त करो और किसी धर्म में दोष न निकालो; क्योंकि सभी धर्म और मतों में कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है। अपने जीवन के आचरण से यह बता दो कि धर्म का अर्थ शब्द-समूह नहीं, न केवल नाम न सम्प्रदाय है, धर्म का अर्थ सच्चा आत्मज्ञान है। जिन्होंने इसे

प्राप्त किया है, वे ही धर्म के रहस्य को समझ सकते हैं। जिन्हें आत्मज्ञान मिल चुका है वही उसे दूसरों को भी दे सकते हैं तथा मनुष्य-जाति के सच्चे शिक्षक हो सकते हैं। प्रकाश की ये ही सच्ची शक्तियाँ हैं।"

जितने ही इस प्रकार के पुरुष एक देश में उत्पन्न होंगे, वह देश उतनी ही उन्नति करेगा। जिस देश में ऐसे पुरुष बिल्कुल ही नहीं हैं, उस देश का विनाश निश्चित है। कोई भी उसकी रक्षा न कर सकेगा। इसीलिये मनुष्य-जाति के लिये मेरे गुरु का सन्देश है—आत्मज्ञानी बनो और सत्य का स्वयं अनुभव करो। अपने भाइयों के लिये त्याग करो। उनके लिये प्रेम की लम्बी-चौड़ी बातें करना छोड़ जो कहते हो, उसे कर दिखाना सीखो। त्याग और सत्यज्ञान की अनुभूति का समय आ गया है। संसार के धर्मों की सभ्यता तभी दिखाई देगी। तुम्हें ज्ञात होगा कि किसीसे द्वेष करने की कोई आवश्यकता नहीं और तभी तुम मनुष्य-जाति की सच्ची सेवा कर सकोगे। सभी धर्मों की आन्तरिक एकता को साफ़-साफ़ समझाना ही मेरे गुरु का उद्देश्य था। अन्य धर्म-गुरुओं ने अपने नाम से विशेष धर्म चलाये हैं; पर उन्नीसवीं शताब्दी के इस महान् पुरुष ने अपने लिए किसी बात की आकांक्षा न की। उन्होंने किसी भी धर्म में दखल न दिया, क्योंकि वह जान चुके थे कि सभी धर्म एक अमर सनातन धर्म के विभिन्न रूप हैं।

सर्वव्यापी परमात्मा

हमारे जीवन का अधिकांश भाग बुराइयों से भरा रहता है। बुराइयों का हम चाहे जितनी दृढ़ता से सामना करें, वे अनन्त प्रतीत होती हैं। इन्हीं पर विजय पाने की चेष्टा हम आदि काल से करते आ रहे हैं; पर आज की दशा पहिले से अधिक उत्साह-जनक दिखाई नहीं देती। जितने ही उनसे बचने के हम उपाय निकालते हैं, उतनी ही बारीक बुराइयाँ हमें और मिल जाती हैं। सभी धर्म इनसे बचने का एक उपाय 'ईश्वर' को बताते हैं। सभी धर्म हमें बताते हैं कि यदि आजकल के भौतिकवादियों की भाँति इस प्रत्यक्ष संसार को तुम सत्य समझोगे, तो सिवाय बुराई के संसार में और कुछ न रहेगा। पर धर्म कहते हैं कि इस संसार के परे भी कुछ है। हमारी इन्द्रियों से भोगा जाने-वाला यह ऐहलौकिक जीवन हमारे वास्तविक जीवन का एक बहुत ही छोटा और क्षुद्र भाग है। इसके पीछे और परे वह अनन्तशील है, जहाँ पर कि कोई भी बुराई नहीं है, व जिस शक्ति को गॉड, अल्लाह, जिहोवा, जोव आदि आदि कहा जाता है। वेदान्ती उसे 'ब्रह्म' कहता है। फिर भी हमारा ऐहलौकिक जीवन तो होता ही है।

धर्म जो उपदेश देते हैं, उससे पहले तो यही प्रभाव पड़ता है कि इस जीवन का ही अन्त कर दें। प्रश्न यह है कि इस जीवन की बुराइयों का कैसे सुधार हो, और यह उत्तर आपसे आप ही मिलता है :—उसका अन्त ही क्यों न कर दो! इस उत्तर को सुनकर एक पुरानी कहानी का स्मरण हो आता है। एक पुरुष के माथे में एक मसा बैठ गया। उसके मित्र ने उसे उड़ाने की इच्छा से उस पुरुष के मस्तक में ऐसा डंडा मारा कि मनुष्य और मच्छड़ दोनों मर गए। जीवन की बुराइयों के लिए भी वैसा उपाय ठीक जान पड़ता है। जीवन पापों से भरा है, संसार बुराइयों का घर है—यह एक ऐसा सत्य है, जिसे सभी अनुभवी पुरुष मानेंगे।

धर्म क्या उपाय बताते हैं! यही कि यह संसार मिथ्या है। इस संसार के परे ही कुछ है, जो सत्य है। पर यही तो विवाद की जड़ है। ऐसे उपाय से तो जीवन ही नष्ट हो जावेगा। फिर वह उपाय ही कहाँ रहा? तो क्या कोई उपाय नहीं? यह देखिये दूसरा उपाय। वेदान्त कहता है कि जो अन्य धर्म इन बुराइयों से बचने का उपाय बताते हैं, वह ठीक है; पर उसको ठीक से समझना चाहिए। धर्म इस उपाय को भली भाँति साफ़-साफ़ शब्दों में समझाकर नहीं कहते, इसलिये बहुधा उसका मिथ्या अर्थ भी लगा लिया जाता है। हम चाहते यह हैं कि हृदय और मस्तिष्क बराबर एक साथ कार्य करें; पर हृदय वास्तव में बड़ा है। जीवन-पथ पर आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करनेवाली

भावनाएँ हमारे हृदय से ही उत्पन्न होती हैं। मुझे यदि तनिक भी हृदय न देकर मस्तिष्क ही दिया जावे, तो मैं अवश्य ही उस मस्तिष्क को न लेकर तनिक सा भी हृदय लेना अवश्य पसन्द करूँगा। जिसके पास केवल हृदय है, उसके लिये जीवन और उन्नति संभव है; पर जिसके पास कोरा मस्तिष्क है, वह नीरसता के कारण अवश्य मर जायगा।

पर हम यह भी जानते हैं कि जो केवल अपने हृदय के अनुसार कार्य करेगा, उसे बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उसके लिये भी गड्ढों में गिरना असंभव नहीं। अपेक्षा है हमें हृदय और मस्तिष्क के पारस्परिक सम्मेलन की। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रकार के समझौते के लिये कोई थोड़ा-सा हृदय अथवा थोड़ा सा ही मस्तिष्क रक्खे; पर मैं कहता हूँ कि प्रत्येक पुरुष अपनी शक्त्यानुसार हृदय और भावुकता तथा मस्तिष्क और बुद्धि रक्खे।

हमारी इच्छाओं का क्या कहीं अन्त है? क्या संसार ही अनन्त नहीं? इसलिये यहाँ असीम भावुकता और असीम बुद्धि व विचार के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। उन सबको एकत्रित होने दो और परस्पर मिलकर कार्य करने दो।

इस बात को बहुत से धर्म भली प्रकार जानते हैं और उसे बहुत साफ और शुद्ध शब्दों में कहते भी हैं; पर वे सब एक ही भूल करते हैं और वह यह कि अपने हृदय, अपनी भावुकता के कारण वे अपने सत्यपथ को भूल जाते हैं। संसार में बुराई है,

अतः संसार को त्याग दो—निश्चय ही सभी धर्मों का यही एक उपदेश है। संसार को त्याग दो। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि सत्य जानने के लिए हमें मिथ्या का त्याग करना होगा। अच्छाई लेने के लिए बुराई और जीवन लेने के लिए मृत्यु त्यागना ही पड़ेगी।

पर जीवन से हम जो कुछ समझते हैं, जैसा जीवन देखते हैं तथा जैसा इंद्रियों का जीवन हम व्यतीत करते हैं, यदि इस सिद्धांत के अनुसार वह जीवन हमें नष्ट करना पड़ा, तो फिर रहा ही क्या ? यदि इस जीवन को हम त्याग दें, तो फिर शेष कुछ नहीं रहता।

हम इस बात को तब और भी भली प्रकार समझेंगे, जब हम वेदान्त के और भी गूढ़ और दार्शनिक विषयों का विवेचन करेंगे; पर इस समय के लिए तो मुझे यही कहना हैं कि वेदान्त में ही इस समस्या का सन्तोष-जनक उत्तर मिलता है। मैं अभी केवल इस विषय में वेदान्त की शिक्षा बताऊँगा और वह है—संसार को ब्रह्म-मय देखना।

वेदान्त वास्तव में इस संसार की उपेक्षा नहीं करता। त्याग के आदर्श ने वेदान्त से अधिक उच्चता कहीं नहीं प्राप्त की फिर भी वेदान्त नीरस आत्मघात की शिक्षा नहीं देता। उसकी शिक्षा है:—संसार को ब्रह्म-मय देखो। संसार जैसा दिखाई देता है, जिसे तुम सच्चा संसार समझते हो उसे त्याग दो और वास्तविक संसार को जानो। उसे ब्रह्म-मय देखो। वेदान्त के ऊपर लिखी गई पुस्तकों में सर्व प्रथम, सबसे पुराने उपनिषद् के आरम्भ में

ही लिखा है:—संसार में जो कुछ भी है, जहाँ कहीं भी है, वह सब ब्रह्म-मय है।

मिथ्या आशावाद में विश्वास कर तथा बुराइयों की ओर से आँख मींचकर नहीं, वरन् प्रत्येक वस्तु में ईश्वर जान हमें संसार को ब्रह्ममय देखना चाहिए। इस प्रकार से हमें संसार का त्याग करना चाहिए और संसार त्यागने के बाद क्या रहता है? ब्रह्म। इसका अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ यह नहीं कि तुम अपनी स्त्रियों को अपने रास्ते जाने के लिए छोड़ दो, वरन् यह कि तुम उन्हें रक्खो; पर उन्हें परमात्मा-मय देखो। अपने बाल-बच्चों को त्याग दो। इसका क्या अर्थ हुआ? अपने बच्चों को लेकर गली में फेंक दो जैसा कि प्रत्येक देश में कुछ पशु करते हैं? कदापि नहीं। यह तो धर्म नहीं, प्रत्युत घोर अमानुषिकता है। उसका अर्थ यह है कि बच्चों में भी परमात्मा को देखो। इसी प्रकार सब वस्तुओं में उसे देखो। जीते, मरते, सुख में, दुख में, संपत्ति में, विपत्ति में, सदैव संसार को ब्रह्ममय देखो। आँखें खोलो और उस ब्रह्म को पहँचानो—यही वेदान्त की शिक्षा है। तुम्हारा अनुभव अधूरा था और बुद्धि शुद्ध थी, अतः अपनी कमजोरियों से कल्पित संसार को त्याग दो। जिस संसार के विषय में तुम इतने दिनों तक सोचते रहे हो और जिसका तुम्हें इतना मोह है, वह तुम्हारे कल्पना का संसार है। उसे त्याग दो। आँखें खोलो और देखो कि तुम्हारा संसार कभी था ही नहीं, वह केवल माया था। जो वास्तव में था वह ब्रह्म था। बच्चों में, स्त्री में, पति में, अच्छाई

में, बुराई में, हत्यारे में, पापी में, नाग में, जीवन में, मृत्यु में—सबमें वही एक ब्रह्म है।

यह भी एक विकट उपाय है, पर इसी मुख्य सिद्धान्त को वेदान्त सिद्ध करना चाहता है, उसको सत्यता दिखाना चाहता है, उसकी शिक्षा देना चाहता है, उसका प्रचार करना चाहता है।

जीवन की आपत्तियों और बुराइयों से हम इसी प्रकार बच सकते हैं। किसी वस्तु की इच्छा न करो। हमारे दुःख का कारण क्या है? हमारी इच्छाएँ। तुम किसी वस्तु की इच्छा करते हो, तुम्हें वह वस्तु नहीं मिलती, परिणाम यह होता है कि तुम दुखी होते हो। जब हम अपनी सब इच्छाओं को त्याग देंगे, तो क्या होगा? दीवालों के कभी इच्छाएँ नहीं होतीं और वे कभी दुखी नहीं होतीं। नहीं, पर वे कभी उन्नति भी नहीं करतीं। इस कुर्सी के कोई इच्छा नहीं है, यह कभी दुखी नहीं होती पर यह सदा कुर्सी ही रहती है। सुख में गौरव है और दुख में भी। मैं तो कहता हूँ बुराई भी फायदे के लिए है। विपत्ति में पाई हुई शिक्षा के महत्व को हम सभी जानते हैं। जीवन में हमने ऐसी अनेक बातें की होंगी, जिन्हें जी कहता है, कभी न करते, तो अच्छा होता; फिर भी उनसे हमें अलभ्य शिक्षा मिली है। अपने लिए मैं यह कहकर प्रसन्न हूँ कि मैंने कुछ अच्छाई की है और कुछ बुराई। मुझे इस बात का हर्ष है कि मैंने कुछ अच्छी बातें की हैं, कुछ बुरी बातें की हैं, कुछ ठीक की हैं, कुछ गलत की हैं; क्योंकि प्रत्येक गलती से मुझे बड़ी-बड़ी शिक्षाएँ मिली हैं।

मैं जैसा इस समय हूँ, अपने समस्त कार्यों और विचारों का परिणाम हूँ। प्रत्येक कार्य और विचार का मनुष्य के ऊपर प्रभाव पड़ता है। मेरी उन्नति का परिणाम यह है कि जीवन-पथ पर हँसता हुआ मैं बढ़ता जाता हूँ। समस्या अब और भी टेढ़ी हो गई। हम सभी जानते हैं कि इच्छाएँ करना बुरा है, पर इच्छाओं के त्याग देने का क्या अर्थ है? जीवन का कैसे निर्वाह हो? यह तो वही पहले का सा उपाय हुआ कि मर्ज़ के साथ मरीज़ को भी मार दो। इसका उत्तर यह है। यह नहीं कि तुम धन-सम्पत्ति न रक्खो, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न करो, वह वस्तुएँ न रक्खो, जो केवल विलासिता के लिए हैं। जो कुछ तुम चाहते हो और कभी-कभी जो न चाहते हो, उसे रक्खो। केवल सत्य को जानो, उसका अनुभव करो। यह धन-सम्पत्ति किसी की नहीं है। अधिकार और मालिकपने का विचार छोड़ दो। तुम उसके कोई नहीं हो, न मैं हूँ, न अन्य कोई। यह सब परमात्मा का है; क्योंकि उपनिषद् के पहले सूत्र ने ही हमें बता दिया है कि सभी वस्तुओं में ब्रह्म को देखो। जो इच्छा तुम्हारे हृदय में उठती है, उसमें वही परमात्मा है; उस इच्छा के वशीभूत हो, जो वस्तुएँ तुम खरीदते हो, उनमें भी वही है। तुम्हारी सुन्दर पोशाक और आभूषणों में वही है। इसी प्रकार सदा सोचना चाहिए। इस प्रकार जब संसार को देखोगे, तब सभी वस्तुओं का स्वरूप दूसरा ही हो जायगा। यदि तुम अपने कपड़ों में अपनी बात-चीत में, अपने शरीर में, अपनी

सूरत-शक्ल में, प्रत्येक वस्तु में परमात्मा को ही देखोगे तो हृदय दूसरा ही हो जायगा। संसार दुःख और विपत्तियों के घर के बदले स्वर्ग प्रतीत होगा।

"परमात्मा का राज्य तुम्हारे भीतर ही है" (ईसा)। वेदान्त ने यही बात कही है। औरों ने और सभी महापुरुषों ने यही बात कही है। "जिसके आँखें हों वह देखे, जिसके कान हों वह सुने" (ईसा)। वेदान्त ने इस सिद्धान्त की सत्यता को भी सिद्ध किया है। उसने यह भी सिद्ध किया है कि जिस सत्य की हम खोज में थे, वह सभी समय हमारे ही साथ था। अज्ञान-वश, हम सोचते थे कि हमने उसे खो दिया है, कष्ट और विपत्तियाँ सहते हुए हम संसार भर में रोते-चिल्लाते फिरे जब कि सत्य हमारे ही हृदय में था। इसीके अनुसार तुम भी कार्य करो।

यदि संसार त्यागना सत्य है और हम उसका वही पुराना भद्दा अर्थ लगावें, तब तो हमें आलसी बन, मिट्टी के पुतलों की भाँति कुछ काम न करना चाहिए। पूरे भाग्यवादी बनकर अब तो हमें कुछ सोचना चाहिए न कुछ काम करना चाहिए। होनहार के दास बनकर प्रकृति के नियम जो हमसे चाहेंगे करावेंगे और हम इस जगह से उस जगह ठोकर खाते फिरेंगे। यही परिणाम होगा। पर हमारा यह तात्पर्य नहीं है। हमें काम करना चाहिए। साधारण मनुष्य, अपनी इच्छाओं के दास काम क्या जानें? अपनी इच्छाओं और वासनाओं से प्रेरित हो जो काम करता है, वह काम क्या जाने? काम वही करता है, जो

अपनी इच्छाओं और अपने लाभालाभ के विचार से प्रेरित नहीं होता। काम वही करता है, जिसका कोई आन्तरिक उद्देश्य नहीं है, जिसे अपने काम से कोई लाभ नहीं है।

एक चित्र देखकर कौन अधिक प्रसन्न होता है, चित्र बेचने वाला या देखनेवाला ? बेचनेवाले का ध्यान अपने हिसाब और नफ़े-मुनाफ़े की ओर है। उसके दिमाग़ में अन्य किसी विचार के लिए स्थान नहीं। उसका ध्यान नीलाम करनेवाले के हथौड़े और बोलियों की ओर है। वह यही देख रहा है कि बोलियाँ कितनी तेजी से चढ़ रही हैं। चित्र की सुन्दरता का वही आनन्द ले रहा है, जो वहाँ ख़रीदने या बेचने की इच्छा से नहीं गया है। चित्र की ओर देखता है और प्रसन्न होता है। यह संसार एक चित्र है। इच्छाओं के नष्ट होने पर मनुष्य इस संसार के सौन्दर्य रस का पान करेंगे और तब इस क्रय-विक्रय का, हमारे तुम्हारे के मिथ्या अधिकार विचार का भी अन्त हो जायगा। धन देनेवाला महाजन चला जायगा और बेचने और ख़रीदने वाले भी चले जाँयगे, तब यह संसार एक सुन्दर चित्र भर रह जायगा। निम्नलिखित से ईश्वर की अधिक सुन्दर कल्पना मैंने कहीं नहीं देखी। "परमात्मा प्राचीन कवि, आदि कवि है। सारा ब्रह्माण्ड उसकी कविता है जो कि छन्द, मात्रा और लय के साथ अनन्त रस में डुबोकर लिखी गई है।" अपनी इच्छाओं के मिटाने पर ही हम ईश्वर की इस कविता को पढ़ सकेंगे और उसका आनन्द ले सकेंगे। तब सर्वत्र ही हम परमात्मा को

देखेंगे। गली, कूचे, कोने, जिन्हें पहिले हम अपवित्र और इतने घृणास्पद समझते थे, अब ब्रह्म-मय दिखाई देंगे। उनकी वास्तविक प्रकृति हमें दिखाई पड़ेगी। हमारा रोना-गाना सब बच्चों का खिलवाड़ भर था, यह सोच कर हमें अपने ही ऊपर हँसी आवेगी। आदि शक्ति माता, हम सभी समय उपस्थित यह कौतुक देख रहे थे।

वेदान्त कहता है, इस प्रकार तुम काम करो। वह सिखाता है कि तुम त्याग करो, इस मिथ्या माया-संसार का त्याग करो। इसका अर्थ क्या है? जैसा कि पहिले कहा गया है, परमात्मा को प्रत्येक वस्तु में देखो। सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो, यदि चाहो, तो सभी सांसारिक सुखों को प्राप्त करो, केवल उनमें परमात्मा को देखो। सांसारिक से उन्हें स्वर्गीय बना लो और फिर सौ वर्ष तक जियो। संसार में सुख, आनन्द और क्रियाशीलता के दीर्घ जीवन की इच्छा करो। कर्म करने का यही मार्ग है, अन्य नहीं। सत्य के बिना जाने यदि कोई मिथ्या विलास-वासनाओं का दास बन जाता है, तो वह पथ-भ्रष्ट है, उसे पथ नहीं मिला। और इसी भाँति यदि कोई संसार को गालियाँ देता है, अपने आपको कष्ट देता है, बन में जाकर भूख से अपने शरीर को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है, अपने हृदय को मरु-भूमि के समान बनाकर उसकी सारी भावनाओं को नष्ट कर देता है और इस प्रकार कठोर, भयानक और नीरस होजाता है, तो वह भी पथ-भ्रष्ट है, पथ उसे भी नहीं

मिला। यह दोनों चरम सीमाएँ हैं और दोनों ही ग़लत हैं। दोनों ही अपना लक्ष्य और पथ भूल गए हैं।

वेदान्त कहता है, इस प्रकार सब वस्तुओं में एक परमात्मा को जान कार्य करो। जीवन को ब्रह्म-मय और परमात्मा के समान ही जान निरन्तर कर्म करो। परमात्मा को सर्वव्यापी समझकर सभी इच्छायें और कार्य उसीके लिये करो। अन्यत्र उसे कहाँ पाओगे! प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक विचार में, प्रत्येक भावना में वही ब्रह्म है। इस प्रकार समझकर हमें कर्म करना चाहिए। इसे छोड़ कोई अन्य मार्ग नहीं। इस प्रकार हम कर्म-फल के बन्धनों से मुक्त हो जावेंगे, कर्म-दोषों से तुम्हें कुछ भी क्षति न होगी। हम देख चुके हैं कि हमारी मिथ्या इच्छायें और वासनायें ही हमारे दुःख और विपत्ति का कारण होती हैं, पर इस प्रकार ब्रह्म-मय होने से वे पवित्र हो जाती हैं और उनसे कोई दुःख व बुराई नहीं होती। इस रहस्य के बिना जाने लोगों को एक राक्षसी संसार में कहना पड़ेगा। मनुष्य नहीं जानते कि कितना सुख, शान्ति और आनन्द यहाँ है, उनमें है, उनके चारों तरफ़ है, सर्वत्र है। फिर भी उसका उन्हें ज्ञान नहीं। राक्षसी संसार क्या है? वेदान्त कहता है—अविद्या।

वेदान्त कहता है, सबसे बड़ी नदी के किनारे बैठे हुए हम प्यासे हैं। खाने के हमारे पास ढेर लगे हैं, फिर भी हम भूखे हैं। संसार आनन्द-मय है, हम उसे देख नहीं पाते। हम उसीमें हैं, सभी समय वह हमारे चारों ओर है फिर भी हम उसे पहचान

नहीं पाते। धर्म कहते हैं कि हम इस आनन्दमय संसार को तुम्हें दिखायेंगे। इसी आनन्द-मय संसार की खोज में ही सब लोग लगे हुए हैं। सभी जातियों ने इसकी खोज की है, धर्म का यही एकमात्र लक्ष्य है, भिन्न-भिन्न भाषाओं में इसी एक आदर्श का वर्णन है, धर्मों के पारस्परिक झगड़े कोरे वितण्डावाद हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं। यह अन्तर केवल भाषा की भिन्नता के कारण है। कोई अपने विचार को किसी तरह प्रकट करता है, कोई किसी तरह से। शायद जो बात मैं अभी कह रहा हूँ, बिल्कुल वही बात आप दूसरी भाषा में कह सकते हैं। कीर्ति अथवा अधिकार पाने की इच्छा से मैं कहता हूँ—यह मेरा अपना मौलिक विचार है। हमारे जीवन में इसी प्रकार झगड़े उत्पन्न होते हैं।

इसी सम्बन्ध में फिर और भी प्रश्न उत्पन्न होते हैं, बातें बनाना तो सरल है। बचपन से ही मैंने परमात्मा को सर्वत्र देखने की बात सुन रक्खी है, जिससे सब वस्तुएँ पवित्र होकर सुख देनेवाली होती हैं; पर जैसे ही संसार में आकर मैं कुछ ठोकरें खाता हूँ, तो यह ज्ञान हवा हो जाता है। गली में जाता हुआ मैं सोचता हूँ कि परमात्मा सर्वत्र है कि वैसे ही एक अधिक बलवान पुरुष आकर मुझे धक्का देता है और मैं ज़मीन पर मुँह के बल गिर पड़ता हूँ। मैं जल्दी से उठता हूँ, मेरे दिमाग़ में खून चढ़ जाता है, सब कुछ भूलकर मैं पागल हो जाता हूँ। ईश्वर के बदले मुझे शैतान दिखाई देने लगता है। जबसे हम

पैदा होते हैं, हमें सिखाया जाता है, परमात्मा को सर्वत्र देखो। सभी धर्म यह बात सिखाते हैं—परमात्मा को सब वस्तुओं में सर्वत्र देखो। क्या तुम्हें याद नहीं कि ईसा ने इसी बात को न्यू टेस्टामेंट में साफ़-साफ़ शब्दों में कहा है? हम सबने यही सीखा है, पर जब हम उसे कार्य-रूप में लाना चाहते हैं, तभी तो कठिनाई सामने आती है। आपको यूरोप की वह कहानी याद होगी, जिसमें एक बारहसिंगा एक सरोवर में अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने बच्चे से कहता है—"मैं कितना बलवान् हूँ। मेरे सुन्दर सिर को देखो। मेरी पेशियाँ कितनी मांसल और मजबूत हैं। मैं कितना तेज़ भाग सकता हूँ।" कि इतने में कुत्तों के भूँकने का शब्द सुनाई पड़ता है और बारहसिंगा तुरन्त दुम दबाकर भाग खड़ा होता है। कई मील दौड़ने के बाद जब वह दम लेता है, तो बच्चा कहता है—तुमने अभी तो मुझसे कहा था कि तुम बड़े बलवान् हो, फिर कुत्तों के भूँकते ही क्यों भाग खड़े हुए?" उसने कहा—"यही तो, मेरे बच्चे! जब कुत्ते भूँकते हैं, तो सारे होश हवा हो जाते हैं।" यही हाल हमारा भी है। बेचारी मनुष्य-जाति का हमें बड़ा ध्यान रहता है, पर जैसे ही कोई कुत्ता भूँकता है, हम पागल बारहसिंगे की भाँति भाग खड़े होते हैं। यदि अन्त में यही होना है, तो सभी शिक्षाओं और उपदेशों का फल ही क्या हुआ? उनका बड़ा फल है, पर सब कुछ एक ही दिन में तो नहीं हो सकता। "पहले आत्मा की बात सुनना चाहिए, फिर उसका

ध्यान और चिन्तन करना चाहिए।" सभी जन आकाश को देख सकते हैं, पृथ्वी पर रेंगता हुआ कीड़ा भी उसे देख सकता है, पर वह है कितनी दूर ! मन तो सब कहीं चला जाता है, पर इस शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में बड़ा समय लगता है। यही दशा हमारे आदर्शों की भी है। वे बहुत ऊँचे हैं, और बहुत नीचे, पर हम यह जानते हैं कि हमारे आदर्श अवश्य होने चाहिए। और हमें ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श रखने चाहिये। हम यह भी जानते हैं कि अभाग्य-वश संसार के अधिकांश लोग बिना किसी आदर्श के अँधेरे में भटकते फिरते हैं। यदि एक आदर्शवाला हजार ग़लतियाँ करता है, तो मुझे विश्वास है कि बिना आदर्शवाला उससे पचास गुनी करेगा। इसलिए अपने सामने एक आदर्श अवश्य रखना चाहिए। इस आदर्श का ही वर्णन हमें जितना हो सके सुनना चाहिए जब तक कि वह हमारे हृदय में न समा जावे, हमारे मस्तिष्क में न भर जावे, हमारे रक्त के साथ ही न बहने लगे, हमारी नस-नस में ही जब तक उस प्रकार के विचार न भिद जावें। हमें उसे अवश्य सुनना चाहिए। "हृदय जब भावनाओं से भर जाता है, तो मुँह बोलता है।" और हृदय के भावनाओं से भर जाने पर हाथ भी काम के लिए उठते हैं।

विचार ही हमें कार्य के लिए प्रेरित करते हैं। हृदय को उच्च-से-उच्च विचारों से भर लो, दिन-प्रति-दिन उन्हीं की बातें सुनो, सदा उन्हीं का ध्यान करो। असफलता की चिन्ता न करो।

असफलतायें बिलकुल स्वाभाविक हैं, ये जीवन को सुन्दर बनाती हैं। इन असफलताओं के बिना भी जीवन क्या होगा? संग्राम के बिना जीवन रहने योग्य न होगा। जीवन का कवित्व ही नष्ट हो जावेगा। संग्राम की असफलताओं की चिन्ता न करो। मैंने गाय को कभी झूठ बोलते नहीं सुना, फिर भी वह गाय ही है—मनुष्य नहीं। इसलिए असफलताओं की छोटी-भूलों की फ़िक्र न करो। अपने आदर्श का हज़ार बार ध्यान करो और यदि हज़ार बार तुम असफल होते हो, तो एक बार फिर प्रयत्न करो। मनुष्य का आदर्श है कि वह परमात्मा को सर्वत्र देखे। यदि तुम उसे सभी वस्तुओं में नहीं देख सकते, तो पहले उसी में देखो, जो तुम्हें सबसे अधिक प्यारी है फिर दूसरी में। इस प्रकार आगे बढ़ते चलो। आत्मा के लिए जीवन अपार है। इच्छानुसार समय खर्च करो, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।

"वही एक जो मन से भी चंचल है, जिसकी गति मन से कहीं अधिक तीव्र है, मनुष्य का विचार जिसकी कल्पना नहीं कर सकता, देवता भी जिसे पा नहीं सकते, वही सब ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करता हुआ स्वयं चलता है। वह स्थिर भी है। यह सब उसी में स्थित है। वह स्थिर भी है और अस्थिर भी। वह निकट भी है, दूर भी। सभी वस्तुओं में वह है। सभी वस्तुओं का बाहरी रूप भी वही है, जिससे हम उन्हें पहचानते हैं। जोकि उस आत्मा को सभी वस्तुओं में देखता है और सभी वस्तुओं को आत्मा में देखता है, वह आत्मा से कभी दूर नहीं होता।

ब प्राणी सारी जीव-प्रकृति और ब्रह्माण्ड को उसी आत्मा में खने लगा, तो उसे रहस्य का ज्ञान हो गया। उसके लिए फिर ोई माया नहीं। जिसने विश्व की एकता को पहचान लिया, सके लिए दुःख कहाँ ?"

सब वस्तुओं और जीवन की एकता वेदान्त का दूसरा विशेष द्धान्त है। वेदान्त ने बतलाया है कि हमारा सारा दुःख अविद्या ा कारण है। अज्ञान वस्तुओं को भिन्न-भिन्न समझना है। मनुष्य ानुष्य से, बच्चा स्त्री से, जाति जाति से, पृथ्वी चन्द्रमा से और न्द्रमा सूर्य से, यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड का एक परमाणु दूसरे रमाणु से भिन्न समझा जाता है और यही भिन्नता का ज्ञान मारे सारे दुःख का कारण है। वेदान्त कहता है, यह भिन्नता कहीं नहीं है, यह वास्तविक नहीं, केवल ऊपर दिखाई देती है। वस्तुओं में आन्तरिक एकता है। यदि भीतर दृष्टि डालो, तो मनुष्य मनुष्य, स्त्री बच्चे, जातियाँ, ऊँच नीच, ग़रीब और अमीर, देवता और मनुष्य सब एक हैं और यदि अधिक गम्भीर विचार करो, तो पशु भी उन्हींके साथ एक हैं। जिसे इस बात का ज्ञान है उसके लिये माया नहीं। उसने उस एकता को पा लिया है जिसे हम धर्म की भाषा में परमात्मा कहते हैं। उसके लिये माया कहाँ ? उसे कौन मोह सकता है ? उसने सब वस्तुओं की एकता को, उनके रहस्य को पहचान लिया है। जब उसको इच्छायें ही नहीं, तो उसे दुःख कहाँ से होगा ? संसार की वास्तविकता को उसने ईश्वर-मय जान लिया है, जो कि सभी वस्तुओं की

एकता है, चिदानन्द, अनन्त ज्ञान और अमर जीवन है। उसमें दुख, रोग, शोक, भय, मृत्यु, असन्तोष कुछ भी नहीं है। वह पूर्ण एकता और पूर्ण आनन्द है। हम किसके लिये फिर दुःख करें। वास्तव में न तो मृत्यु है, न दुख है, न हमें किसी के लिये दुखी होना है, न शोक करना है। वह पवित्र परमात्मा, निर्गुण, निःशरीर, ब्रह्माण्ड का अमर, कवि, स्वयंभू और स्वयंजीवी, जो सबको कर्मानुसार फल देता है, वही सबमें व्याप्त है। वे अँधेरे में भटकते हैं, जो इस अज्ञानी और अविद्या-जनित संसार की उपासना करते हैं। जो इस संसार को सत्य जान उसे पूजते हैं, वे अँधेरे में हैं तथा जो अपना सारा जीवन इस संसार में व्यतीत कर समझते हैं कि इससे अधिक सुन्दर और उच्च कुछ भी नहीं, वे और भी अधिक अँधेरे में हैं। पर जो इस सुन्दर प्रकृति के रहस्य को जान चुका है, वह प्रकृति की सहायता से सत्य प्रकृति का ध्यान करता हुआ मृत्यु के परे हो जाता है और सत्य प्रकृति की सहायता से चिदानन्द को पाता है।" हे सूर्य, तूने अपने सुनहले थाल से सत्य को ढाँप लिया है। उसे तू हटा दे, जिससे मैं सत्य को देख सकूँ। तेरे भीतर जो सत्य है, उसे मैंने जान लिया है, तेरी सहस्र-सहस्र रश्मियों और उद्दीप्त कान्ति का अर्थ मैंने समझ लिया है। जिससे तू प्रकाशमान है, उसे मैं देख रहा हूँ। तेरे सत्य को मैं देख रहा हूँ। जो तुझ में है, वह मुझ में भी है और जो मुझमें है वह तुझ में है।"

भक्ति या प्रेम.

दो एक धर्मों को छोड़ सभी धर्मों में एक व्यक्तिगत परमेश्वर का निरूपण है। बुद्ध और जैन धर्मों के सिवाय प्रायः संसार के सभी धर्मों ने एक परमेश्वर को माना है और उसीके साथ भक्ति व उपासना का भी विचार उत्पन्न हुआ है। बुद्ध और जैन, इन दोनों धर्मों में यद्यपि एक व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना नहीं; पर वे अपने धर्म-प्रवर्त्तकों को ठीक उसी भाँति मानते और पूजते हैं, जिस प्रकार अन्य धर्म एक व्यक्तिगत ईश्वर को। उसकी प्रार्थना और उपासना का विचार, जिससे हम प्रेम कर सकते हैं और जो हमारे प्रेम का प्रतिदान दे सकता है, सार्वभौमिक है। यही प्रेम और उपासना का विचार भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न मात्रा और रूप में प्रकट होता है। इस उपासना की पहली सीढ़ी मूर्त्तिपूजा है, जबकि मनुष्य भौतिक वस्तुओं को चाहता है, जबकि उसके लिए विचार-मात्र की कल्पना करना असम्भव होता है और जब वह उन्हें सबसे नीची सतह पर खींचकर कोई-न-कोई भौतिक रूप दे ही देता है। उपासना के निराले ढंग और उनके साथ मूर्तियों (संज्ञाओं) का भी जन्म होता है। संसार के इतिहास में हम यही बात देखते हैं कि

मनुष्य निर्गुण को इन्हीं संज्ञाओं और मूर्तियों-द्वारा ग्रहण करना चाहता है। धर्म के बाहरी स्वरूप, घण्टे, ज्ञान, वाद्य, उपासना के निराले ढंग, पुस्तकें और मूर्तियाँ—सब उसीके लिए हैं। कोई भी वस्तु जो कि मनुष्य की इन्द्रियों को सत्य प्रतीत होती है तथा जिससे वह सगुण में निर्गुण की कल्पना कर सकता है, तुरन्त पकड़ ली जाती है और मनुष्य उसकी उपासना करने लगता है।

सभी धर्मों में समय-समय पर सुधारक हुए हैं जो सभी संज्ञाओं और रूढ़ियों के विरुद्ध खड़े हुए हैं; पर उनके सारे प्रयत्न निष्फल हुए हैं; क्योंकि हम देखते हैं कि जब तक मनुष्य जैसा कि आज है, वैसा रहेगा, तब तक मनुष्य-जाति का अधिकांश भाग एक ऐसे साकार पदार्थ की चाहना करेगा, जिसके चारो ओर वह अपने विचारों को एकत्रित कर सके और जो उसके विचारों का केन्द्र हो। मुसलमानों, ईसाइयों और प्रोटेस्टेण्टों ने इन्हीं रूढ़ियों के नष्ट करने के लिए भीषण प्रयत्न किये हैं; फिर भी हम देखते हैं कि उनमें भी रूढ़ियाँ आ ही गई हैं। उपासना की भौतिक रीतियों का हम बहिष्कार कर नहीं सकते। बहुत दिनों के संघर्ष के अनन्तर लोग एक संज्ञा के लिए दूसरी संज्ञा ढूँढ़ लेते हैं। मुसलमान जो सोचता है कि काफ़िरों की साकार उपासना, मूर्ति-पूजा आदि पाप है, जब काबे में जाता है, तो इसी बात को भूल जाता है। प्रत्येक धार्मिक मुसलमान को प्रार्थना करते समय अपने आपको काबे में खड़ा हुआ सोचना

होता है और जब यात्रा कर वह वहाँ पहुँचता है, तो दीवाल में जड़े हुए एक काले पत्थर को चूमना होता है। लाखों, करोड़ों यात्रियों के उस पत्थर पर किए गए चुम्बन-चिन्ह प्रलय के बाद जब सब का न्याय होगा, उनकी धार्मिकता के साक्षी होंगे। इसके बाद वहाँ झिम-झिम का कुँआ है। मुसलमानों का विश्वास है कि जो कोई भी उस कुएँ से थोड़ा-सा भी पानी खींचता है, उसके पाप क्षमा किए जाँयगे तथा प्रलय के बाद वह एक नवीन शरीर पाकर सदा के लिए अमर हो कर रहेगा।

अन्य धर्मों में हम देखते हैं कि इन संज्ञाओं ने गिर्जा व मन्दिरों का रूप धारण किया है। ईसाइयों के लिए गिर्जा अन्य स्थानों से पवित्र है। गिर्जा एक संज्ञा है। अथवा उनकी धर्म-पुस्तक बाइबिल को ही लीजिए। धर्म-पुस्तक उनके लिए अन्य सभी संज्ञाओं से अधिक पवित्र है। जैसे प्रोटेस्टेण्टों के लिए क्रॉस है, वैसे ही रोमन कैथलिकों के लिए उन महात्माओं की मूर्तियाँ हैं, जो अपने धर्म पर बलि हुए है। संज्ञाओं के विरुद्ध उपदेश देना व्यर्थ है और उपदेश दिया ही क्यों जावे? इसका कोई भी कारण नहीं कि मनुष्य साकार संज्ञाओं की उपासना न करे। जिस बात की वे संज्ञा हैं, उसीके लिए तो उनकी उपासना की जाती है। यह संसार ही एक संज्ञा है, जिसके पीछे छिपे हुए और उससे परे सत्य को पाने की हम चेष्टा करते हैं। मनुष्य का यह नीचे दर्जे का मस्तिष्क है और इसीलिए हम इन संज्ञाओं से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते। पर इसके साथ ही यह भी सच है कि हम

भौतिक संज्ञा से परे निर्गुण सत्य के पाने की चेष्टा कर रहे हैं। लक्ष्य निर्गुण है न कि सगुण। रूढ़ियाँ, मूर्त्तियाँ, घण्टे, आरती, पुस्तकें, गिर्जे, मन्दिर व सभी पवित्र संज्ञाएँ सुन्दर हैं; क्योंकि आत्मिकता के बढ़ते हुए पौधे की वे सहायता करती हैं; पर इससे अधिक नहीं सौ में निन्यानवे वार यही देखा जाता है कि आत्मिकता का पौधा बढ़ता ही नहीं। एक गिर्जे में पैदा होना अच्छा है; पर उसी में मर जाना बहुत ही खराब है। किन्हीं नियमित धार्मिक रूढ़ियों के भीतर उत्पन्न होना अच्छा है; क्योंकि वे आत्मिकता के पौधे को बढ़ने में सहायता देती हैं; पर यदि मनुष्य उन्हीं की सीमाओं के भीतर ही मर जाता है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि उसने कोई आत्मिक उन्नति नहीं की।

इसलिए यदि कोई कहता है कि संज्ञाएँ रूढ़ियाँ तथा उपासना की भिन्न-भिन्न रीतियाँ सदा ही रहनी चाहिए, तो वह झूठ कहता है; पर यदि वह कहता है कि वे आत्मा की जब कि वह प्रथम और अधम अवस्था में होती है, उन्नति में सहायता देती है, तो सच कहता है। इसीके साथ यह भी समझना चहिए कि इस आत्मिक उन्नति से मस्तिष्क की उन्नति का कोई सम्बन्ध नहीं। मस्तिष्क को लेकर चाहे कोई देव ही क्यों न हो; पर आत्मज्ञान के लिए वह एक वच्चा अथवा उससे भी तुच्छ हो सकता है। इसकी जाँच तो अभी हो सकती है। आप सभी ने एक सर्वव्यापी परमात्मा की उपासना करना सीखा है; पर उसकी तनिक कल्पना तो कीजिए। आपमें से कितने ऐसे होंगे, जो उस सर्व-

व्यापकता की कल्पना कर सकते हैं ? बहुत ज़ोर लगाने पर, यदि देखा है, तो समुद्र को अथवा आकाश को, अथवा बड़े भारी हरे भरे मैदान को, अथवा एक रेगिस्तान को, यदि उसे देखा है, तो कल्पना कर सकते हैं ; पर यह सब तो भौतिक पदार्थ हैं। जब तक आप निर्गुण का निर्गुण के ही समान तथा आदर्श को आदर्श के ही समान ही कल्पना नहीं कर सकते, तब तक आपको इन्हीं संज्ञाओं, मूर्तियों व रूढ़ियों का आश्रय लेना पड़ेगा ; चाहे मस्तिष्क में हो चाहे प्रत्यक्ष बाहर हो। आप सभी मूर्ति-पूजक उत्पन्न हुए हैं और मूर्ति-पूजा अच्छी है ; क्योंकि वह मनुष्य-प्रकृति में ही है। उसे कौन छोड़ सकता है ? केवल संपूर्ण मनुष्य जो कि परमात्मामय हो गया है। अन्य सभी मूर्ति-पूजक हैं। जब तक आप इस संसार को उसके नाना रूप और प्रतिरूपों के साथ देखते हैं, तब तक आप सभी मूर्ति-पूजक हैं। क्या आपके मस्तिष्क में रूप उत्पन्न होते हैं। आपके मस्तिष्क में थोड़ी सी सनसनी भरही होती है। इस ब्रह्माण्ड की जो कि एक विशाल संज्ञा है, आप उसके रूप, रङ्ग और आकार-प्रकार के साथ क्यों कल्पना करते हैं। यह एक बड़ी ही विशाल मूर्ति है, जिसकी आप उपासना करते हैं। जो कोई अपने शरीर को कहता है कि यह मैं हूँ, पक्का मूर्ति-पूजक है। आप सभी आत्मा हैं, जिसके न रूप है, न आकार-प्रकार है, जो कि अनन्त है तथा जिसे भौतिकता छू नहीं गई। इसलिए जो कोई अपने आपको यह शरीर वा भौतिक मानता है तथा बिना सगुण प्रकृति के निर्गुण की, जैसा कि वह है, उसकी

कल्पना नहीं कर सकता, मूर्ति-पूजक है। फिर भी कैसे लोग एक दूसरे को मूर्ति-पूजक कहकर लड़ने लगते हैं अर्थात् प्रत्येक कहता है कि मेरी मूर्ति सच्ची है, तेरी झूठी।

अतएव इन बच्चों के से सारहीन विचारों को हमें छोड़ देना चाहिए। उन लोगों की बकबक-झकझक से परे हो जाना चाहिए, जिनके लिए धर्म केवल जोशीले शब्दों का समूह है, जिनके लिए धर्म एक विशेष प्रकार के सिद्धान्त भर हैं, जिनके लिए धर्म कोरी मानसिक आस्तिकता वा नास्तिकता है, जिनके लिये धर्म उन शब्दों में विश्वास करना है, जिन्हें उनके गुरु ने उनके कान में कह दिया है, जिनके लिये धर्म वहीं है, जिसमें उनके बाप-दादों ने विश्वास किया था तथा जिनके लिये धर्म एक विशेष प्रकार के अन्ध-विश्वास और विचार हैं, जिनमें वे इसलिये विश्वास करते हैं कि वे जातीय हैं। मनुष्य-जाति को हमें एक विशाल प्राणी के समान समझना चाहिए, जो धीरे-धीरे सत्य-ज्ञान की ओर अग्रसर हो रहा है। यह सुन्दर कमल उस अमर सत्य परमात्मा की किरणों का स्पर्श कर विकसित हो रहा है। और इस सत्य-ज्ञान की ओर बढ़ने के लिये सदैव हमें पहिले इन्हीं रूढ़ियों तथा भौतिक प्रकृति का आश्रय लेना पड़ेगा। इनसे हम बच नहीं सकते।

उपासना की भिन्न-भिन्न प्रथाओं के भीतर एक विचार सर्वतोमुखी है—नाम की उपासना। आप लोगों में से जिन्होंने पुराने ईसाई धर्म व अन्य प्राचीन धर्मों का अध्ययन किया है,

उन्होंने इस बात पर अवश्य ध्यान दिया होगा कि उन सभी में इस 'नाम' की उपासना का विचित्र विचार स्थित है। नाम बहुत ही पवित्र कहा गया है। "परमात्मा के नाम में" आप लोगों ने पढ़ा होगा कि हीब्रू लोगों में ईश्वर का नाम इतना पवित्र माना जाता था कि साधारण मनुष्यों के लिये उसका उच्चारण करना मना था। वह बहुत ही पवित्र था, पवित्र से भी कहीं अधिक पवित्र था। सभी नामों में वह पवित्रतम था तथा हीब्रू लोग समझते थे कि यह नाम ही परमात्मा है। यह भी सत्य ही था; क्योंकि यह ब्रह्माण्ड नाम और आकार के सिवा है ही क्या? क्या आप शब्दों के बिना विचार कर सकते हैं? शब्द और विचार अलग नहीं हो सकते। यदि हो सकते हों, तो तनिक प्रयत्न करके देखिये। जब कभी भी आप विचार करते हैं, तो शब्दों द्वारा। शब्द अन्तर्भाग है, विचार बाहरी। उन्हें एक साथ ही रहना चाहिये। वे जुदा नहीं हो सकते। एक के साथ दूसरा आता है, शब्द के साथ विचार, विचार के साथ शब्द। इसी प्रकार यह विश्व एक बाह्य संज्ञा है, जिसके पीछे छिपा हुआ दृढ़ सत्य परमेश्वर है। प्रत्येक पदार्थ का आकार और नाम होता है। जैसे तुम अपने किसी मित्र का स्मरण करते हो, तो उसके शरीर का स्मरण हो आता है और शरीर की याद आते ही उसके नाम की भी याद आजाती है। मनुष्य की विचार-प्रकृति ही ऐसी है। तात्पर्य यह कि मनुष्य का मस्तिष्क ऐसा है कि बिना आकार के नाम का व बिना नाम के आकार का स्मरण

नहीं हो सकता। दोनों ही अलग नहीं किये जा सकते। एक शरीर है, तो दूसरा आत्मा। इसीलिये संसार में नामों की इतनी महिमा हुई है और वे पूजे गये हैं। जाने अथवा बेजाने मनुष्य ने नाम के महत्व को जान अवश्य लिया है।

हम यह भी देखते हैं कि बहुत से धर्मों में किन्हीं पवित्र पुरुषों की उपासना की जाती है। लोग कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि को पूजते हैं। कहीं-कहीं महात्माओं की पूजा की जाती है। सैकड़ों ही संसार में पूजे गए हैं। और क्यों न पूजे जाँय? प्रकाश की धारा सर्वत्र बहती है। उल्लू उसे अँधेरे में देखता है जिससे मालूम होता है कि वह अँधेरे में भी है। मनुष्य उसे वहाँ नहीं देख सकता। मनुष्य के लिए वह प्रकाश की धारा केवल दीपक में या सूर्य-चन्द्र में है। परमात्मा सर्व-व्यापी है, वह सभी पदार्थों में प्रकट होता है; पर मनुष्य को वह मनुष्य में ही दिखाई देता है। जब उसकी ज्योति, उसकी सत्ता, उसकी आत्मा, मनुष्य के स्वर्गीय मुख पर झलकती है, तभी वह उसे पहचान पाता है। इस भाँति मनुष्य में परमात्मा को जानकर मनुष्य ने उसकी उपासना की है और जब तक वह मनुष्य है तब तक वह इसी प्रकार करता रहेगा। इसके विरुद्ध वह चाहे जितना रोये, चिल्लाये और हाथ-पैर पटके; पर जब भी वह परमात्मा की कल्पना करेगा, अपने मनुष्य होने के कारण उसे परमात्मा की मनुष्य के समान ही कल्पना करनी पड़ेगी। अतः सभी धर्मों की ईश्वरोपासना में तीन बातें मुख्य हैं—

संज्ञायें या मूर्तियाँ; नाम; महात्मा। सभी में इनकी उपासना की जाती है, पर एक दूसरे से लड़ने के लिए वे कैसे तैयार हो जाते हैं। एक कहता है—"मेरा नाम, मेरी मूर्तियाँ, मेरे महात्मा सच्चे हैं, तुम्हारे कपोल-कल्पित और झूठे हैं।" ईसाई पादरी आज-कल कुछ अधिक दयालु हो गए हैं, इसलिए कहते हैं कि अन्य धर्म भावी धर्म के सूचना-चिह्न भर थे। पूरा धर्म तो उनका ईसाई धर्म है। परमात्मा मानों पहिले अपना ज़ोर आज़मा रहा था, अपनी शक्तियों की परीक्षा कर रहा था, जिनसे अन्य धर्म बने। सारी शक्ति तो उसने ईसाई धर्म बनाने में लगाई! फिर भी ख़ैर है। पचास वर्ष पहिले तो वे यह भी न कहते। उन्हींका धर्म सब कुछ था और सब मिट्टी थे; पर यह विचार किसी धर्म, जाति वा जन-समुदाय विशेष में ही परिमित नहीं; लोग यही सोचते हैं कि करना वही चाहिये, जो हम ख़ुद कर रहे हैं। यहीं पर भिन्न-भिन्न धर्मों के अध्ययन से हमें सहायता मिलती है। इससे हमें यह विदित हो जाता है कि जिन विचारों को हम अपना-अपना कहकर पुकार रहे थे, वे शताब्दियों पहिले दूसरे धर्मों में विद्यमान थे और कभी-कभी तो कहीं अधिक सुन्दर रूप में।

उपासना के यह बाहरी स्वरूप हैं। मनुष्य को इनका सामना करना पड़ता है; पर यदि वह सच्चा है और सत्य की उसे वास्तविक चाह है, तो वह इनसे परे हो जाता है। तब इनका कोई मूल्य नहीं रहता। उपासना की रीतियाँ तो बच्चों के अ आ, इ, ई, सीखने की पाटी भर हैं। मन्दिर और गिर्जे, पुर

और मूर्तियाँ, बच्चों के खेलने की वस्तुएँ हैं। यदि मनुष्य को धर्म की चाहना है, तो उसे पहिले इन सीढ़ियों पर चढ़ना होगा। इसके अनन्तर वह और भी ऊँचे जा सकेगा। परमात्मा के लिये उस चाह, उस प्यास से ही सच्ची भक्ति, सच्चे प्रेम का जन्म होता है। प्रश्न यह है कि चाह किसे है? धर्म, सिद्धान्त, अन्ध-विश्वास वा मानसिक तर्क-वितर्क कुछ नहीं है। धर्म का अर्थ कुछ हो जाना है, धर्म अनुभूति है। हम हर एक को आत्मा, परमात्मा और संसार के रहस्यों के बारे में बात-चीत करते सुनते हैं; पर यदि एक-एक करके उनसे पूछो कि क्या तुमने ईश्वर का अनुभव किया है? अपनी आत्मा को देखा है? तो कितने ऐसे होंगे, जो कहेंगे—हाँ, हमने देखा है, हमने अनुभव किया है। फिर भी वे सब आपस में लड़े मरे जाते हैं। मुझे याद आता है कि भारत-वर्ष में एक बार भिन्न-भिन्न धर्म-उपधर्मों के प्रतिनिधि एकत्रित हुए और परस्पर वाद-विवाद करने लगे। एक ने कहा—शिव ही सच्चा ईश्वर है। दूसरे ने कहा—सच्चा ईश्वर तो विष्णु है इत्यादि। उनके वाद-विवाद का कोई अन्त न था कि उधर से एक महात्मा निकले। लोगों ने विवाद में भाग लेने के लिए उन्हें भी बुला लिया। वह वहाँ गए और जो शिव को सबसे बड़ा देवता बता रहा था, उससे पहिला प्रश्न यही किया—"क्या तुमने शिव को देखा है? उससे जान पहँचान की है? यदि नहीं, तो कैसे कहते हो कि शिव ही सबसे बड़ा देवता है?" दूसरे से भी उन्होंने वैसा ही प्रश्न किया—"क्या तुमने विष्णु को देखा है?" सब

से इसी भाँति प्रश्न पूछने पर पता चला कि एक को भी परमेश्वर के वारे में अकिञ्चिद् ज्ञान नहीं है और उनके लड़ने-झगड़ने का यही तो असली कारण था। यदि उन्हें सच्ची वात का पता होता, तो वे लड़ते ही क्यों ? घड़ा जव भरा जाता है, तभी उसमें शब्द होता है और जव भर जाता है, तव तो शान्त और गम्भीर हो जाता है। तव तो, उसने सत्य को जान लिया है। अतः धर्म-उपधर्मों के लड़ाई-झगड़े से तो यही सिद्ध होता है कि वे धर्म के वारे में कुछ नहीं जानते। धर्म उनके लिए पुस्तकों में लिखे हुए जोशीले शब्द भर हैं। जिसे देखो वही जिससे पाया उसी से, विना कहे-सुने उधार लेकर एक वड़ी-से-वड़ी पुस्तक लिखने के लिये तैयार होजाता है और फिर संसार में जहाँ कि सहस्रों लड़ाई-झगड़े प्रथम से ही वर्तमान हैं, वह अपने इस गोले को भी फेंक देता है।

संसार के अधिकांश मनुष्य नास्तिक हैं। पश्चिम के नये भौतिकवादी नास्तिकों को देखकर मुझे हर्ष होता है; क्योंकि वे सच्चे तो होते हैं। वे इन पाखण्डी धार्मिक नास्तिकों से तो अच्छे होते हैं, जो धर्म के वारे में भीषण वितण्डावाद करते हैं, बड़ी-वड़ी लड़ाइयाँ लड़ते हैं, पर उसकी कभी सच्ची चाह नहीं करते, न उसे अनुभव करने की चेष्टा करते हैं, न उसे समझने का प्रयत्न ही करते हैं। ईसा के उन शब्दों का स्मरण करो—"माँगो, तुम पाओगे; ढूँढ़ो, तुम्हें मिलेगा; जंजीर खटखटाओ और दरवाजा खुलेगा।" वे शब्द अक्षरशः सत्य थे, कोरी गप्पें नहीं।

इस संसार में आनेवाले परमात्मा के सबसे बड़े बच्चों में से एक के हृदय-रक्त में रँगे हुए वे शब्द थे। पुस्तकों की नहीं वरन् वे एक ऐसे मनुष्य की उपज थे, जिसने साक्षात् ईश्वर का अनुभव किया था, उससे बात-चीत की थी तथा जैसे हम इस विशाल भवन में हैं, उससे सौगुने आवेग के साथ वह अपने ईश्वर के साथ रहा था। सवाल तो यही है कि ईश्वर की चाह किसे है? क्या तुम जानते हो कि संसार के इतने लोगों को ईश्वर की चाह है और वह उन्हें मिलता नहीं है? ऐसा तो हो नहीं सकता। विना वस्तु के इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है? क्या तुमने कभी देखा है कि मनुष्य साँस लेना चाहे और बाहर हवा न हो? क्या तुमने कभी यह सुना है कि किसी को भूख लगी हो और कहीं पर खाना न हो? इच्छाओं को कौन उत्पन्न करता है? बाहरी वस्तुएँ ही तो। प्रकाश से ही आँखें बनी हैं, शब्द से कान। इस प्रकार मनुष्य की प्रत्येक इच्छा को कोई बाहरी पदार्थ, जो वहाँ पहिले से ही था, जन्म देता है और यह संपूर्णता प्राप्त करने की, लक्ष्य पर पहुँचने की तथा भौतिक प्रकृति के परे जाने की इच्छा हमारे भीतर कैसे उत्पन्न होती, यदि किसी अपार्थिव शक्ति ने ही उसे हमारी आत्मा में जन्म दे व पोषित कर इतनी बलवती न बनाया होता? इसलिये जिसके हृदय में यह इच्छा जाग चुकी है, वह अवश्य लक्ष्य पर पहुँचेगा; पर चाह किसे है? हमें ईश्वर को छोड़ सभी वस्तुओं की चाह है। जो, आप अपने चारों ओर देखते हैं, वह धर्म कदापि नहीं है।

हमारी मेम साहब के पास दूर-दूर देशों के गृह-शोभा बढ़ानेवाले भाँति-भाँति के सामान हैं; पर आज-कल का फ़ैशन तो कोई जापानी चीज़ रखने का भी है इसलिये उन्होंने एक जापानी बर्तन खरीदकर उसे भी कमरे में एक ओर रख लिया है। दुनियाँ के अधिकांश लोगों के लिये यह फ़ैशन ही धर्म है। सुख की सभी सामग्रियाँ उन्हें चाहिये और चूँकि धर्म के बिना जीवन कुछ अधूरा सा रहता है और लोग निन्दा भी करने लगते हैं, इसलिये थोड़ा सा धर्म भी चाहिये। समाज में आलोचना होती है; अतः साहब और मेमसाहब थोड़ा सा धर्म भी संग रखते हैं। धर्म की यही वर्तमान दशा है।

एक शिष्य अपने गुरू के पास गया और बोला—"गुरूजी, मुझे धर्म चाहिए।" गुरूजी ने शिष्य की ओर देखा और कुछ न बोले। केवल थोड़ा सा मुस्करा दिये। शिष्य प्रतिदिन आता और इसी बात का हठ करता कि मुझे धर्म चाहिए; पर वृद्ध पुरुष उस नवयुवक से अधिक जानकार थे। एक दिन जब बहुत गर्मी पड़ रही थी, वह उस नवयुवक को नदी में स्नान कराने के लिए लिवा ले गए। नदी में पहिले नवयुवक ने गोता लगाया, इसके पश्चात वृद्ध पुरुष ने गोता लगाकर उसे बलपूर्वक पानी के नीचे दाब रक्खा। जब वह थोड़ी देर व्यर्थ ही चेष्टा कर चुका, तो उन्होंने उसे छोड़ दिया और जब बाहर आया, तो उससे बोले—" के भीतर तुम्हें किस वस्तु की सबसे अधिक चा थी?" ने उत्तर दिया—"साँस लेने की।" क्या पर

उसी भाँति चाह है ? यदि है, तो आप उसे एक क्षण में पा जायँगे। आप अपनी पुस्तकों को, मस्तिष्क को और मूर्तियों को लिये हुए चाहे जितना सर पटकिये ; पर जब तक आपके हृदय में वह प्यास, वह इच्छा, नहीं है, तब तक आप परमेश्वर को नहीं पा सकते। आप तब तक निरे नास्तिक हैं, अन्तर केवल इतना है कि वह सच्चा है और आप नहीं हैं।

एक बड़े महात्मा कहा करते थे—मानों एक कोठरी में एक चोर है और दीवाल के उस पर दूसरी कोठरी में बहुत सा धन रक्खा हुआ है, तो उस चोर की क्या दशा होगी ? उसे नींद, भूख, प्यास, कुछ न लगेगी। उसका हृदय उसी धन पर धरा रहेगा। वह यही सोचेगा कि किस प्रकार इस दीवाल में सेंध कर उस पार जाऊँ और वह धन प्राप्त करूँ। यदि मनुष्यों को विश्वास होता कि सुख, सौन्दर्य और शान्ति उनके चारों ओर भरा पड़ा है, तो क्या वे अपने साधारण कामों में लगे रहते और परमेश्वर को पाने की चेष्टा न करते ?" जैसे ही किसी को यह विश्वास हो जाता है कि परमेश्वर है, तो वह उसे पाने के लिए आकुल हो उठता है और लोग चाहे जो करें पर जैसे ही किसी पुरुष को विश्वास हो जाता है कि इस पार्थिव जीवन से बढ़कर कोई ऊँचा जीवन है, इन्द्रियों का जीवन परिमित है तथा यह भौतिक शरीर उस अमर, अनन्त आत्मा के सौन्दर्य के आगे तुच्छ है, वैसे ही वह उस सौन्दर्य को स्वयं प्राप्त करने की लालसा से ल हो उठता है और यही पागलपन, यही पिपासा, यही

अभिलाषा धार्मिक जागृति है। जब मनुष्य इस प्रकार से जागता है, तभी वह धार्मिक होता है ; पर इसके लिए बहुत समय चाहिए। उपासना की नाना रीतियाँ—उत्सव, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, पुस्तकें, घण्टे, आरती, पुजारी आदि सभी उस विशाल जागृति की तैयारियाँ हैं। वे आत्मा के ऊपर चढ़े हुए कालुष्य को दूर कर देती हैं। आत्मा जब पवित्र हो जाती है, तो वह स्वभावतः पवित्रता की खान परमात्मा से मिलना चाहती है। जैसे कि शताब्दियों की मिट्टी-धूलि से भरा हुआ लोहा अपने पास पड़े हुए चुंबक पत्थर से आकर्षित नहीं होता ; पर जैसे ही किसी प्रकार उसका मल दूर हो जाता है, तो झट उसीसे मिल जाता है, उसी प्रकार यह हमारी आत्मा सहस्रों वर्षों की अपवित्रता, बुराई और पाप कर्मों में लिपटी हुई, लक्ष-लक्ष जन्म-जन्मान्तरों के पश्चात् इन्हीं रीतियों और रूढ़ियों से, परोपकार करने से, दूसरों का प्यार करने से पवित्र हो जाती है और तब उसकी स्वाभाविक आकर्षण-शक्ति उसमें लौट आती है, फलतः वह जाग उठती है और परमात्मा से मिलने के लिए आकुल होने लगती है। धर्म का यही आरम्भ है।

फिर भी यह रीतियाँ और संज्ञायें केवल आरम्भिक हैं ; सत्य-प्रेम नहीं। प्रेम का बखान हम सर्वत्र सुनते हैं ; सभी है, परमेश्वर से प्रीति करो ; पर मनुष्य जानते नहीं हैं करना कैसा होता है। यदि जानते, तो इतनी जल्दी प्रेम में बातें न बनाते। प्रत्येक पुरुष कहता है—मैं प्यार कर

थोड़ी ही देर में क्या सिद्ध होता है कि उसके भीतर कुछ भी प्यार नहीं। प्रत्येक स्त्री कहती है—मैं प्रेम करती हूँ; पर पल भर में ही मालूम होता है कि उसमें कुछ भी प्यार नहीं। प्रेम की बातों से संसार भरा है; पर प्रेम करना बड़ा कठिन है। प्रेम कहाँ है? तुम कैसे जानते हो कि प्रेम है? प्रेम की पहली पहचान यह है कि प्रेम में सौदा नहीं होता। जब कभी किसीको स्वार्थ-साधन की इच्छा से किसी पर प्रेम जताते देखो, तो समझ लो कि वह प्रेम नहीं है। वह बनियों का प्रेम है। जब 'इस हाथ दे उस हाथ ले' का सवाल आ गया, तो प्रेम कहाँ रहा? इसलिए जब कोई परमेश्वर से प्रार्थना करता है—'मुझे यह दे, वह दे' तो वह सच्ची भक्ति नहीं करता। मैं तुम्हारी थोड़ी सी प्रार्थना करता हूँ, तुम मुझे बदले में अमुक वस्तु दे दो, यह तो दूकानदारी हुई। प्रेम कहाँ रहा?

एक बादशाह था, जो कि आखेट के लिए वन में गया और वहाँ उसको एक महात्मा से भेंट हुई। थोड़े से ही वार्तालाप से वह इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उनसे अपनी एक भेंट स्वीकार करने की प्रार्थना की। महात्मा ने कहा—"नहीं, मुझे अपनी दशा से पूर्ण सन्तोष है। इन वृक्षों से खाने के लिए मुझे फल मिलते हैं तथा इन निर्मल निर्झरों से पीने के लिए पानी। इन गुफाओं में मैं सोता हूँ। तुम बादशाह हो, तो भी मुझे तुम्हारी भेंटों की क्या पर्वाह?" बादशाह ने कहा—आप कुछ भेंट स्वीकार करें, जिससे मैं अनुगृहीत और कृतार्थ होऊँ तथा आप मेरे साथ राजधानी में चलें।" अन्त में महात्मा बादशाह के साथ नगर में

चलने के लिए सन्नद्ध हो गए। तत्पश्चात् धन-सम्पति और नाना वैभवों से भरे हुए राज-मन्दिर में वह लाए गए। धन-वैभव के इस विशाल आगार में उस वनचारी मुनि का स्वागत किया गया। बादशाह उनसे क्षण भर ठहरने के लिए कह एक कोने में जाकर प्रार्थना करने लगा—"हे ईश्वर, मुझे और भी धन-सन्तान और राज्य दे।" इसी समय महात्मा उठकर चल पड़े। बादशाह ने उन्हें जाते देखा और स्वयं पीछे जाकर बोला—"ठहरिये महाराज, आप तो मेरी भेंट बिना स्वीकार किये ही चल दिए।" महात्मा ने लौटकर उत्तर दिया—"भिखारी, मैं भिखारियों की भीख नहीं लेता हूँ। तुम मुझे क्या दे सकते हो? स्वयं ही तुम दूसरे से माँग रहे थे।" प्रेम की भाषा यह तो नहीं है। यदि परमेश्वर से तुम लेन-देन करते हो, तो प्रेम और दूकान-दारी में अन्तर ही क्या हुआ? प्रेम की पहली परीक्षा यह है कि प्रेम सौदा नहीं करता। प्रेम सदा देता है, कभी लेता नहीं। ईश्वर का सच्चा भक्त कहता है—"यदि ईश्वर चाहे, तो उसे मैं अपना फटा कुर्ता भी दे सकता हूँ, पर मुझे उससे कुछ नहीं लेना है। संसार में मुझे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। मैं उससे प्रेम के लिए प्रेम करता हूँ न कि किसी स्वार्थ-लाभ की इच्छा से। परमेश्वर सर्वशक्तिमान है कि नहीं इसकी मुझे क्या चिन्ता; क्योंकि न तो मुझे स्वयं शक्ति चाहिए, न उसकी शक्ति की परीक्षा ही करनी है। मुझे इतना ही काफ़ी है कि मेरा ईश्वर प्रेम-मय है। मुझे अन्य सवाल-जवाबों से क्या करना है।"

प्रेम की दूसरी परीक्षा यह है कि प्रेम भय नहीं जानता। तुम प्रेम को कैसे डरा सकते हो? बकरी और बाघ में कभी प्रेम देखा है, अथवा बिल्ली और चूहे में व मालिक और गुलाम में? गुलाम कभी-कभी प्रेम-भाव प्रदर्शित करते हैं; पर वह क्या सच्चा प्रेम होता है? वह केवल धोखेबाज़ी है। जब तक मनुष्य ईश्वर की इस प्रकार कल्पना करेगा कि वह ऊपर बादलों में एक हाथ में सज़ा और दूसरे में इनाम लिये हुए बैठा है, तब तक उससे प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम के साथ भय अथवा अन्य किसी भयोत्पादक वस्तु का विचार नहीं होता। एक युवती माता का ध्यान कीजिये जो कि गली में कुत्ते के भूँकते ही पास के घर में घुस जाती है; पर दूसरे दिन वह बच्चा लिये हुए है और उस पर शेर झपटता है, अब उसका स्थान कहाँ होगा? बच्चे की रक्षा करते हुए शेर के मुँह में। प्रेम ने भय पर विजय पाई। इसी प्रकार परमात्मा का भी प्रेम होता है। ईश्वर दण्ड देता है कि पारितोषिक देता है—इसकी क्या चिन्ता? प्रेमी इस बात का विचार नहीं करता। जज जब कचहरी से आता है, तब उसकी स्त्री उसे सज़ा या इनाम देनेवाले जज के रूप में नहीं देखती, वरन् उसे अपना स्वामी, अपना प्रियतम समझती है। बच्चे उसे किस रूप में देखते हैं? सज़ा देनेवाले जज के, नहीं, वरन् प्यार करनेवाले पिता के रूप में। इसी प्रकार ईश्वर के भक्त उसे सज़ा व इनाम देनेवाला नहीं समझते। जिन्होंने प्रेम स्वाद को कभी चक्खा नहीं है, वे ही भय से त्रस्त हो जाते हैं।

भय को हृदय से दूर कर दो। सजा और इनाम देनेवाले ईश्वर के गर्हित विचारों को दूर करो। असभ्य और जङ्गली लोगों के लिये ही वे उपयोगी हो सकते हैं; पर जो आत्म-ज्ञानी हैं, जो धर्म के रहस्य को जानते हैं, तथा जिनके हृदय में अन्तर्दृष्टि उत्पन्न हो चुकी है, उनके लिये ऐसे विचार विल्कुल वच्चों के से और मूर्खता से भरे हुए हैं। ऐसे पुरुष तो भय को हृदय से विल्कुल निकाल देते हैं।

तीसरी परीक्षा और भी ऊँची है। प्रेम सर्वोच्च आदर्श है। जब मनुष्य पहली दो परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है—जब दूकानदारी और भय छोड़ देता है—तब उसे इस बात का अनुभव होता है कि प्रेम का ही आदर्श सब से ऊँचा है। कितनी ही वार देखा जाता है कि एक वहुत ही सुन्दर स्त्री किसी अत्यन्त कुरूप पुरुष से प्रेम करती है। और कितनी ही वार यह भी देखा जाता है कि एक वहुत ही सुन्दर पुरुष किसी अत्यन्त कुरूप स्त्री से प्रेम करता है। वहाँ उनके लिये आकर्षण क्या है? स्त्री और पुरुष की कुरूपता को पास के अन्य लोग ही देखते हैं, प्रेमी नहीं। अपने लिये वे संसार के सभी जनों से अधिक सुन्दर हैं। ऐसा क्योंकर होता है? जो स्त्री कुरूप पुरुष से प्रेम करती थी उसने अपने सौन्दर्य के आदर्श को मानों उस पर विठा दिया और जिससे वह प्रेम करती थी, वह कुरूप पुरुष नहीं उसके ही आदर्श की प्रतिच्छाया थी। पुरुष एक इशारा भर था, जिसे उसने अपने आदर्श के आवरण से ढँककर अपनी पूजा की वस्तु वना लिया। जहाँ भी हम प्रेम करते हैं, वहाँ यह दशा होती है।

हम लोगों में से कितनों के ही बहुत ही साधारण रूप-रंग के भाई बहन होंगे; पर भाई बहन होने के कारण वे संसार के सभी स्त्री-पुरुषों से अधिक सुन्दर मालूम पड़ते हैं।

इसका रहस्य यही है कि प्रत्येक मनुष्य अपने आदर्श की दूसरे में कल्पना करके उससे प्रेम करने लगता है। यह सारा संसार एक संज्ञा है। जो कुछ हम देखते हैं, वह हमारी ही कल्पना का प्रतिबिम्ब है। सीप के मुँह में एक बालू का दाना पड़ जाता है। उसके उदर में पीड़ा होती है, जिससे वह बालू पर अपना रस गिरा देती है, जिसके फल-स्वरूप हमें मोती मिलता है। यही हम सबका भी क्रम है। बाहरी वस्तुएँ बालू के कणों के समान संज्ञामात्र हैं, जिन्हें हम अपने आदर्श के आवरण से ढक देते हैं। बुरे लोगों को ससार नरक के समान और अच्छे लोगों को स्वर्ग के समान दिखाई पड़ता है। प्रेम करने वालों को यह संसार प्रेम से, घृणा करने वालों को घृणा से, लड़ने वालों को लड़ाई से, शान्ति चाहने वालों को शान्ति से और सम्पूर्ण मनुष्य को परमात्मा से भरा हुआ दिखाई देता है। अतः हम सदैव अपने सर्वोच्च आदर्श की ही उपासना करते हैं, और उस समय जबकि हम अपने आदर्श को आदर्श ही मानकर उससे प्रेम करने लगते हैं, तब सभी सन्देह और तर्क-वितर्क दूर हो जाते हैं। फिर ईश्वर की सत्ता सिद्ध हो सकती है या नहीं, इसकी किसे चिन्ता रहेगी। हमारा आदर्श हमारे स्वभाव और प्रकृति में मिल जाने का कारण फिर हम से अलग नहीं हो सकता। अपने आदर्श के

विषय में हमें तभी सन्देह होगा, जब हमें अपने जीवन में सन्देह होगा और चूँकि हमें अपने जीवन में सन्देह नहीं हो सकता, अतः आदर्श में भी न होगा। इसकी किसे चिन्ता होगी कि विज्ञान ऐसे ईश्वर को मनुष्य के बाहर सिद्ध कर सकता है या नहीं, जो कहीं अलग रहता है और जब मन में आता है, तो संसार का इन्तजाम करता है तथा कुछ दिनों तक संसार का निर्माण कर फिर सो जाता है? इसकी फ़िक्र किसे होगी कि ईश्वर सर्व-शक्ति-मय होने के साथ ही दयालु भी हो सकता है या नहीं? इसकी किसे पर्वाह होगी कि वह हमें कर्मों का शुभ फल देता है या नहीं तथा हमें एक क्रूर शासक की दृष्टि से देखता है या हमारे एक हितैषी राजा की दृष्टि से? प्रेमी इनाम, सजा, भय, सन्देह, तथा ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये वैज्ञानिक अथवा अन्य साक्षात् प्रमाणों की आवश्यकता से परे हो जाता है। उसका प्रेम का आदर्श ही उसके लिए सब कुछ है। क्या यह सारा संसार प्रेम की ही महिमा नहीं प्रकट करता। अणु-अणु से और परमाणु-परमाणु से आकर क्यों मिल जाता है? बड़े नक्षत्र एक दूसरे की ओर द्रुत वेग से दौड़ते हुए क्यों चले जाते हैं? पुरुष स्त्री की ओर और स्त्री पुरुष की ओर क्यों आकर्षित होते हैं? मनुष्य-मनुष्य में और पशु-पशु में क्यों प्रेम होता है? किस शक्ति के कारण यह संसार एक केन्द्र की ओर खिंचता हुआ सा दिखाई देता है? वह शक्ति-प्रेम की ही है। छोटे-से-छोटे अणु से लेकर ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श में यही प्रेम विद्यमान है। प्रेम सर्वव्यापी

और सर्वत्र रहनेवाला है। जड़ और चेतन में, किसी विशेष वस्तु और समस्त विश्व में परमात्मा का प्रेम स्पष्ट है। उसी प्रेम के आवेग के कारण ईसा मनुष्य-जाति के लिए अपनी जीवन-आहुति करने के लिए तैयार हो जाता है; बुद्ध एक पशु के लिए, माता बच्चे के लिए तथा पति अपनी स्त्री के लिए मरने को तैयार हो जाता है। यह उसी प्रेम का जोश है, जो मनुष्य स्वदेश के लिए आत्म-बलिदान कर देते हैं और यद्यपि सुनने में विचित्र मालूम होता है, उसी प्रेम के जोश के कारण चोर चोरी करने के लिए और हत्यारा हत्या करने के लिए जाता है; क्योंकि यहाँ पर भी शक्ति वही एक है; केवल भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई है। संसार में कर्म करने के लिए प्रेरित करनेवाली यही एक मात्र शक्ति है। चोर में भी प्रेम था केवल कुमार्ग में चला गया था। इसलिए सभी पाप तथा पुण्य-कार्य इसी शक्ति से प्रेरित होकर किए जाते हैं। मान लो, तुम में से कोई जेब में से एक काग़ज़ का टुकड़ा निकाल कर न्यूयॉर्क के ग़रीबों के लिए एक सहस्र डॉलरों का चेक लिख देता है और मैं भी जेब से काग़ज़ निकालकर उस पर तुम्हारे जाली हस्ताक्षर बनाने की चेष्टा करता हूँ, तो हम दोनों की प्रेरक शक्ति तो एक ही है, उसके विभिन्न रूपों के उत्तरदायी हम दोनों हैं। दोष उस प्रेरक शक्ति का नहीं है। निर्विकार, पर सब में सदा प्रकाशमान इस संसार की प्रेरक-शक्ति, जिसके बिना एक पल में ही यह संसार कोटि-कोटि टुकड़े होकर बिखर जायगा, प्रेम है और इसी प्रेम का नाम ईश्वर है।

"हे प्यारे, स्त्री-पति से उसके पति होने के कारण प्यार नहीं करती वरन् उसके भीतर स्वात्मा को देखकर उससे प्रेम करती है; इसी प्रकार प्यारे, कोई पति-पत्नी से उसके पत्नी होने के कारण प्रेम नहीं करता, वरन् उसके भीतर स्वात्मा को देखकर ही प्रेम करता है। किसी ने स्वात्मा को छोड़कर अन्य से प्रेम नहीं किया।" यह स्वार्थपरता भी, जिसकी इतनी निन्दा की गई है, उसी प्रेम का एक रूप है। अभिनय के बाहर खड़े हो जाओ, उसमें सम्मिलित न होओ, फिर इस विचित्र रंगभूमि को, इस अपूर्व नाटक के दृश्यों को देखो। इस मधुर संगीत को सुनो। एक प्रेम के ही यह सब विविध रूप हैं। इस स्वार्थपरता में भी आत्मा के अनेक भाग हो जायँगे और उन भागों के फिर और भी भाग हो जायँगे। एक आत्मा, एक पुरुष, विवाह करने पर दो, सन्तान होने पर अनेक तथा बढ़ते-बढ़ते गाँव, नगर हो जायगा और फिर भी यहाँ तक बढ़ेगा कि सारा संसार, सारा ब्रह्माण्ड ही उसे स्वात्म-मय दिखाई देने लगेगा। अन्त में उसी आत्मा में आकर सभी पुरुष, स्त्री, बच्चे, पशु-पक्षी सारा संसार ही आकर केन्द्रीभूत हो जायगा। आत्मा बढ़ते-बढ़ते विश्व-व्यापी अनन्त प्रेम में परिणत हो जायगी। इसी प्रेम का नाम ईश्वर है।

इस प्रकार रीति-रिवाजों, संज्ञाओं और मूर्तियों से नाता तोड़ देने पर हमें श्रेष्ठ भक्ति और सच्चा प्रेम मिलता है। जो कोई भी इस सीमा पर पहुँच जाता है, उसके लिये सम्प्रदायों और

उपधर्मों का कोई मूल्य नहीं रहता। सारे सम्प्रदाय और उपधर्म उसी में होते हैं। फिर वह किस विशेष संप्रदाय या धर्म का आश्रय ले ? ऐसा पुरुष किसी गिर्जे अथवा मन्दिर में प्रवेश नहीं करता; क्योंकि समस्त गिर्जे व मन्दिर उसीमें हैं। किन्हीं परिमित रीति-रिवाजों के वन्धन में वह नहीं पड़ सकता। उसके प्रवेश करने योग्य गिर्जा कहाँ मिलेगा ? निःसीम प्रेम की, जिसमें वह मिल गया है, सीमा कहाँ है ? जिन धर्मों ने इस प्रेम के आदर्श को माना है, उनमें उसे शब्दों में व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। यद्यपि हम इस प्रेम का अर्थ समझते हैं और यह जानते हैं कि संसार के सभी प्रेम, वासनायें व इच्छायें इसी अनन्त-प्रेम के नाना रूप हैं; फिर भी देश-देशान्तरों के महात्माओं और ऋषियों ने इसी आदर्श को शब्दों में व्यक्त करने के लिए भाषा की समस्त शब्द-शक्तियों की परीक्षा कर डाली है, यहाँ तक कि अधम से अधम शब्दों का भी रूपान्तर होने से उनका एक नवीन ही अर्थ निकल आया है।

"प्रियतम, तेरे अधरों का एक मधुर-चुम्बन जिसने पा लिया है, उसकी तुझे पाने की पिपासा बढ़ती ही जाती है। सभी दुखों का अन्त हो जाता है और वह भूत, भविष्य और वर्तमान, सभी की सुधि भूल केवल तेरे ध्यान में मग्न हो जाता है।" यह यहूदी राज-ऋषि (सुलेमान) का गीत था और यही गीत भारत के महर्षियों का भी है। जब सब वासनाओं का अन्त हो जाता है, तब प्रेमी को ऐसा ही उन्माद हो जाता है। मोक्ष की, मुक्ति की,

सम्पूर्णता प्राप्त करने की भी किसे चाह रहती है ? प्रेमी कहता है, स्वतन्त्रता की मुझे क्या चिन्ता ?

मुझे धन, सौन्दर्य, प्रतिभा और आरोग्यता भी नहीं चाहिए। संसार की घोर-से-घोर बुराइयों के बीच में तू मुझे जन्म दे, मैं कुछ न कहूँगा ; पर मुझे तू प्यार करने दे और वह भी केवल प्यार के लिए। इन गीतों में (सुलेमान के गीतों में) प्रेमी का यही उन्माद भरा हुआ है। सबसे ऊँचा, भावुकता से भरा हुआ, बहुत दृढ़ और अत्यन्त आकर्षण-युक्त स्त्री-पुरुष का प्रेम होता है, इसीलिए उस प्रेम की भाषा का प्रयोग इन गीतों में भी किया गया है। स्त्री-पुरुष के प्रेम का उन्माद ही आत्मिक प्रेमी के उन्माद की कुछ क्षीण प्रतिध्वनि है। आत्मिक प्रेमी वे होते हैं, जो परमात्मा के प्रेम में रँग कर पागल हो जाते हैं। वह मीठी मदिरा, जिसे प्रत्येक धर्म के महात्माओं व ऋषियों ने बनाया है, जिसमें ईश्वर के अनन्य भक्तों ने अपना हृदय-रक्त घोल दिया है, जिसमें उन सब निःस्वार्थ प्रेमियों की आशायें बुल्लों के समान उठ रही हैं, जिन्होंने फलाशा त्याग सत्य-प्रेम पाने की ही आशा से प्रेम किया था, उसी मीठी मदिरा का प्याला ईश्वर के प्रेमी पीना चाहते हैं। उन्हें प्रेम छोड़ अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं। प्रेम का फल प्रेम है ; पर वह कैसा सुन्दर फल है ! प्रेम ही एक वस्तु है, जो हमारे सारे दुःखों को दूर कर सकती है तथा प्रेम ही की वह मदिरा है, जिसे पाने से इस संसार के क्लेश नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य में अलौकिक पागलपन आ जाता है। वह भूल जाता है कि मैं मर्त्य मनुष्य हूँ।

अन्त में हम देखते हैं कि संसार के सभी धर्मों का लक्ष्य केवल एक है—आत्मा और परमात्मा का पूर्ण मिलन। आरम्भ में सदा हमें द्वन्द का भेद-ज्ञान रहता है, परमात्मा और जीव हमें अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। जब मनुष्य के हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है, तब वह परमेश्वर की ओर बढ़ने लगता है और परमेश्वर भी मानों उससे मिलने के लिये आगे बढ़ता आता है। मनुष्य-जीवन के सभी नाते निबाहता है, जैसे—पिता, माता, मित्र और प्रेमी, क्रम से वह इन सबके कार्य करता है। अन्त में वह उपास्य वस्तु में मिलकर एक हो जाता है। मैं-तुम का भेद मिट जाता है। अपनी पूजा करने से मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ और तुम्हारी पूजा करने से अपनी। मनुष्य ने जिस कार्य का आरम्भ किया था, उसका यहाँ अन्त होगया। जहाँ पर श्री हुई थी, वहीं पर इति भी हुई। प्रारम्भ में प्रेम अपने लिए ही था इसलिए स्वार्थी था। अन्त में सत्य-ज्योति के दर्शन होने हर स्वात्मा परमात्मा में मिल गई। वही ईश्वर जो पहले कहीं पर बैठा हुआ एक व्यक्ति प्रतीत होता था, अब सहसा मानों अनन्त प्रेम में परिवर्तित हो गया। मनुष्य की भी काया-पलट होगई। वह परमात्मा के समीप पहुँच रहा था और अपनी सांसारिक इच्छाओं और वासनाओं को छोड़ रहा था। इच्छाओं के साथ स्वार्थ भी नष्ट होगया और चरम सीमा पर पहुँचकर उपासना, उपासक और उपास्य तीनों एक होगये।

वेदान्त.

[लाहौर में १२ नवम्बर सन् १८९७ ई० को दिया हुआ व्याख्यान]

हमारे रहने के दो संसार हैं—एक आन्तरिक दूसरा वाह्य। प्राचीनकाल से उन्नति प्रायः दोनों ही संसारों में समानरूप से हुई है। सत्य की खोज पहले वाह्य संसार में आरम्भ हुई। गूढ़-से-गूढ़ प्रश्नों का उत्तर मनुष्य ने बाहरी प्रकृति से ही पाना चाहा। उसने अपनी अनन्त सौन्दर्य और चिदानन्द की तृष्णा को वहिर्प्रकृति से ही बुझाना चाहा तथा अपनी आत्मा और अपनी भावनाओं को भौतिक संसार की भाषा में ही व्यक्त करना चाहा और उसे अपनी खोज के सुन्दर फल भी मिले। ईश्वर और उसके अगाध सौन्दर्य की अनुपम कविता उत्पन्न हुई। वाह्य प्रकृति ने अत्यन्त कवित्व-मय विचारों को जन्म दिया; पर वाद को मनुष्य ने एक इससे भी अधिक सुन्दर, कवित्व-मय तथा कहीं अधिक विस्तृत संसार को खोज निकाला। वेदों के कर्म-काण्ड भाग में धर्म के अद्भुत विचारों का वर्णन किया गया है, एक सर्व-शासक सृष्टा, पालक और नाश करनेवाले परमात्मा की महिमा का वखान किया गया है तथा इस ब्रह्माण्ड का आत्मा को हिला देने वाली भाषा में चित्र खींचा गया है। आप लोगों में से

बहुतों को ऋग्वेद-संहिता के उस अनुपम श्लोक का स्मरण होगा, जिसमें प्रलय का वर्णन किया गया है तथा जो शायद प्रलय के सभी वर्णनों से उत्कृष्ट है। यह सब होते हुए भी यह केवल बाह्य सौन्दर्य का चित्रण है, अतः हमें उसमें कुछ स्थूलता व कुछ भौतिकता अवश्य दिखाई देती है। यह अनन्त का सान्त की भाषा में वर्णन है। यह अनन्त भी शरीर का है, न कि आत्मा का, स्थूल प्रकृति का न कि सूक्ष्म अन्तर्ज्योति का। अतः दूसरे भाग ज्ञान-काण्ड में एक दूसरे ही मार्ग का अनुसरण किया गया है। पहले सत्य की खोज बाह्य-प्रकृति में की गई थी। जीवन की गहन-से-गहन समस्याओं का उत्तर भौतिक प्रकृति से पाने की चेष्टा की गई थी।"

"यस्यायिते हिमवान्तो महस्वम्।"

"जिसके गौरव का हिमालय बखान कर रहे हैं।" यह बहुत ही सुन्दर विचार है फिर भी भारतवर्ष के लिये काफ़ी सुन्दर न था। भारतीय मस्तिष्क ने अपने ही भीतर दृष्टि डाली। खोज बाह्य से आन्तरिक में, भौतिक से आत्मिक में आरम्भ हुई। "अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इत्यादि की पुकार आरंभ हुई। जब मनुष्य मर जाता है, तो उसका क्या होता है?"

"कोई कहते हैं कि वह रहता है, कोई कहते हैं कि नहीं रहता। हे मृत्यु, बोल, सत्य क्या है?" यहाँ पर हम देखते हैं कि मार्ग बिल्कुल ही भिन्न हो गया है। बाह्य-प्रकृति से जो मिल सकता, भारतीय मस्तिष्क ने उसे ले लिया; पर उससे उसे सन्तोष

न हुआ। उसने अपने भीतर, अपनी आत्मा में ही और भी खोज करनी चाही और उसे उत्तर मिला।

उपनिषद्, वेदान्त, अरण्यक और रहस्य, वेदों के इसी भाग का नाम है। यहाँ पर धर्म ने भौतिकता से बिल्कुल ही नाता तोड़ दिया है। यहाँ पर आत्मज्ञान का संसार की भाषा में नहीं, वरन् आत्मा का आत्मा की ही भाषा में, अनन्त का अनन्त की ही भाषा में वर्णन किया गया है। अब इस कविता में तनिक भी स्थूलता नहीं, भौतिकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उपनिषदों के प्रतिभाशाली महर्षियों ने कल्पनातीत निर्भयता के साथ, बिना किसी हिचक के मनुष्य-जाति में सुन्दर से सुन्दर सत्यों की दृढ़ घोषणा की है। हे मेरे देश-वासियो, उन्हीं सत्यों को मैं तुम्हारे सम्मुख रखना चाहता हूँ; पर वेदों का ज्ञान-काण्ड एक विशाल सागर है। उसके थोड़े से भी भाग को समझने के लिये कई जीवनों की आवश्यकता है। रामानुज ने उपनिषदों के बारे में सत्य ही कहा है कि वेदान्त वेदों का स्कन्ध और उन्नत शीश भाग है। उपनिषद् ही हमारे देश की बाइबिल हैं। हिन्दुओं के हृदय में वेदान्त के कर्म-काण्ड भाग के लिये असीम सम्मान है; पर पीढ़ियों से सभी व्यावहारिक कार्यों के लिये श्रुति अर्थात् उपनिषदों और केवल उपनिषदों से ही काम लिया गया है। हमारे सभी बड़े दार्शनिकों ने, चाहे वह व्यास हों, चाहे पातञ्जलि, चाहे गौतम, चाहे सभी दर्शनों के पितामह कपिल ही क्यों न हों, जिन्हें कभी किसी बात के लिये प्रमाण

देने की आवश्यकता पड़ी है, तो उन्होंने उपनिषदों का ही आश्रय लिया है। उपनिषदों में ही उन्हें सब प्रमाण मिले हैं; क्योंकि उपनिषदों में ही हमारे भारतीय ऋषियों ने अमिट और अनमोल सत्यों का प्रतिपादन किया है।

उनमें कुछ सत्य ऐसे हैं, जो देश-काल के अनुसार किन्हीं विशेष दशाओं में ही सत्य हैं तथा अन्य सत्य ऐसे हैं, जो अपनी सत्यता के लिए मनुष्य-प्रकृति पर ही निर्भर हैं और तब तक अमर सत्य रहेंगे, जब तक कि मनुष्य है। ये वे सत्य हैं, जो सर्व-देशीय और सर्व-कालीन हैं। भारतवर्ष में खान-पान, रहन-सहन, पूजा-उपासना आदि के अनन्त सामाजिक परिवर्तनों के होने पर भी हमारी श्रुतियों के अलौकिक सत्य, वेदान्त के ये अद्भुत विचार आज भी सदा की भाँति अपने महान् कवित्व के साथ अजेय और अजर-अमर स्थिर हैं। फिर भी उपनिषदों में जिन विचारों का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है, मूल-रूप में उनका वर्णन कर्म-काण्ड में पहिले ही किया गया है। ब्रह्माण्ड का विचार, जिसमें सभी वेदान्तियों को विश्वास है तथा वे विचार जो सभी दर्शनों की समान रूप से नींव हैं, पहिले से ही वहाँ विद्यमान हैं। इसलिये वेदों के गूढ़ भागों में जाने के पहले ही मैं इस कर्म-काण्ड भाग के विषय में दो शब्द कह देना चाहता हूँ। पहिले मैं वेदान्त शब्द का अर्थ ही साफ़-साफ़ बताता हूँ। अभाग्य-वश आज-कल बहुत से लोग समझते हैं कि वेदान्त का अर्थ केवल अद्वैत-वाद से है, पर आप लोगों को ध्यान रखना चाहिए

कि अध्ययन के लिये हमारे यहाँ तीन प्रस्थान हैं। सबसे पहिले उपनिषद् हैं, जो कि ईश्वर की साक्षात् प्रेरणा से लिखे हुए समझे जाते हैं, फिर हमारे दर्शनों में व्यास के सूत्र हैं, जो कि सभी प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों की समष्टि होने के कारण बहुत प्रख्यात हैं। वे एक दूसरे के विरुद्ध नहीं, वरन् एक ही विकास पाते हुए सिद्धान्त के नाना रूप हैं। इसी विकास का अन्त व्यास के सूत्रों में हुआ है। उपनिषदों के और सूत्रों के, जिनमें वेदान्त के सुन्दर सत्यों का स्पष्ट और क्रमानुसार संग्रह है, बीच में वेदान्त की अलौकिक व्याख्या श्री गीता का स्थान है। चाहे द्वैतवादी हो, चाहे अद्वैतवादी हो, चाहे वैष्णव हो, चाहे शैव हो, भारतवर्ष के सभी सम्प्रदायों ने अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिये इन्हीं तीन उपनिषद्, गीता और व्यास-सूत्रों में से ही प्रमाण दिए हैं। शङ्कराचार्य, रामानुज, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य—जिस किसी ने भी अपना नया धर्म चलाना चाहा है, उसी ने इन्हीं तीन विचार-व्यवस्थाओं पर अपनी एक नई व्याख्या लिख डाली है। अतएव उपनिषदों से उत्पन्न किसी विशेष विचार-व्यवस्था को ही वेदान्त का नाम देना अनुचित होगा। वेदान्त में यह सभी व्यवस्थाएँ आ जाती हैं। एक रामानुज-सम्प्रदायी अपने-आपको उतना ही वेदान्ती कह सकता है, जितना कि एक अद्वैत-वादी। यही नहीं मैं तो इससे भी एक क़दम आगे बढ़कर यह कहूँगा कि 'हिन्दू' से हमारा अर्थ वेदान्ती से ही होता है। वेदान्ती कहने से भी हिन्दू का बोध होता है। आप लोगों को

एक बात और ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि यह तीनों दर्शन-व्यवस्थाएँ भारतवर्ष में अनन्त काल से प्रचलित हैं—आप लोगों को यह न समझना चाहिए कि शङ्कराचार्य ही अद्वैत-वाद के विधाता थे, अद्वैत-वाद शङ्कराचार्य के उत्पन्न होने के पूर्व सहस्रों वर्षों से ही यहाँ था, वह उसके केवल अन्तिम प्रतिपादक थे—फिर भी मेरे स्वल्प-ज्ञानानुसार वे एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार रामानुज-सम्प्रदाय, जैसा कि उस पर लिखी गई व्याख्याओं से विदित है, रामानुज के जन्म के सहस्रों वर्ष पहले से ही यहाँ विद्यमान था। इसी प्रकार अन्य मत-मतान्तरों के साथ सभी प्रकार के द्वैत-वाद भी यहाँ थे, फिर भी यह सब एक दूसरे के विरोधी न थे। जिस प्रकार हमारे छः दर्शन एक ही सुन्दर सिद्धान्त के सुन्दर विकास हैं। जो संगीत पहले धीमे मधुर-स्वरों में आरम्भ हुआ था, अद्वैत-वाद उसीका घनघोर विजय-घोष है, उसी प्रकार इन तीनों व्यवस्थाओं में हम मनुष्य को उच्च-से-उच्च आदर्शों को ओर बढ़ते पाते हैं, यहाँ तक कि सभी वाद अद्वैत-वाद की अनुपम एकता में एक हो जाते हैं। इसलिए यह एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं ; पर साथ में मैं यह भी बता देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि इस प्रकार की भूल कुछ एक दो ने नहीं की है। अद्वैत-वादी जो पाठ अद्वैत-वाद का वर्णन करता है, उसे तो अपना रखता ही है, जो द्वैत-वाद अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले सिद्धांतों का वर्णन करता है, उसे भी तोड़-मरोड़कर वह अपना स्वेच्छित

अर्थ निकालता है। इसी प्रकार द्वैतवादी भी अद्वैत-वाद के पाठ को तोड़-मरोड़कर उसका स्वेच्छित अर्थ निकालते हैं। हमारे गुरु-जन महान् पुरुष थे, फिर भी उनमें दोष थे और गुरु जनों के दोष भी कहे जाने चाहिएँ। मैं समझता हूँ कि उन्होंने केवल यहाँ पर ही भूल की थी। हमें पाठों को तोड़-मोड़कर अनोखे स्वेच्छित अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं है, न किसी प्रकार की धार्मिक बेईमानी और व्याकरण की बारीकियों पर जूझने की ही ज़रूरत है। वेदों के सुन्दर विचार समझ लेने पर हमारे लिए कोई कठिनाई न रहेगी। यह सत्य है कि उपनिषदों का एक ही मुख्य विषय है—"वह कौन सा सत्य है, जिसे जान कर हमें और कुछ जानने की ज़रूरत न रहेगी?" आजकल की भाषा में उपनिषदों का ध्येय, जैसा कि सभी ज्ञान का ध्येय होता है, बहुरूपता में एकता को पाना है और इसीका नाम ज्ञान है। सभी ज्ञान-विज्ञान इसी बहुरूपता में एकता खोजते हैं। आज-कल का क्षुद्र पदार्थ-विज्ञान जिसे हम 'साइंस' कहकर पुकारते हैं, यदि कुछ पदार्थों और प्रकृति-भागों में एकता ढूँढ़ना चाहता है, तो कल्पना कीजिए इस अनन्त नाम और अनन्त रूप वाले विशाल ब्रह्माण्ड में, जहाँ प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदार्थ से शक्ति और आकार में भिन्न है, जहाँ असंख्य आकार-प्रकार, असंख्य विचार, असंख्य लोक हैं, एकता को ढूँढ़ निकालना कितना महान् कार्य है और इसी एकता को पाना ही उपनिषदों का ध्येय है। साथ ही यहाँ पर भी अरुन्धती-न्याय से काम लिया गया है। किसी को

ध्रुव-तारा दिखाना होता है, तो पास का खूब चमकता हुआ तारा उसे दिखाया जाता है और फिर क्रमशः ध्रुव-तारा। यही क्रम हमारा भी होगा और मुझे अपने विचार को सत्य सिद्ध करने के लिए आप लोगों के सामने केवल उपनिषदों को रखना होगा। प्रायः प्रत्येक अध्याय का आरम्भ द्वैत-वादी उपासना से होता है। इसके बाद ईश्वर सृष्टि का सृजन करनेवाला, उसका पोषक तथा जिसमें वह अन्त में लय हो जाता है, ऐसा बताया जाता है। बाह्य और अन्तर्प्रकृति का स्वामी विश्व का वह उपास्य देवता बताया जाता है, फिर भी मानों उसका अस्तित्व प्रकृति से कहीं बाहर हो। इससे एक पग आगे बढ़ने पर हम उसी गुरु को यह बताते पाते हैं कि ईश्वर प्रकृति से परे नहीं, वरन् उसी में अन्तर्व्याप्त है। अन्त में यह दोनों ही विचार छोड़ दिये जाते हैं और जो कुछ भी सत्य है, वही ईश्वर बताया जाता है। कोई अन्तर नहीं रहता। "तत्त्वमसि श्वेतकेतो!" अन्त में यह बताया जाता है कि मनुष्य की आत्मा और वह सर्व-व्यापी एक ही है।" "श्वेतकेतु, वह तू ही है।" यहाँ पर कोई समझौता नहीं किया गया है। दूसरे के मिथ्या विचारों से कोई सहानुभूति नहीं दिखाई गई। सत्य, दृढ़ सत्य की निर्द्वन्द भाषा में घोषणा की गई है और उस दृढ़ सत्य की आज भी उसी निर्द्वन्द भाषा में घोषणा करने में हमें भयभीत न होना चाहिये। ईश्वर की कृपा से मैं समझता हूँ कि उस सत्य के निर्भयता-पूर्वक प्रचार करने का साहस मुझ में है।

अच्छा, अब जहाँ से आरम्भ किया था, समझने को पहिले दो बातें हैं—एक तो सभी वेदान्त-वादियों की समान विचार-प्रणाली, दूसरी संसार और सृष्टि आदि के विषय में उनके पृथक्-पृथक् विचार। आधुनिक विज्ञान के नव-नव आविष्कार और नई-नई खोजें आकाश से गिरनेवाली बिजलियों के समान आपको चकित कर देती हैं। जिन बातों को आपने स्वप्न में भी न सोचा था, वे ही आँखों के सामने आती हैं, पर जिसे 'फ़ोर्स' वा शक्ति कहा जाता है, मनुष्य ने उसे बहुत दिनों पहिले ही ढूँढ़ निकाला था। यह तो अभी कल ही जाना गया है कि विभिन्न शक्तियों में भी एकता है। मनुष्य ने हाल ही में पता लगाया है कि जिन्हें वह 'हीट' (गर्मी), मैग्नेटिज़्म (आकर्षण) एलेक्ट्रिसिटी (विद्युत्) आदि नामों से पुकारता है, वे सब एकही 'यूनिट फोर्स' (एक शक्ति) के नाना रूप हैं, आप उसे चाहे जो नाम दें। यह विचार संहिता में ही है। संहिता की ही भाँति प्राचीन यह शक्ति वा 'फोर्स' का विचार है। सभी शक्तियाँ, उन्हें आकर्षण, प्रत्याकर्षण, विद्युत्, गर्मी आदि चाहे जिन नामों से पुकारो, वे सब कुछ नहीं हैं, एक पग भी आगे नहीं। या तो वे अन्तःकरण से उत्पन्न विचारों के रूप में प्रकट होती हैं अथवा मनुष्य की अन्तरिन्द्रियों के रूप में जिनकी प्रजनन-शक्ति एक 'प्राण' है। फिर प्राण क्या है? प्राण स्पन्दन है। प्रलय के अनन्तर जब यह समस्त ब्रह्माण्ड अपने आदि रूप में हो जायगा, तब इस अनन्तशक्ति का क्या होगा? क्या उसका अन्त हो

जायगा ? ऐसा, तो हो नहीं सकता। यदि उसका अन्त हो जावे, तो दूसरी शक्ति-धारा का कारण क्या होगा ; क्योंकि शक्ति तरंगों के समान ऊपर-नीचे उठती-गिरती बहती है ? ब्रह्माण्ड के इस क्रम का 'सृष्टि' शब्द से बोध होता है। ध्यान रखिये सृष्टि का अर्थ बनाने से नहीं है। (अँग्रेज़ी में भाषण देने से इस समय बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है, फिर भी मुझे किसी प्रकार संस्कृत शब्दों का रूपान्तर करना ही होगा।) सृष्टि का अर्थ है—उत्थान पतन। प्रत्येक पदार्थ विकसित होते हुए अपनी चरम दशा पर पहुँचकर फिर अपने आदि रूप को प्राप्त होता है, जहाँ पर कुछ देर के लिये स्थिर हो वह पुनः उत्थान के लिये तैयार होता है। इसी क्रम का नाम सृष्टि है। फिर इन शक्तियों का, प्राणों का क्या होता है ? वे आदि प्राण में लय हो जाते हैं और यह प्राण प्रायः स्थिर हो जाता है—बिल्कुल ही स्थिर तो नहीं पर प्रायः स्थिर हो जाता है और सूक्त में इसीका वर्णन किया गया है। बिना स्पन्दन के उसमें स्पन्दन हुआ, अनादिवत् ! उपनिषदों में बहुत से पाठ हैं, जिनका अर्थ लगाना बहुत कठिन है, खासकर उनके विशेष शब्दों के प्रयोग में। उदाहरण के लिए वायु शब्द को लीजिए। कभी इसका अर्थ होता है, हवा और कभी होता है गति। बहुधा लोग एक के स्थान में दूसरे का अर्थ लगा लेते हैं। इस बात का हमें ध्यान रखना होगा। "वह उस रूप में स्थित था और जिसे तुम भौतिक प्रकृति कहते हो, उसका क्या होता है ? सभी प्रकृति शक्तियों से व्याप्त है, जो कि हवा में लय हो जाती

है। उसीमें से वे पुनः निकलती हैं और सबसे पहिले 'आकाश' निकलता है। आप उसे 'ईथर' आदि चाहे जो नाम दें, सिद्धान्त यह है कि प्रकृति का आदि रूप यही 'आकाश' है। जब प्राण की क्रिया आकाश पर होती है, तब उसमें स्पन्दन होता है और जब दूसरी सृष्टि होने को होती है, तब यही स्पन्दन तीव्रतर हो जाता है और फिर आकाश शत-शत तरंगों में विभक्त हो जाता है, जिन्हें हम सूर्य, चन्द्र आदि नामों से पुकारते हैं।

"यदिदम् किञ्च जगत् सर्वम् प्राण एजाति निःसृतम्।"

"प्राणों के निस्पन्दन से ही सृष्टि का जन्म हुआ है।" 'एजाति' शब्द पर आपको ध्यान देना चाहिए; क्योंकि वह 'एज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—स्पन्दन करना। निःसृतम्—निकली है, यदिदम् किञ्च—जो कुछ भी यह ब्रह्माण्ड है।

यह सृष्टि-क्रम का एक भाग है। इसमें और भी बहुत सी बारीकियाँ हैं। जैसे इस क्रिया का संपूर्ण वर्णन—किस प्रकार पहिले आकाश उत्पन्न होता है, फिर उसमें से अन्य पदार्थ किस प्रकार आकाश में स्पन्दन होता है और उसमें से वायु उत्पन्न होती है; पर मुख्य विचार यहाँ पर यह है कि स्थूल की सूक्ष्म से उत्पत्ति होती है। स्थूल प्रकृति बाह्य है और इसकी सबसे बाद उत्पत्ति हुई है, इसके पहिले सूक्ष्म प्रकृति थी। एक के ही दो रूप हो जाते हैं, जिनमें कोई समान ऐक्य दिखाई नहीं देता; पर उनमें प्राण की एकता है और आकाश की भी। क्या और भी किसी की एकता है? क्या वे एक में मिल सकते हैं? हमारी

साइंस यहाँ पर चुप रहती है। उसे अभी अपना मार्ग नहीं मिला और मिलेगा, तो वही उपनिषदोंवाला जिस प्रकार कि उसे हमारे प्राचीन 'प्राण' और 'आकाश' मिल चुके हैं। दूसरी एकता उस निर्गुण सर्व-व्यापी की है, जिसका नाम 'महत्' है तथा जिसे पुराणों में चतुर्मुख ब्रह्मा कहा गया है। यहाँ पर उन दोनों का मिलन होता है। जो तुम्हारा 'मस्तिष्क' है, वह इसी महत् का एक क्षुद्रतम भाग है और सभी मस्तिष्कों के जोड़ को समष्टि कहते हैं; पर अभी खोज पूरी नहीं हुई। यहाँ पर, हम लोग छोटे परमाणुओं के समान हैं, जिनकी समष्टि ही यह ब्रह्माण्ड है; पर जो कुछ व्यष्टि में हो रहा है, हम विना किसी भय के अनुमान कर सकते हैं कि वाहर भी वैसा ही होता होगा। यदि अपने मस्तिष्क की क्रियाओं के निराकरण करने की शक्ति हम में होती, तो शायद हम जान पाते कि उनमें भी वैसा ही हो रहा है; पर प्रश्न यह है कि यह मस्तिष्क है क्या? वर्तमान समय में पाश्चात्य देशों में जब पदार्थ-विज्ञान आशातीत उन्नति करता हुआ पुराने धर्मों के क़िले पर क़िले जीतता चला जाता है, वहाँ के लोगों को स्थिर रहने का स्थान नहीं मिलता; क्योंकि पदार्थ-विज्ञान ने प्रति पग पर मस्तिष्क और दिमाग़ को एक बतलाया है, जिससे उन्हें बड़ी निराशा हुई है, पर हम भारतवासी तो यह रहस्य सदा से जानते थे। हिन्दू बालक को सबसे पहिले यही सीखना होता था कि मस्तिष्क भौतिक प्रकृति का ही एक अधिक सूक्ष्म रूप है। वाह्य शरीर तो स्थूल है, उसके भीतर सूक्ष्म शरीर है। यह भी

भौतिक है; पर अधिक सूक्ष्म है, पर 'आत्मा' फिर भी नहीं है। (इस शब्द का मैं आप लोगों के लिए अंग्रेज़ी में रूपान्तर न करूँगा; क्योंकि इसका विचार यूरोप में है ही नहीं। इसका रूपान्तर हो ही नहीं सकता। जर्मन दार्शनिकों ने उसका रूपान्तर 'सेल्फ़' शब्द से किया है; पर जब तक वह सर्व-मान्य न हो जावे, उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः उसे 'सेल्फ़' आदि चाहे जिन नामों से पुकारिये, है वह यही हमारी 'आत्मा') स्थूल शरीर के पीछे यह आत्मा ही वास्तविक मनुष्य है। आत्मा ही स्थूल मस्तिष्क से, अन्तःकरण से, (जो कि उसका विशेष नाम है) काम कराती है। और मस्तिष्क अन्तरिन्द्रियों के द्वारा हमारी वहिरिन्द्रियों से काम करता है। यह मस्तिष्क क्या है? पाश्चात्य दार्शनिकों ने तो अभी कल हो जान पाया है कि आँखें ही देखने की वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं, वरन् इनके पीछे वे अन्तरिन्द्रियाँ हैं, जिनके नष्ट होने पर हमारे यदि इन्द्र के समान सहस्र आँखें भी हों फिर भी हम देख न सकेंगे। यही तो, तुम्हारा सारा दार्शनिक विचार ही यह सिद्धान्त मानकर आरम्भ होता है कि आँखों की दृष्टि सच्ची दृष्टि नहीं है। सच्ची दृष्टि तो मस्तिष्क की अन्तरिन्द्रियों की है। उन्हें आप जो चाहें कहें; पर बात असली यह है कि हमारे नाक, कान, आँखें आदि हमारी वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं। सभी इन्द्रियों और मानस, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार का मिलाकर नाम मस्तिष्क है। अतः यदि वर्तमान वैज्ञानिक तुमसे आकर कहता है कि मनुष्य का दिमाग़

ही मस्तिष्क है और इतनी इन्द्रियों से बना है, तो तुम उससे कह दो कि हमारे यहाँ के विद्वान् यह हमेशा से ही जानते थे, हमारे धर्म का तो यह क, ख, ग, घ ही है।

अच्छा, तो अब समझना यह है कि मानस, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि का क्या अर्थ है। पहिले चित्त—यही मस्तिष्क है। महत् का यही एक भाग है। मस्तिष्क और उसकी सभी दशाओं का बोध चित्त से होता है। मान लीजिये एक झील है, जो कि संध्या समय बिल्कुल ही शान्त है, उसमें एक छोटी सी भी लहर नहीं उठती। समझिये यही चित्त है। अब यदि उसमें कोई छोटा सा पत्थर फेंकता है, तो क्या होता है? पहिले पानी में पत्थर लगने की क्रिया होती है, फिर पानी में ही पत्थर के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है, जो कि एक लहर का रूप ले लेती है। पहिले तो पानी में थोड़ा सा स्पन्दन होता है, फिर शीघ्र ही प्रतिक्रिया होती है, जो कि लहर बन जाती है। हमारा चित्त इसी झील के समान है और बाह्य पदार्थ उसमें फेंके हुए पत्थरों के समान हैं। जैसे ही उसका इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों से संयोग होता है, बाह्य पदार्थों को अन्दर ले जाने के लिये वहाँ इन्द्रियाँ ज़रूर होनी चाहिएँ। तब वहाँ स्पन्दन होता है, जिसका नाम मानस, अनिश्चित् है। इसके पश्चात् प्रतिक्रिया वा निश्चित करनेवाली शक्ति बुद्धि होती है और बुद्धि के साथ ही अहम् और बहिर्पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है। मान लीजिये मेरे हाथ पर एक मसा बैठा है। इन्द्रियों द्वारा चित्त में उसके कारण

थोड़ी सनसनी पहुँचती है और उसमें थोड़ा स्पन्दन होता है। यह अनिश्चित् मानस है। इसके अनन्तर ही प्रतिक्रिया होती है और इसका ज्ञान होता है कि मेरे हाथ पर एक मसा बैठा है, जिसे मुझे उड़ाना होगा। इसी प्रकार चित्त-रूपी झील में पत्थर फेंके जाते हैं, अन्तर केवल इतना है कि झील में पत्थर बाहर से ही फेंके जाते हैं, चित्त में भीतर से भी फेंके जा सकते हैं। इसी का नाम अन्त:करण है। साथ ही इसके आपको एक बात और समझ लेनी चाहिए, जो आपको अद्वैतवाद समझने में सहायता देगी। आपमें से बहुतों ने मोती देखे होंगे और बहुतों को मालूम भी होगा कि मोती किस प्रकार बनते हैं। सीप के मुँह में कोई बालू का कण चला जाता है, जिससे उसके उदर में पीड़ा उत्पन्न होती है। सीप के शरीर में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप वह बालू पर अपना रस गिरा देती है। वही इकट्ठा और कठोर होकर मोती बन जाता है। यह ब्रह्माण्ड भी उसी मोती के समान है। उसके बनानेवाले हमी हैं। बाह्य संसार से हमारे चित्त में केवल थपेड़ लगती है, जिससे उसमें प्रतिक्रिया होती है और जब बुद्धि कार्य करती है, तब हम उस बाह्य संसार को जान पाते हैं। इस प्रकार संसार का जो हमारे मस्तिष्क में प्रतिबिम्ब स्थिर होता है, उसे ही हम संसार समझते हैं। उसके आकार-प्रकार को हमारे मस्तिष्क ने ही निश्चित् किया है। इसलिये आजकल के वैज्ञानिक दिनों में बाह्य संसार की यथार्थता में कट्टर विश्वास करनेवालों को भी

इसमें शङ्का न होगी कि यदि संसार 'क' है, तो जो हम जानते हैं वह 'क' धन मस्तिष्क है और मस्तिष्क-भाग इतना विशद है कि उसने समस्त 'क' को ढँक लिया है। पर 'क' अज्ञात् और अज्ञेय है। अज्ञात और अज्ञेय वाह्य संसार के विषय में जो कुछ हम जानते हैं, वह हमारे मस्तिष्क का ही गढ़ा हुआ है। इसी प्रकार आन्तरिक संसार में हमारी 'आत्मा' के विषय में भी। आत्मा को जानने के लिये उसे मस्तिष्क द्वारा ही जानना होगा और जो कुछ थोड़ा भी हम आत्मा के विषय में जानते हैं, वह आत्मा धन मस्तिष्क है, अर्थात् आत्मा जैसा कि उसे मस्तिष्क ने गढ़ा और कल्पित किया है। इस विषय को हम लोग फिर लेंगे ; पर अभी इतना याद रखना चाहिये।

दूसरी बात समझने की यह है। प्रश्न उठा कि यह शरीर भौतिक प्रकृति की सतत वहती हुई धारा है। प्रतिक्षण हम उसमें कुछ-न-कुछ जोड़ते जाते हैं और प्रतिक्षण ही उसमें से कुछ-न-कुछ निकलता जाता है, जिस प्रकार कि एक वहती हुई विशाल नदी में सैकड़ों मन पानी पल-पल में अपना स्थान बदलता रहता है। इस समस्त भ्रम की कल्पना कर हम उसे 'नदी' का नाम देते हैं। पर नदी है क्या ? प्रतिक्षण तो पानी बदलता रहता है, तट बदलते रहते हैं, किनारे के वृक्ष, फल, फूल, पत्ते सभी बदलते रहते हैं। फिर नदी कहाँ है ? नदी इसी परिवर्तन-क्रम का नाम है ; इसी प्रकार मस्तिष्क भी। यह वौद्धों का क्षणिक विज्ञान-वाद है, जोकि समझने में महा कठिन है ; पर जिसका निराकरण

अत्यन्त तर्क और न्याय के साथ किया गया है। भारतवर्ष में ही वेदान्त के कुछ भागों के विरोध में इसका जन्म हुआ था। इसका भी उत्तर देना था और हम देखेंगे किस प्रकार इसका उत्तर केवल अद्वैत-वाद ही दे सका था। हम देखेंगे किस प्रकार अद्वैत-वाद के विषय में लोगों के विचित्र और भयान्वित विचारों के होते हुए भी अद्वैत-वाद ही संसार का मुक्ति-मार्ग है; क्योंकि न्याय और तर्क के साथ संसार की समस्याओं का उत्तर उसीमें है। द्वैत-वाद आदि उपासना के लिए बहुत अच्छे हैं, मानव-हृदय को सन्तोष देते हैं, और शायद आत्म-ज्ञान की उन्नति में भी थोड़ी-बहुत सहायता देते हैं; पर यदि मनुष्य धर्म को न्याय और तर्क के साथ ही मानना चाहता है, तो उसके लिए संसार में अद्वैत-वाद ही एक धर्म है। अच्छा तो, मस्तिष्क एक नदी के समान है, जो एक सिरे पर निरन्तर भरा करती है और दूसरे सिरे पर ख़ाली होती रहती है। वह एकता कहाँ है, जिसे हम आत्मा कहते हैं? विचार यह था कि शरीर और मस्तिष्क में सतत परिवर्तन होने पर भी संसार के विषय में हमारे विचार परिवर्तन-शील हैं। कई दिशाओं से आती हुई प्रकाश की किरणें, यदि किसी पर्दे या दीवाल या अन्य किसी वस्तु पर, जोकि परिवर्तन-शील न हों, गिरें, तभी वे एकता और सम्पूर्णता प्राप्त कर सकती हैं। इसी प्रकार वह स्थान कौनसा है, जहाँ पर मानव इन्द्रियों के केन्द्रीभूत होने से उसके सभी विचार एकता और सम्पूर्णता को प्राप्त होंगे? यह स्थान मस्तिष्क तो हो नहीं सकता; क्योंकि मस्तिष्क में भी

परिवर्तन होता है। इसलिये कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये, जो कि न तो शरीर हो, न आत्मा, तथा जिसमें कभी परिवर्तन न होता हो और जिस पर हमारे सभी विचार और भाव एकत्रित होकर एकता और सम्पूर्णता प्राप्त कर सकें। यह वस्तु मनुष्य की आत्मा है। यह देखते हुए कि सभी भौतिक प्रकृति, चाहे उसे तुम सूक्ष्म कहो, चाहे मस्तिष्क कहो, परिवर्तनशील है तथा स्थूल प्रकृति और यह वाह्य संसार उसके समक्ष क्षणिक है, वह अपरिवर्तनशील आत्मा किसी भौतिक पदार्थ की बनी हुई नहीं हो सकती। वह आत्मिक अर्थात् भौतिक नहीं है, वरन् अविनाशी और स्थिर है।

इस वाह्य संसार को किसने बनाया? भौतिक प्रकृति को किसने जन्म दिया? आदि प्रश्नों को, जो कि सृष्टि के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं, छोड़कर अब एक दूसरा प्रश्न है। सत्य को यहाँ मनुष्य की अन्तर्प्रकृति से जानना है और यह प्रश्न भी उसी भाँति उठता है, जिस प्रकार कि आत्मा के विषय में प्रश्न उठा था। यह मान लेने पर कि प्रत्येक पुरुष में एक अविनाशी और स्थिर आत्मा है, उन आत्माओं में विचार, भाव व सहानुभूति की एकता होनी चाहिये। मेरी आत्मा किस यंत्र के द्वारा किस प्रकार तुम्हारी आत्मा को प्रभावित कर सकती है? मेरे हृदय में तुम्हारी आत्मा के विषय में कोई भी भाव व विचार कैसे उत्पन्न होता है? वह क्या है, जिसका सम्बन्ध हम दोनों की आत्माओं से है? इसलिये एक ऐसी आत्मा मानने की

वैज्ञानिक आवश्यकता है, जिसका सम्बन्ध सभी आत्माओं व प्रकृति से हो, एक ही आत्मा जो कि असंख्य आत्माओं में व्याप्त हो; उनमें पारस्परिक सहानुभूति व प्रेम उत्पन्न करती हो और एक से दूसरे के लिये कार्य कराती हो। यह सभी आत्माओं में व्याप्त विश्व की उपास्य देवता, परमात्मा है। साथ ही परिणाम यह भी निकलता है कि आत्मा के स्थूल प्रकृति से न बड़े होने के कारण वह स्थूल प्रकृति के नियमों से बाध्य भी न होगी। हमारे प्राकृतिक नियम उस पर लागू न होंगे। इसलिये वह अविनाशी और स्थिर है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

"आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। आत्मा अदाह्य, अभेद्य और अशोष्य तथा स्थिर, अचल, सनातन व सर्वव्यापक है।" तब यह आत्मा क्या करती है? गीता के और वेदान्त के भी अनुसार आत्मा विभु है तथा कपिल के अनुसार सर्व-व्यापी भी। निस्सन्देह भारतवर्ष में ऐसे मत हैं, जिनके अनुसार यह आत्मा 'अणु' है, पर उनका तात्पर्य यह कि प्रकट होने में ही वह 'अणु' है, उसकी वास्तविक प्रकृति तो 'विभु' है।

इसके साथ ही एक दूसरा विचार आता है, जो कि देखने में पहले कुछ अद्भुत प्रतीत होता है; पर है भारतवर्ष के लिए बिलकुल ही स्वाभाविक। हमारे सभी धर्मों और सम्प्रदायों में वह विद्यमान है। इसलिए मैं आप लोगों से उस पर विशेष ध्यान देने और उसे याद रखने के लिए प्रार्थना करता हूँ। विचार यह है। पश्चिम में जिस भौतिक विकास-वाद के सिद्धान्त का जर्मन और अंग्रेज विद्वानों ने प्रचार किया है, उसके विषय में आप लोगों ने सुना होगा। उनका कथन है कि विभिन्न पशुओं के शरीर वास्तव में एक हैं, एक ही नियमित क्रम के वे भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक क्षुद्रतम कीट से लेकर एक महान्-से-महान् मनुष्य तक सभी एक हैं। एक दूसरे के रूप में बदलता जाता है और इस प्रकार ऊँचे चढ़ते-चढ़ते अंत में वह संपूर्णता प्राप्त कर लेता है। हमारे यहाँ भी यह विचार था। योगी पातञ्जलि कहते हैं—"जात्यंतर परिणामः।" एक जाति का दूसरी में परिवर्तन (परिणामः) होता है। हमारे और पाश्चात्यों के विचारों में फिर अन्तर कहाँ रहा ? "प्रकृत्यापूरात्।" प्रकृति के पूरे होने से। पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि जीवन-संग्राम में होड़ा-होड़ी से तथा नर-मादे के सम्बन्ध-विचार आदि से एक शरीर अपना रूप बदलता है; पर यहाँ पर एक और भी सुन्दर विचार है, समस्या का एक और भी सुचारु निराकरण है—"प्रकृत्यापूरात।" इसका अर्थ क्या है ? हम यह मानते हैं कि एक क्षुद्रतम कीट में स्थित-जीव धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ बुद्ध बनता है; पर साथही हमें यह

भी विश्वास है कि किसी मशीन से तुम यथेच्छ काम तब तक नहीं ले सकते, जब तक कि उसे तुम दूसरे सिरे पर न रक्खो। शक्ति का परिमाण एक ही रहेगा, रूप उसका चाहे जो हो। यदि शक्ति का कोई परिमाण तुम एक सिरे पर रखना चाहते हो, तो दूसरे सिरे पर भी तुम्हें शक्ति का वही परिमाण रखना होगा, रूप उसका चाहे जो हो। इसलिये यदि परिवर्तन-क्रम का एक सिरा बुद्ध है, तो दूसरा सिरा वह क्षुद्र-जीव अवश्य होगा। यदि बुद्ध उसी जीव का सम्पूर्ण विकास पाया हुआ रूप है, तो वह जीव भी बुद्ध का अविकसित रूप रहा होगा। यदि यह ब्रह्मांड अनन्त शक्ति का प्रकटीकरण है, तो प्रलय की दशा में इसी शक्ति का वह अविकसित रूप रहा होगा। अन्यथा हो नहीं सकता। इसका परिणाम यह निकलता है कि प्रत्येक आत्मा अनन्त है। उस छोटे-से-छोटे कृमि से लेकर, जोकि तुम्हारे पैरों के नीचे रेंगता है, बड़े-से-बड़े महात्मा तक—सभी में यह अनन्त शक्ति, यह अनन्त पवित्रता और सब कुछ अनन्त है। भिन्नता केवल प्रकटित रूप में है। कृमि उस शक्ति की एक बहुत ही थोड़ी मात्रा को प्रकट करता है, तुम उससे अधिक, एक महात्मा तुम से भी अधिक। अन्तर बस इतना ही है। फिर भी है, तो। पातञ्जलि कहते हैं—"ततः क्षेत्रिकावत्।" "जिस प्रकार किसान खेत सींचता है।" अपने खेत को सींचने के लिये उसे एक जलाशय से पानी लाना है, जिसमें मान लीजिये एक बाँध बँधा है, जिसके कारण पानी खेत में सम्पूर्ण वेग से नहीं आ सकता। जब उसे

पानी की आवश्यकता होगी, तब उसे केवल उस बाँध को हटा देना होगा और पानी खेत में आकर भर जायगा। शक्ति बाहर से नहीं लाई गई, जलाशय में वह पहिले से ही थी। इसी प्रकार हम में से प्रत्येक के पीछे ऐसी ही अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, चिदानन्द, अमर जीवन का विशाल सिन्धु भरा हुआ है, केवल इन शरीररूपी बाँधों के कारण हम अपनी सम्पूर्णता का अनुभव नहीं कर सकते। जैसे ही हमारे शरीरों की स्थूलता छूटती जाती है और वे सूक्ष्म होते जाते हैं, तमोगुण रजोगुण हो जाता है और रजोगुण सतोगुण हो जाता है, वैसे ही यह शक्ति, यह पवित्रता और भी अधिक प्रकट होती है। इसीलिये हमारे यहाँ खान-पान के विषय में इतना विचार किया गया है। यह हो सकता है कि वास्तविक विचारों का लोप हो गया हो जैसे कि बाल-विवाह के विषय में, जो यद्यपि विषय के बाहर है पर मैं उदाहरण के लिये लेता हूँ। यदि फिर कभी समय मिला, तो इन बातों के बारे में भी मैं आपसे कुछ कहूँगा। बाल-विवाह के पीछे जो सद्विचार छिपे हुए हैं, आप सच्ची सभ्यता उन्हीं से प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। समाज में यदि स्त्री-पुरुषों को अपनी पति-पत्नी चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाय, उन्हें अपनी व्यक्तिगत वासनाओं की तृप्ति करने के लिये मैदान साफ़ मिले, तो सन्तान अवश्य ही दुष्टात्मा और निर्दय उत्पन्न होगी। देखो न, प्रत्येक देश में मनुष्य ऐसी ही दुष्ट सन्तान को जन्म दे रहा है और उसीके साथ समाज की रक्षा के लिये

पुलिस-दल की संख्या को भी बढ़ा रहा है। बुराई का नाश पुलिस बढ़ाने से न होगा, वरन् उसकी जड़ ही उखाड़ देनी चाहिए। जब तक तुम समाज में रहते हो, तब तक तुम्हारे विवाह से मैं और समाज का प्रत्येक जन बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता। इसीलिए समाज को अवश्य अधिकार है कि वह तुम्हें आज्ञा दे कि तुम किसके साथ विवाह करो और किसके साथ न करो। ऐसे ही विचार बाल-विवाह के पीछे थे। इसीलिए लड़के-लड़की की जन्म-पत्री आदि मिलाई जाती थी। मनु के अनुसार तो जो बच्चा कामेच्छा के तृप्त करने से उत्पन्न होता है, वह आर्य नहीं होता। सच्चा आर्य तो वह होता है, जिसका गर्भ में आना व मृत्यु वेदों के ही अनुसार होती है। इस प्रकार की आर्य सन्तान प्रत्येक देश में न्यूनातिन्यून संख्या में उत्पन्न की जाती है और इसीलिए हम संसार में इतनी बुराई देखते हैं, जिसे कलियुग कहा जाता है, पर हम लोग यह सब विचार खो चुके हैं। यही नहीं कि इन विचारों का हम भली-भाँति पालन नहीं कर सकते ; उनमें से बहुतों का तो खींच खाँचकर हमने तमाशा बना डाला है। निस्संदेह हमारे माता-पिता आज वह नहीं हैं, जो कि पहिले थे। न समाज ही पहले की भाँति सुशिक्षित और सभ्य है, न हमें एक दूसरे से वैसा प्रेमही है फिर भी हमारा सिद्धान्त सच्चा है। यदि उसके अनुसार किया गया कार्य दोषपूर्ण है, एक बार यदि काम करने में हम से भूल हुई है, तो सिद्धान्त को क्यों छोड़ते हो? एक बार फिर कार्य आरम्भ करो। इसी प्रकार खान-पान के भी विषय

में। सिद्धान्त के अनुसार किया गया कार्य बहुत ही दोषपूर्ण और त्रुटियों से भरा हुआ है फिर भी इससे सिद्धान्त सत्य और अमर है। अपने कार्य को सुधार-सहित एक बार फिर आरंभ करो।

भारतवर्ष में 'आत्मा' के इस महान् विचार को सभी धर्म मानते हैं। अंतर केवल इतना है कि द्वैतवादी कहते हैं कि आत्मा पाप-कर्म करने से सङ्कुचित हो जाती है, उसकी शक्तियों और वास्तविक प्रकृति में सङ्कोच होजाता है, अच्छे कर्म करने से वह फिर अपनी आदि-दशा को प्राप्त होती है। अद्वैत-वादी कहते हैं कि आत्मा कभी घटती-बढ़ती नहीं, ऊपर से ही वैसा प्रतीत होता है। सारा अन्तर बस इतना ही है; पर सभी धर्मों का यह विश्वास है कि आत्मा की शक्तियाँ उसीके पास रहती हैं, आकाश से आकर उसमें कुछ टपक नहीं पड़ता। वेद परमात्मा-जनित नहीं, आत्म-जनित हैं। वे कहीं बाहर से नहीं आये; वरन् प्रत्येक आत्मा में रहनेवाले वे अमर धर्म हैं। एक देवता की आत्मा में और एक चींटी की आत्मा में वेद समान-रूप से हैं। चींटी को केवल विकास पाकर कोई महात्मा व ऋषि ही बनना है कि वेद, वे अमर धर्म, अपने आप प्रकट हो जाँयगे। ज्ञान का यह एक महान् सिद्धान्त है कि हमारी शक्ति सदा हमारी ही थी, हमारा मोक्ष हमारे ही भीतर था। चाहे कहो कि आत्मा संकुचित हो जाती है, चाहे कहो कि उस पर माया का पर्दा पड़ जाता है, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। मुख्य बात एक ही है ...र आपको उसमें विश्वास करना चाहिये, विश्वास करना

चाहिये कि जो कुछ एक बुद्ध के लिये संभव है वही एक छोटे-से-छोटे पुरुष के लिये भी संभव है। यही 'आत्मा' का सिद्धान्त है।

पर अब एक विकट युद्ध का आरम्भ होता है। सामने बौद्ध खड़े हैं, जोकि हमारी ही भाँति शरीर को भौतिक प्रकृति की सतत बहती हुई धारा बताते हैं तथा मस्तिष्क का भी हमारी ही भाँति निराकरण करते हैं। 'आत्मा' के विषय में वे कहते हैं कि इसे मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं। एक सगुण पदार्थ की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है। हम कहते हैं केवल गुणों को ही मानो। जहाँ एक कारण मानने से काम चल सकता है, वहाँ दो को मानना न्याय-विरुद्ध है। इसी प्रकार युद्ध होता रहा और आत्मा के विषय में जितने सिद्धान्त थे, सभी पर बौद्धों ने विजय पाई। जो आत्मा के सिद्धान्त को माननेवाले थे कि हममें तुममें सभी में आत्मा है, जो कि शरीर और मस्तिष्क दोनों से भिन्न है, अब उनमें खलबली पड़ गई। अभी तक हम देख चुके हैं कि द्वैतवाद ठीक उतरता चला आया है, क्योंकि एक शरीर है, उसके बाद सूक्ष्म मस्तिष्क, उसके बाद आत्मा और इन सब आत्माओं में व्याप्त एक परमात्मा है। कठिनाई अब यहाँ पड़ती है कि आत्मा और परमात्मा दोनों ऐसे माने हुए पदार्थ हैं, जिनके शरीर और मस्तिष्क गुणों के समान हैं। किसी ने इस पदार्थ को देखा तो है नहीं, न उसकी कल्पना ही की जा सकी है, फिर उसके बारे में सोच-विचार करने का क्या फल होगा ? 'क्षणिक' होकर यह क्यों न कहा जाय कि जो कुछ है,

यह हमारे मस्तिष्क में इस परिवर्तन-क्रम का प्रतिबिम्ब भर है। परिवर्तन की एक दशा का दूसरी से कोई सम्बन्ध नहीं। सागर की लहरों के समान वे एक दूसरी का अनुसरण करती हैं; पर कभी एकता व सम्पूर्णता नहीं प्राप्त करतीं। मनुष्य इसी प्रकार की तरङ्गों का अनुक्रमण है, एक चली जाती है, तो दूसरी उसका अनुसरण करती है और जब इस क्रम का अन्त हो जाता है, उस दशा का ही नाम निर्वाण है। द्वैतवाद का यहाँ कोई तर्क नहीं चलता, न द्वैतवादी ईश्वर ही यहाँ अपनी जगह पर खड़ा रह सकता है। द्वैतवादी ईश्वर सर्व-व्यापी होने के साथ ही बिना हाथों के बनाता है और बिना पैरों के चलता है। जैसे कुंभकार घट बनाता है, उसी भाँति वह ब्रह्मांड को बनाता है। बौद्ध कहता है कि यदि ईश्वर ऐसा ही है, तो वह उसकी उपासना करने के बजाय उससे युद्ध करेगा। संसार दारुण दुःखों से भरा हुआ है और यदि यह कार्य ईश्वर का किया हुआ है, तो वह अवश्य उसके विरुद्ध उठ खड़ा होगा। इसके साथ ही, जैसा कि आप सभी को विदित होगा, ऐसे ईश्वर भी कल्पना तर्क और न्याय के विरुद्ध है, ऐसा ईश्वर असंभव है। क्षणिकों की भाँति हमें इस सृष्टि के दोषों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं; पर द्वैतवादियों के व्यक्तिगत ईश्वर का ढेर हो गया। तुम्हारा तो कहना है कि हमें केवल सत्य चाहिए। "सत्यमेव जयते नानृतम्।"

सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य द्वारा ही तुम देवयानम् को पा सकते हो। सभी पहिले एक झण्डे के नीचे

चले थे, पर केवल कमज़ोर मनुष्यों को हराने के लिए। द्वैतवादी ईश्वर को लिए हुए और अपने को बड़ा ज्ञानी समझते हुए तुम एक ग़रीब मूर्ति-पूजा करने वाले से झगड़ने लगे। तुमने सोचा कि हमींको सत्य-ज्ञान मिला है, इस अज्ञानी का नाश कर देना चाहिए; पर यदि वह लौट पड़ा और तुम्हारे ही ईश्वर, तुम्हारे उस काल्पनिक आदर्श को उसने छिन्न-भिन्न कर डाला, तो फिर तुम कहाँ रहे? या तो तुम कहने लगे कि हमें 'फेथ' है, विश्वास है या सदा के कमज़ोर मनुष्यों की भाँति अपने विरोधियों से पुकारने लगे—"तुम लोग नास्तिक हो!" जब हारने लगे, तब नास्तिकता की गुहार मचाने लगे। यदि तुम तर्क और न्याय पर रहते हो, तो दृढ़तापूर्वक उन्हीं पर स्थिर रहो और यदि विश्वास पर रहते हो, तो अपनी भाँति दूसरे को भी अपने विश्वास पर स्थिर रहने दो। तुम ईश्वर की सत्ता कैसे सिद्ध कर सकते हो? उसकी सत्ता खण्डन करना इससे कहीं अधिक सरल है? उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं, उसका खण्डन करने के लिए अवश्य प्रमाण है। अपना ईश्वर, उसकी सगुणता एक ही पदार्थ की बनी हुई भिन्न-भिन्न असंख्य आत्माएँ—इन सबके सिद्ध करने के लिए तुम्हारे पास क्या प्रमाण हैं? आप दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं? शरीर से तो नहीं; क्योंकि आप आज बौद्धों से भी भली भाँति जानते हैं कि शायद जो प्रकृति-भाग अभी सूर्य में रहा होगा, वही क्षण में आपके शरीर में मिल जायगा और थोड़ी देर में वही जाकर पौधों में मिल जायगा। फिर

महाशयजी, आपका व्यक्तित्व कहाँ रहता है? यही दशा मस्तिष्क की भी है। रात में तुम्हारा एक विचार है, सवेरे दूसरा। जैसा तुम वचपन में सोचते थे, वैसा अब नहीं सोचते और जैसा कोई वृद्ध-पुरुप अब सोचता है, वैसा उसने अपनी युवावस्था में न सोचा था। फिर तुम्हारा व्यक्तित्व कहाँ है? यह न कहो कि तुम्हारा व्यक्तित्व तुम्हारी ज्ञान-शक्ति, तुम्हारे अहङ्कार में है, क्योंकि यह बहुत ही संकुचित है। मैं अभी तुमसे वात-चीत कर रहा हूँ और मेरी इन्द्रियाँ सव अपना काम भी किये जाती हैं; पर मुझे इसका ज्ञान नहीं है। यदि ज्ञान ही जीवन का चिन्ह है, तव तो इन्द्रियाँ हैं ही नहीं, क्योंकि मुझे उनके कार्य का ज्ञान नहीं होता। फिर आपका व्यक्तिगत ईश्वर कहाँ रहता है? उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिये आपके पास कोई प्रमाण नहीं। वौद्ध फिर खड़े होंगे और कहेंगे कि ऐसा ईश्वर तर्क और न्याय के ही विरुद्ध नहीं है, उसकी उपासना करना पाप है। मनुष्य कायर होकर दूसरे के सामने सहायता के लिये गिड़गिड़ाता है। कोई भी उसकी इस प्रकार की सहायता नहीं कर सकता। यह देखो संसार है, मनुष्य ने उसे वनाया है। फिर एक कल्पित ईश्वर की उपासना क्यों करते हो, जिसे न किसी ने देखा-सुना है, न जिससे किसी ने सहायता पाई है। फिर जान-बूझकर कायर क्यों बनते हो? कुत्ते के समान इस कल्पित व्यक्ति के सामने जाकर तुम नाक रगड़ते हो और कहते हो—"हम वड़े ही कमज़ोर हैं, वड़े ही अपवित्र हैं। संसार में पतितों के सिरताज हमीं हैं।" अपनी

ान के सन्मुख रखने को सबसे सुन्दर तुम्हें यही कायरता का
र्श मिला है ? इस प्रकार तुम एक मिथ्या कल्पना में ही
ास नहीं करते ; वरन् अपनी सन्तान में घोर बुराई को
न दे महत् पाप के भागी होते हो। याद रक्खो, यह
ार इच्छा-शक्ति पर निर्भर है। जैसा तुम अपने मन
ोचते हो, उसीमें तुम विश्वास करते हो। बुद्ध के यह
: पहिले ही शब्द थे—"जैसा तुम सोचते हो, वैसे
हो, जैसा तुम सोचोगे, वैसे तुम होगे।" यदि यह सच है
यह मत सीखो कि हम कुछ नहीं हैं और जब तक आकाश
बैठा हुआ ईश्वर हमारी सहायता न करेगा, तब तक हम कुछ
ीं कर सकते। इसका परिणाम यही होगा कि तुम दिन पर
न और भी कमजोर होते जाओगे। तुम ईश्वर से कहोगे—
ईश्वर! हम बहुत अपवित्र हैं, तू हमें पवित्र कर!" फल
ह होगा कि तुम और भी अपवित्र होगे, और भी पापों में
ात होगे। बौद्ध कहते हैं कि जितनी बुराइयाँ तुम किसी
माज में देखते हो, उनमें से ९० फ़ीसदी इसी व्यक्तिगत ईश्वर
ी उपासना के कारण होती है। इस सुन्दर, इस अनुपम जीवन
ी सार्थकता कुत्ता बनकर दूसरे के सामने दुम हिलाने में ही
! कैसी जघन्यता है! बौद्ध वैष्णव से कहता है—यदि तुम्हारे
ीवन का उद्देश्य और ध्येय वैकुण्ठ जाना और वहाँ अनन्त
ाल तक हाथ बाँधे ईश्वर के सामने खड़ा रहना ही है, तो इससे
ो आत्महत्या करके मर जाना ही अधिक श्रेयकर होगा। बौद्ध

यह भी कह सकता है कि इसीसे बचने के लिये उसने निर्वाण बनाया है। मैं आप लोगों के सामने बौद्ध के स्थान में दूसरे पक्ष के विचार रख रहा हूँ, जिससे आपको दोनों पक्षों के विचारों का पूर्ण ज्ञान होजावे। आज-कल कहा जाता है कि अद्वैतवाद कायर विचारों को जन्म देता है। दोनों पक्षों का दृढ़तापूर्वक सामना कर सत्य का निश्चय करना चाहिये। हम देख चुके हैं कि इस सृष्टि को बनानेवाला व्यक्तिगत ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। आज कोई बच्चा भी क्या ऐसे ईश्वर में विश्वास करेगा? एक कुम्हार घड़ा बनाता है, इसलिये परमेश्वर भी यह संसार बनाता है—यदि ऐसा है, तब तो कुम्हार भी परमेश्वर है और यदि कोई कहे कि ईश्वर बिना सिर पैर और हाथों के रचना करता है, तो उसे तुम बेशक पागलखाने ले जा सकते हो। आधुनिक विज्ञान का दूसरा चैलेञ्ज यह है— "अपने व्यक्तिगत ईश्वर से, जिसके सामने तुमने जन्म भर हीं-हीं की है, क्या कभी कोई सहायता पाई है?" वैज्ञानिक यह सिद्ध कर देंगे कि रोने-गिड़गिड़ाने में तुमने व्यर्थ ही अपनी शक्ति खर्च की। जो कुछ सहायता मिली भी, उसे तुम बिना रोये-गिड़गिड़ाये अपने प्रयत्नों से स्वयं ही उपार्जन कर सकते थे। इस व्यक्तिगत ईश्वर के विचार के साथ ही अत्याचार और धर्म-गुरुओं का भी जन्म होता है। जहाँ भी यह विचार रहा है, वहाँ धर्म-गुरु और अत्याचार भी अवश्य रहे हैं। बौद्ध कहते हैं, जब तक तुम अपने मिथ्या सिद्धान्त का ही समूल नाश न कर

देंगे, तब तक इस अत्याचार का अन्त नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य सोचेंगे कि उन्हें अपने से एक अधिक शक्तिशाली व्यक्ति से याचना करनी पड़ेगी, तब तक धर्मगुरु भी रहेंगे, ग़रीब आदमियों और ईश्वर के बीच में वे दलाली करने के लिये सदा तैयार रहेंगे और इसलिये अपने लिये विशेष अधिकार भी माँगेंगे। ब्राह्मण पुजारी के मस्तक में डंडा मारकर उसे चाहे कोई गिरा दे; पर याद रक्खो, वह स्वयं ही उसके स्थान में धर्म-गुरु बन जायगा और पहिलेवाले में तो थोड़ी दया भी थी, यह बिल्कुल ही निर्दय अत्याचारी होगा। यदि किसी भिखारी को थोड़ा सा धन मिल जाता है, तो वह सारे संसार को कुछ नहीं गिनता। इसलिये जब तक व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना रहेगी तब तक यह धर्म-गुरुओं का सम्प्रदाय भी रहेगा और तब तक समाज में सद्विचार नहीं आ सकते। धर्म-गुरु और अत्याचार हमेशा कन्धे से कन्धा मिलाकर चलेंगे, फिर इनका आविष्कार किसने किया? पुराने ज़माने में कुछ सबल पुरुषों ने शेष निर्बल पुरुषों को अपने वश में कर लिया और उनसे कहा—"तुम हमारा कहना न मानोगे, तो हम तुम्हें पीट-पाटकर ठीक कर देंगे।" संक्षेप में इसी प्रकार इनकी उत्पत्ति हुई। "सभयम् वज्रमुद्यतम्।"

एक वज्र धारण करने वाला शक्ति-शाली पुरुष, जो अपनी आज्ञा न मानने वालों का नाश कर देता है, ऐसे ईश्वर का विचार ही इस सब की जड़ है। इसके बाद बौद्ध कहता है कि यहाँ तक

तो तुम न्याय पर हो जब कहते हो कि हमारी वर्तमान दशा हमारे पूर्व-कर्म का फल है। तुम सभी विश्वास करते हो कि आत्मा अनादि और अनन्त है, आत्माएँ असंख्य हैं, हमें पूर्व-कर्म का इस जन्म में फल मिलता है। यह सब तो ठीक है; क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता, भूत-कर्म का फल वर्तमान में मिलता है और वर्तमान-कर्म का भविष्य में। हिन्दू कहता है कि कर्म जड़ है न कि चैतन्य इसलिए इस कर्म का फल देने के लिये किसी चैतन्य की आवश्यकता है; पर क्या पौधे को बढ़ाने के लिए भी चैतन्य की जरूरत होती है? यदि मैं बीज बोकर उसे पानी से सींचूँ, तब तो उसके बढ़ने में किसी चैतन्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। वृक्ष अपने ही आप बढ़ता है। तुम कह सकते हो, उसमें कुछ चैतन्य पहले से ही था; पर आत्मा भी तो चैतन्य है और चैतन्य का क्या करना है? यदि आत्मा चैतन्य है, तो बौद्धों के विरुद्ध आत्मा में विश्वास करने वाले जैनों के कथनानुसार, ईश्वर में विश्वास करने की क्या आवश्यकता है? द्वैत-वादीजी, अब आप का न्याय और तर्क कहाँ है? और जब तुम कहते हो कि अद्वैत-वाद से पाप बढ़ा है, तब द्वैत-वादियों के कारनामों पर भी तो दृष्टि-पात करो, हिन्दुस्तान की कचहरियों की कितनी इन लोगों से आमदनी हुई है। यदि देश में बीस हजार अद्वैत-वादी गुण्डे हैं, तो द्वैतवादी गुण्डे भी बीस हजार से कम नहीं हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो, द्वैतवादी गुण्डे ही ज्यादा होंगे, क्योंकि अद्वैतवाद को समझने के लिए अधिक अच्छा

दिमाग़ चाहिए, जिसे भय और लोभ सहसा दबा न सकेगा। अब किसका सहारा लोगे ? बौद्ध के पञ्जों से कोई छुटकारा नहीं। तुम वेदों का प्रमाण दो, उनमें उसे विश्वास नहीं। वह कहेगा—"हमारे त्रिपिटक कहते हैं, नहीं और उनका भी न आदि है न अन्त। स्वयं बुद्ध ने भी उन्हें नहीं बनाया, क्योंकि वह केवल उनका पाठ करते थे। त्रिपिटक सर्वकालीन हैं। तुम्हारे वेद झूठे हैं, हमारे सच्चे। तुम्हारे वेदों को ब्राह्मणों ने स्वार्थ-साधन के लिए गढ़ा है; इसलिए हटाओ उन्हें दूर !" अब बताओ किधर से भाग कर बचोगे ?

अच्छा तो, यह देखो निकलने का रास्ता। बौद्धों का पहला झगड़ा यही तो कि पदार्थ और गुण भिन्न-भिन्न हैं, अद्वैतवादी कहता है, नहीं हैं। पदार्थ और गुण भिन्न नहीं हैं। तुम्हें पुराना उदाहरण याद होगा कि किस प्रकार भ्रमवश रस्सी साँप समझी जाती है और जब साँप दिख जाता है, तब रस्सी कहीं नहीं रहती। पदार्थ और गुण का भेद विचारक के मस्तिष्क में ही होता है, वास्तव में नहीं। यदि तुम साधारण मनुष्य हो, तो तुम पदार्थ देखते हो और यदि बड़े योगी हो तो केवल गुण, पर दोनों ही एक साथ तुम नहीं देख सकते। इसलिए बौद्ध जी, आपका पदार्थ और गुण का झगड़ा मानसिक भूल-भुलैयाँ भर था, वास्तविक नहीं; पर यदि पदार्थ निर्गुण है, तो वह केवल एक ही हो सकता है। यदि आत्मा पर से गुणों को हटा दो, तो दो आत्माएँ न रहेंगी; क्योंकि आत्माओं की भिन्नता गुणों के ही कारण होती

है। गुणों के ही द्वारा तो तुम एक आत्मा को दूसरी आत्मा से भिन्न करके मानते हो, गुण तो वास्तव में हमारे मस्तिष्क में ही होते हैं, आत्मा में नहीं। जब गुण न रहेंगे, तब दो आत्माएँ भी न होंगी। अतएव आत्मा एक ही है, तुम्हारे परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं। यह आत्मा ही सब कुछ है। यही परमात्मा है, यही जीवात्मा भी। और सांख्य आदि द्वैतवाद जो आत्मा को विभु बताते हैं, सो दो अनन्त कैसे हो सकते हैं? यह आत्मा ही अनन्त और सर्व-व्यापी है, अन्य सब इसी के नाना रूप हैं। यहाँ पर तो बौद्धजी रुक गए; पर अद्वैतवाद यहीं नहीं रुकता। अन्य कमजोर वादों की भाँति अद्वैतवाद दूसरों की आलोचना करके ही चुप नहीं हो जाता। उसके अपने सिद्धान्त भी हैं। अद्वैतवादी जब कोई उसके बहुत निकट आ जाता है, तो उसे थोड़ा पछाड़ भर देता है और फिर अपने स्थान पर आ जाता है। एक अद्वैतवादी ही ऐसा है, जो कि आलोचना करके चुप नहीं रहता, अपनी पुस्तकें ही नहीं दिखाता, वरन् अपने सिद्धान्तों को भी बताता है। अच्छा तो तुम कहते हो यह ब्रह्माण्ड घूमता है। व्यष्टि में प्रत्येक वस्तु घूमती है। तुम घूम रहे हो, यह मेज़ घूम रही है, यह "संसार" घूम रहा है। सतत घूमने से इसका नाम "जगत्" है। इसलिये इस जगत् में कोई एक व्यक्तित्व हो नहीं सकता। व्यक्तित्व उसका होता है, जिसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन-शील व्यक्तित्व कैसा? यह दोनों शब्द तो विरोधी हैं। इस जगत

में, हमारे इस छोटे से संसार में, कोई भी व्यक्तित्व नहीं। विचार और भाव, मस्तिष्क और शरीर, पशु-पक्षी सभी हर समय परिवर्तन की दशा में रहते हैं; पर यदि तुम समस्त ब्रह्माण्ड को लो, तो क्या यह भी घूम सकता है, क्या इसमें भी परिवर्तन हो सकता है? कदापि नहीं। गति का ज्ञान तभी होता है, जब पास की वस्तु की गति या तो कम हो या हो ही नहीं। इसलिये सारा ब्रह्माण्ड स्थिर और अपरिवर्तनशील है। इसलिये तुम एक व्यक्ति तभी होगे जबकि सारे ब्रह्माण्ड में मिल जाओगे जबकि "मैं ही ब्रह्माण्ड हूँगा"। इसीलिये वेदान्ती कहता है कि जब तक द्वंद्व-भाव रहेगा तब तक भय का अन्त न होगा। जब दूसरे का भेद-ज्ञान नष्ट हो जाता है और एक ही एक रह जाता है तभी मृत्यु, का नाश होता है। मृत्यु, संसार कुछ नहीं रहता। इसलिये अद्वैतवादी कहता है—"जब तक तुम अपने आपको संसार से भिन्न समझते हो, तब तक तुम्हारा कोई व्यक्तित्व नहीं। तुम तभी अपना व्यक्तित्व-लाभ करोगे, जब ब्रह्माण्ड में मिलकर एक हो जाओगे।" सम्पूर्ण में मिलकर ही तुम अमरता प्राप्त करोगे। जब तुम ब्रह्माण्ड हो जाओगे, तभी तुम निर्भय और अविनाशी भी होगे। जिसे तुम ईश्वर कहते हो, वह यह ब्रह्माण्ड ही है, वह सम्पूर्ण है, वही तुम भी हो। इस एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को साधारण स्थिति के हमारे से मस्तिष्क वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि नाना रूपों में देखते हैं। जिन्होंने हमसे और अच्छे कर्म किए हैं, मरने पर वे इसे स्वर्ग, इन्द्र आदि के रूप में देखते हैं, जो इनसे भी ऊँचे होते हैं वे इसे

ब्रह्म-लोक करके देखते हैं; पर जो सम्पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं, वे न मृत्युलोक देखते हैं, न स्वर्ग-लोक, न ब्रह्म-लोक। तब तो इस ब्रह्माण्ड का ही लोप हो जाता है और केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है।

क्या हम इस ब्रह्म को जान सकते हैं? संहिता में अनन्त-चित्रण का वर्णन मैं आपसे कर चुका हूँ। यहाँ पर दूसरे अनन्त का वर्णन है। पहिला अनन्त भौतिक प्रकृति का था, यह अनन्त आत्मा का है। पहिले सीधी भाषा में उसका वर्णन कर दिया गया था; पर इस बार जब उस तरह काम न चला; तो नेति-नेति का आश्रय लेना पड़ा। यह ब्रह्माण्ड हम देखते हैं, इसे ब्रह्म मानते हुए भी क्या हम उसे जान सकते हैं? नहीं, नहीं, आप इस एक बात को भली-भाँति समझ रक्खें। बार-बार आपके हृदय में यह प्रश्न उठेगा कि यदि यह ब्रह्म है, तो हम उसे कैसे जान सकते हैं? "विज्ञातारम् केन विजानीयात्।" "जानने वाले को किस प्रकार जाना जा सकता है?" आँखें सब कुछ देखती हैं; पर क्या वे अपने आपको भी देख सकती हैं? नहीं, यदि वे देख ली जायँ, तो उनका महत्व ही कम हो जाय। हे आर्य सन्तानों, तुम इस बात को याद रक्खो; क्योंकि इसमें एक बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। तुम्हें आकर्षण करनेवाले सभी पाश्चात्य विचारों की नींव यही है कि इन्द्रियों का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। हमारे वेदों में कहा गया है कि इन्द्रियों का ज्ञान ज्ञेय वस्तु से भी तुच्छ ता है क्योंकि वह सदा परिमित होता है। जब तुम किसी वस्तु

को जानना चाहते हो, तो तुम्हारे मस्तिष्क के कारण वह तुरन्त परिमित होजाती है। हमारे ऋषियों का कहना है कि सीप और मोती के उदाहरण का ध्यान करो और देखो किस प्रकार ज्ञान परिमित है। एक वस्तु को तुम जान पाते हो; पर पूर्णतया नहीं। सभी ज्ञान के विषय में यह सत्य है। तब क्या अनन्त को तुम जान सकते हो? हमारी आत्माओं तथा समस्त विश्व में स्थित उस निर्गुण साक्षी को जो कि सभी ज्ञान का तत्व है, क्या तुम जान सकते हो? उस निःसीम को तुम किन सीमाओं से बाँध सकते हो? सभी वस्तुएँ, यह सारा ब्रह्माण्ड इस प्रकार की की गई निष्फल चेष्टाएँ हैं। यह अनन्त आत्मा ही मानों छोटे-से-छोटे कीट से लेकर बड़े-से-बड़े देवता तक समस्त प्राणी-रूपी दर्पणों में अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहती है और फिर भी उन्हें कम पाती है; यहाँ तक कि मानव शरीर में उसे इस बात का ज्ञान होता है कि यह सब ससीम और सान्त हैं। सान्त में अनन्त का प्रदर्शन नहीं हो सकता। इसके बाद पीछे लौटना आरम्भ होता है। इसी का नाम वैराग्य है; पर इन्द्रियों को छोड़ फिर इंद्रियों के पास न चलो। सभी सुख और सभी धर्म का मूल-मंत्र यह वैराग्य ही है; क्योंकि याद रक्खो, इस सृष्टि का आरंभ ही तपस्या से हुआ है। जैसे ही तुम्हें अधिकाधिक वैराग्य होता जायगा, वैसेही सभी रूपों का लोप होता जायगा और अन्त में जो तुम हो वही रह जाओगे। इसी का नाम मोक्ष है।

इस विचार को हमें भली-भाँति समझ लेना चाहिये।

"विज्ञातारम् केन विजानीयात् ।" जाननेवाले को किस प्रकार जाना जाय ? क्योंकि यदि वह जान लिया जायगा, तो जानने वाला न रहेगा। दर्पण में तुम जिन आँखों को देखते हो वे, तुम्हारी वास्तविक आँखें नहीं; वरन् उनका प्रतिबिम्ब भर हैं। इसलिये यह सर्व-व्यापी और अनन्त आत्मा जो कि तुम हो, यदि केवल साक्षी है, तो क्या फ़ायदा हुआ ? हमारी भाँति संसार में रहकर वह उसका सुख-भोग नहीं कर सकती। लोगों की समझ में नहीं आता कि साक्षी सुख का अनुभव कैसे कर सकता है। "हिन्दुओ ! तुम इस मिथ्या सिद्धान्त को मानकर बिल्कुल निकम्मे हो गए हो।" अच्छा तो, पहिले सुख का सच्चा अनुभव तो साक्षी ही कर सकता है। यदि कहीं कुश्ती हो, तो किसे अधिक आनंद आवेगा, देखनेवालों को या लड़नेवालों को ? जीवन में जितना ही अधिक तुम किसी वस्तु को साक्षी होकर देखोगे, उतना ही अधिक तुम उसका आनंद ले सकोगे। इसी का नाम आनन्द है, इसलिए अनन्त आनन्द तुम तभी पा सकोगे, जब साक्षी-रूप में इस सभी ब्रह्माण्ड को देखोगे, तभी तुम मुक्त होगे। साक्षी ही विना किसी स्वर्ग-नरक के विचार के, विना कीर्ति-अपकीर्ति की इच्छा से कार्य कर सकता है। साक्षी को ही वास्तविक आनन्द मिलता है, अन्य को नहीं।

"अद्वैतवाद के व्यावहारिक रूप को समझने के पहिले हमें 'माया' के सिद्धांत को समझ लेना चाहिए। अद्वैतवाद की बातों को समझने और समझाने के लिए महीने और वर्ष

चाहिए। अतः यदि यहाँ मैं उनका सूक्ष्म में ही वर्णन करूँ तो, आप लोग मुझे क्षमा करेंगे। माया के सिद्धांत को समझने में सदैव कठिनता पड़ी है। संक्षेप में मैं आपको बताता हूँ कि माया का वास्तव में कोई सिद्धांत नहीं है। माया देश, काल और निमित्त के तीन विचारों का समुच्चय है ; देश, काल और निमित्त को भी आगे घटाकर केवल नामरूप रह जाता है। मान लीजिए कि सागर में एक लहर आई है। लहर सागर से केवल नाम और रूप में ही भिन्न है और यह नाम रूप लहर से भिन्न नहीं किए जा सकते। अब लहर चाहे पानी में मिल जावे ; पर पानी उतना ही रहेगा। यद्यपि अब लहर का नाम रूप नहीं रहा। इसी प्रकार यह माया ही हममें, तुममें, पशुओं और पक्षियों में, मनुष्यों और देवताओं में अन्तर डालती है। इस माया के ही कारण आत्मा अनन्त नाम रूप वाले पदार्थों में विभक्त दिखाई देती है। यदि नाम और रूप का विचार तुम छोड़ दो, तो तुम जो सदा थे, वही रह जाओगे। यही माया है। फिर देखो, यह कोई कल्पित सिद्धान्त नहीं, वरन् एक दृढ़ सत्य है। यथार्थवादी कहता है कि यह संसार है। अज्ञानियों, क्षुद्र यथार्थवादियों, बच्चों आदि का इससे यह अर्थ होता है कि इस मेज का एक अपना अस्तित्व है जिसका संसार की किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं तथा यदि यह सारा संसार नष्ट हो जावे, तो फिर भी यह रहेगी। थोड़े से ही ज्ञान से पता चल जाता है कि यह भूल है। इस भौतिक संसार में प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व के लिये सरी पर

निर्भर है। हमारे ज्ञान की तीन सीढ़ियाँ हैं। पहिली तो यह कि प्रत्येक वस्तु दूसरी से भिन्न है। वस्तुओं की पारस्परिक निर्भरता को समझना दूसरी सीढ़ी है। एक ही के यह सब नाना रूप हैं—इस सत्य का ज्ञान अन्तिम सीढ़ी है। अज्ञानी की ईश्वर-विषयक पहली कल्पना यह होती है कि वह कहीं संसार से अलग स्थित है अर्थात् ईश्वर की यह कल्पना बहुत ही मानुषिक है। वह वही करता है, जो मनुष्य करता है, केवल अधिक परिमाण में। हम देख ही चुके हैं कि ऐसा ईश्वर कितनी जल्दी न्याय और तर्क के विरुद्ध तथा परिमित शक्तिवाला सिद्ध किया जा सकता है। दूसरा विचार एक सर्व-व्यापी शक्ति का है। चण्डी में ऐसे ही ईश्वर की कल्पना की गई है; पर ध्यान दीजिये, यह ईश्वर ऐसा नहीं है, जो केवल शुभ-गुणों की ही खान हो। अच्छे गुणों के लिये ईश्वर और दुर्गुणों के लिये शैतान, तुम दो को नहीं मान सकते। मानो एक को ही और जो परिणाम हो उसका सामना करो।

"हे देवि, तू प्राणीवान में शांति और पवित्रता बनकर रहती है। हम तुझे नमस्कार करते हैं।" इसके साथ इसका जो परिणाम निकले, हमें उसका भी सामना करना होगा। "हे गार्गी, तू चिदानंद है। संसार में जहाँ कहीं भी सुख है, वह तेरा ही एक भाग है।" इसका उपयोग आप जो चाहें, करें। इसी प्रकाश में आप एक ग़रीब आदमी को सौ रुपये दे सकते हैं और दूसरा के जाली हस्ताक्षर कर सकता है; पर प्रकाश दोनों के

लिये एकही होगा। यह दूसरी सीढ़ी है। तीसरी सीढ़ी इस बात का ज्ञान होना है कि ईश्वर, न प्रकृति के बाहर है न भीतर; प्रत्युत ईश्वर, प्रकृति, आत्मा और ब्रह्माण्ड सब पर्यायवाची शब्द हैं। आप दो वस्तुओं को एक साथ नहीं देख सकते। आपकी सांसारिक भाषा ने आपको धोखे में डाल दिया है। आप समझते हैं कि हमारे एक शरीर है, एक आत्मा तथा दोनों मिलकर हम हैं। ऐसा कैसे हो सकता है? एकबार अपने ही मन में विचार करके देखिये। यदि आप लोगों में कोई योगी है, तो वह समझता है कि मैं चैतन्य हूँ। उसके लिये शरीर नहीं है। यदि कोई साधारण पुरुष है, तो वह समझता है कि यह शरीर मैं हूँ; पर आत्मा और शरीर के विचारों के प्रचलित होने से आप समझते हैं कि हम यह दोनों ही हैं। नहीं, बारी बारी से। जब शरीर देखते हो, तब आत्मा की बात न करो। तुम केवल कार्य ही देखते हो, कारण नहीं देख सकते और जिस क्षण तुम कारण देख लोगे, उस क्षण कार्य रहेगा ही नहीं। यह संसार कहाँ है, उसे कौन उठा ले गया?

"वह ब्रह्म, जोकि रूपहीन और अनन्त है तथा जो अनुपम और निर्गुण है, ऐसा ब्रह्म हे ज्ञानी, समाधिस्थ होने पर तेरे हृदय में प्रकाशित होगा।"

"जहाँ पर प्रकृति के सभी परिवर्तनों का अंत हो जाता है, विचारों से जो परे है, वेदों ने जिसका ज्ञान किया है, तथा जो हमारे जीवन का सार है, ऐसा ही ब्रह्म समाधि में तेरे हृदय में प्रकाशित होगा।"

"जन्म और मृत्यु से परे, वह अनन्त, उपमा-रहित, महा प्रलय के जल में डूबे हुए ब्रह्माण्ड के समान, जबकि ऊपर जल, नीचे जल चारों ओर जल ही जल हो तथा जिस अनन्त जल-राशि में एक छोटी सी भी लहर व हिलोर न उठती हो, जो अत्यन्त शांत और गम्भीर हो, जहाँ पर सारी इच्छाएँ और आशाएँ मिट गई हों और ज्ञानियों-अज्ञानियों के वाद-विवादों का जहाँ अंत हो गया हो, ऐसा ब्रह्म समाधि में तेरे हृदय में प्रकाशित होगा।" मनुष्य जब इस दशा को प्राप्त होता है तब संसार का लोप हो जाता है।

हम यह देख चुके हैं कि इस सत्य, इस ब्रह्म को जानना असंभव है, अज्ञानवादियों (ऐग्नोस्टिक्स) की भाँति नहीं, जो कहते हैं ईश्वर जाना ही नहीं जा सकता, वरन् इसलिए कि उसको जानना अधर्म होगा ; क्योंकि हम स्वयं ही ब्रह्म हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि यह मेज ब्रह्म नहीं है और फिर भी है। नाम और रूप को हटा दो और जो कुछ यथार्थ में रहेगा वही ब्रह्म है। प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता वही है।

"तू स्त्री में है, तू पुरुष में है, जवानी के घमण्ड में चलते हुए युवक में और लाठी के सहारे खड़े हुए वृद्ध पुरुष में भी तू है। तू ही सब में है और मैं तू हूँ।" यही अद्वैतवाद है। दो शब्द और। हम देखते हैं कि संसार का रहस्य यहीं समझाया गया है। यहाँ पर खड़े होकर हम सभी तर्क और विज्ञान आदि का सामना कर सकते हैं। यहाँ पर कोरा विश्वास का आश्रय नहीं लेना पड़ता, वरन् अद्वैतवाद तर्क और न्याय की दृढ़ नींव पर स्थिर है। साथ ही

वेदांती अपने से पूर्व वादों को गाली नहीं देता, वरन् उन्हें प्रेम की दृष्टि से देखता है, क्योंकि वह जानता है कि वे भी सत्य हैं, केवल वे समझे ग़लत गए थे और लिखे ग़लत गये थे। वे सब एक ही थे, माया के आवरण के कारण उनका रूप चाहे विकृत ही क्यों न होगया हो, फिर भी वे सत्य ही थे। जिस ईश्वर को अज्ञानी ने प्रकृति के बाहर देखा था, जिसे किञ्चिद् ज्ञानी ने विश्व में व्याप्त देखा था तथा पूर्ण ज्ञानी ने जिसे अपनी आत्मा करके जाना था—वे सब ईश्वर और यह ब्रह्माण्ड एक ही थे। एक ही वस्तु अनेक स्थानों से देखी गई थी। माया के कारण उसके अनेक रूप दिखाई दिये थे। सारा अन्तर और भेद माया के ही कारण था। यही नहीं, सत्य ज्ञान को पाने के लिये यह भिन्न-भिन्न सीढ़ियाँ हैं। विज्ञान और साधारण ज्ञान में क्या अन्तर है? सड़क पर जाओ और किसी गँवार से वहाँ पर घटी हुई किसी विचित्र घटना का रहस्य पूछो। सोलह में पन्द्रह आने तो वह यही कहेगा कि यह भूतों का काम है। अज्ञानी कारण को सदैव कार्य के बाहर ही ढूँढ़ता है और इसीलिये वह सदैव घटना से, जिनका कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसे भूत-प्रेतों को ढूँढ़ निकालता है। यदि कहीं पत्थर गिरा है, तो वह कहेगा कि यह शैतान या भूत का काम है, पर वैज्ञानिक कहेगा कि वह प्रकृति के नियम या पृथ्वी की आकर्षणशक्ति के कारण गिरा है।

विज्ञान और धर्म का प्रतिदिन का झगड़ा क्या है? धर्मों में संसार के कारण संसार के बाहर बताये गये हैं। एक

देवता सूर्य में है, एक चन्द्रमा में। प्रत्येक परिवर्तन किसी बाहरी शक्ति के कारण होता है। कारण कार्य में ही नहीं ढूँढ़ा जाता। विज्ञान का कहना है कि प्रत्येक वस्तु का कारण उसी में रहता है। जैसे-जैसे विज्ञान ने बढ़ती की है, उसने संसार के रहस्यों की कुञ्जी भूत-प्रेतों के हाथ से छीन ली है और इसलिये अद्वैतवाद अत्यन्त वैज्ञानिक धर्म है। यह सृष्टि किसी बाहरी शक्ति, किसी बाहरी ईश्वर की बनाई हुई नहीं है। यह स्वयं जन्म लेनेवाली, स्थित रहनेवाली तथा स्वयं नाश को प्राप्त होनेवाली है। यह एक अनन्त जीवन है, ब्रह्म है। "तत्त्वमसि।" "हे श्वेतकेतु, वह तू ही है।" इस प्रकार तुम देखते हो कि अद्वैतवाद ही एक वैज्ञानिक धर्म हो सकता है। अर्द्ध-शिक्षित भारतवर्ष में प्रति-दिन मैं जो विज्ञान, न्याय और तर्क आदि के विषय में लम्बी चौड़ी बातें सुनाता हूँ, उनके होते हुए भी मैं आशा करता हूँ कि तुम सब अद्वैतवादी होने का साहस कर सकोगे और बुद्ध के शब्दों में, "संसार के हित के लिये, संसार के सुख के लिये" उसका प्रचार करोगे। यदि ऐसा करने का साहस तुम में नहीं है, तो मैं तुम्हें कायर कहकर पुकारूँगा। यदि तुम में कायरता है, भय है, तो दूसरों को भी उतनी ही स्वतंत्रता दो। किसी ग़रीब उपासक की मूर्ति जाकर न तोड़ो। उसे शैतान न कहो। जिसका तुम्हारे विचारों से सामञ्जस्य नहीं, उसे जाकर उपदेश न देने लगो। पहिले यह जान लो कि तुम स्वयं कायर हो। यदि तुम्हें समाज से, अपने अन्ध विश्वासों से

भय है, तो सोचो कि अन्य अज्ञानियों को उनसे कितना अधिक भय होगा। अद्वैतवादी कहता है कि दूसरों पर भी दया दिखाओ। क्या ही अच्छा होता कि कल ही सारा संसार अद्वैतवादी हो जाता, अद्वैतवाद को सिद्धान्तरूप से ही न मानता वरन् उसे कार्य-रूप में भी लाता; पर यदि वैसा नहीं हो सकता, तो सभी धर्मों से हाथ मिलाकर, धीरे-धीरे जैसे वे जा सकें, उन्हें सत्य की ओर ले चलो। याद रक्खो, भारतवर्ष में प्रत्येक धार्मिक प्रगति उन्नति की ही ओर हुई है, बुरे से अच्छे की ओर नहीं, वरन् अच्छे से और भी अच्छे की ओर।

अद्वैतवाद की व्यावहारिकता के विषय में दो शब्द और कहने हैं। हमारे बच्चे आजकल न जाने किससे सीखकर बड़ी जल्दी-जल्दी कहा करते हैं कि अद्वैतवाद लोगों को पापी बना देगा; क्योंकि यदि हम सब एक हैं, और ईश्वर है तो हमें कोई धर्माधर्म का विचार करने की आवश्यकता नहीं। पहिली बात, तो यह है कि यह तर्क पशुओं का है, जो कि विना कोड़े के मान नहीं सकते। यदि तुम ऐसे ही पशु हो, तो कोड़े से ही माननेवाले मनुष्य बनने से तुम्हारे लिए मर जाना ही अच्छा है। यदि कोड़ा खींच लिया जावे, तो तुम सब राक्षस हो जाओगे! यदि ऐसा ही है, तो तुम सब लोगों को मार डालना चाहिये, अन्य उपाय नहीं, क्योंकि विना कोड़े और डंडे के तुम लोग रहोगे नहीं और इसलिये तुम लोगों को कभी मोक्ष-लाभ न होगा। दूसरी बात यह है कि अद्वैतवाद

ही धर्म के रहस्य को बताता है। प्रत्येक धर्म कहता है कि धर्म का सार यही है कि दूसरों की भलाई करो। और क्यों? स्वार्थ को छोड़ दो। क्यों? किसी देवता ने ऐसा कहा है! कहने दो, मैं उसे नहीं मानता। हमारी धर्म-पुस्तक में लिखा है, लिखा रहने दो। मैं उसे भी नहीं मानता। और संसार का धर्म क्या है, सब लोग अपना-अपना स्वार्थ-साधन करो, ग़रीब को अपनी मौत आप मरने दो। कम से कम संसार के अधिकांश जनों का यही धर्म है। मैं क्यों धर्म करूँ? इसका कारण तुम तब तक नहीं बता सकते, जब तक कि तुम्हें सत्य-ज्ञान न होगा।

"वह जो कि अपने को प्रत्येक प्राणी में और प्रत्येक प्राणी को अपने में देखता है और इस प्रकार सब प्राणियों में एक ही ईश्वर को स्थित जानता है, वही ज्ञानी आत्मा की आत्मा से हत्या नहीं कर सकता।" अद्वैतवाद तुम्हें बताता है कि दूसरे की हानि कर तुम अपनी ही हानि करते हो; क्योंकि वह तुमसे भिन्न नहीं है। तुम जानो, चाहे न जानो; पर सभी हाथों से तुम काम करते हो, सभी पैरों से तुम चलते हो। राज-मन्दिर में विलास करनेवाले सम्राट् तुम्हीं हो और सड़क पर पड़े हुए भूख से त्राहि-त्राहि करनेवाले भिखारी भी तुम्हीं हो। तुम ज्ञानी में हो और अज्ञानी में भी हो, तुम सबल में भी हो और निर्बल में भी हो। ऐसा जानकर हृदय में सहानुभूति को जन्म दो। इसीलिये मुझे दूसरों को दुख न पहुँचाना चाहिये। और इसीलिये ही मुझे इसकी चिन्ता नहीं कि मुझे खाने को मिलता है कि नहीं;

क्योंकि लाखों मुख तो खाते होंगे और वे सब मेरे ही तो हैं। इसलिये मेरा चाहे जो हो, मुझे चिन्ता नहीं; क्योंकि यह सारा संसार मेरा है। उसके सारे आनन्द का उपभोग मैं कर रहा हूँ। मुझे, इस ब्रह्माण्ड में कौन मार सकता है? यही अद्वैतवाद का व्यावहारिक धर्म है। दूसरे धर्म भी यही बात सिखाते हैं; पर उसका कारण नहीं बता सकते। अच्छा इतना तो कारणों के लिये हुआ।

इस सबसे लाभ क्या हुआ? पहिले इसको सुनना चाहिये। "श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" संसार के ऊपर जो तुमने माया का आवरण डाल रक्खा है, उसे दूर कर दो। मनुष्य-जाति में निर्बल शब्दों और विचारों का प्रचार न करो। यह जान रक्खो कि सभी पापों और बुराइयों की जड़ निर्बलता ही है। निर्बलता के ही कारण मनुष्य बुरे और जघन्य काम करता है, निर्बलता के ही कारण वह वे कार्य करता है, जो उसे करने न चाहियें, निर्बलता के ही कारण वह अपनी वास्तविकता को भूल और का और बन जाता है। मनुष्यों को जानना चाहिये कि वे क्या हैं, जो कुछ वे हैं, उसका उन्हें अहर्निशि ध्यान करना चाहिये। सोऽहम्। इस शक्ति के विचार को उन्हें माँ के दूध के साथ पी जाना चाहिये। मैं वही हूँ, मैं वही हूँ। मनुष्य इसीका सतत् चिन्तन करें और ऐसा सोचनेवाले हृदय वे कार्य सम्पन्न करेंगे, जिन्हें देखकर विश्व चकित रह जावेगा। कोई-कोई कहते हैं कि अद्वैतवाद कार्य-रूप में नहीं लाया जा सकता

अर्थात् भौतिक उन्नति के लिये उसका कोई महत्व नहीं। किसी हद तक यह ठीक हो सकता है क्योंकि वेदों का कहना है कि—

"ओमित्येकाक्षरम् ब्रह्म ओमित्येकाक्षरम् परम्।"

"ओम् ही महान् रहस्य है, ओम् ही विशाल सम्पत्ति है;
जो ओम् के रहस्य को जानता है, वह मनवांछित फल पाता है।"

इसीलिए, पहले इस ओम् के रहस्य को तो जानो कि तुम ही ओम् हो। 'तत्त्वमसि' के तत्त्व को तो समझो। ऐसा करने पर ही जो तुम चाहोगे, तुम्हें मिलेगा। यदि तुम धन-वैभव चाहते हो, तो विश्वास करो कि वह तुम्हें मिलेगा। मैं चाहे एक छोटा सा बुल्ला होऊँ और तुम चाहे एक तुङ्ग-तरङ्ग हो; पर याद रक्खो कि हमारी-तुम्हारी दोनों की ही शक्ति का आगार एक वही अनन्त-सागर परमात्मा है। उसी में से मैं एक छोटा सा बुल्ला और तुम एक तुङ्ग-तरङ्ग दोनों ही जितनी शक्ति चाहें ले सकते हैं। इसलिए अपने आप में विश्वास करना सीखो। अद्वैत-वाद का यही रहस्य है कि पहले अपने आप में विश्वास करना सीखो फिर किसी अन्य वस्तु में। संसार के इतिहास में तुम देखोगे कि उन जातियों ने ही उन्नति की है, जिन्होंने अपने आप में विश्वास किया है। प्रत्येक जाति के इतिहास में तुम देखोगे कि वे ही पुरुष महान् हुए हैं, जिन्होंने अपने आप में विश्वास किया है। यहाँ भारतवर्ष में एक साधारण स्थिति का अँग्रेज क्लर्क आया था, जिसने धनाभाव से दो बार अपने सिर में गोली मारकर आत्म-हत्या करने की चेष्टा की थी; पर जब दोनों ही बार वह अस-

फल रहा, तब उसे विश्वास हुआ कि मैं संसार में महान् कार्य सम्पन्न करने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ। यही व्यक्ति आगे चलकर भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डालनेवाला प्रख्यात लॉर्ड क्लाइव हुआ। यदि उसने पादरियों का विश्वास कर यही कहा होता—"हे ईश्वर, मैं बहुत कमज़ोर हूँ, मैं बड़ा पापी हूँ।" तो वह कहाँ होता? एक पागलखाने में। इन निर्बल विचारों को सिखा-सिखाकर तुम्हारे धर्म-गुरुओं ने तुम्हें पागल बना दिया है। मैंने संसार भर में घूम कर देखा है कि इन पाप-शिक्षाओं ने मनुष्य-जाति को नष्ट कर डाला है। हमारे बच्चे ऐसे ही विचारों के साथ बढ़कर मनुष्य बनते हैं, आश्चर्य ही क्या कि वे आधे सिड़ी होते हैं।

द्वैअतवाद का यह व्यावहारिक रूप है। अपने आप में विश्वास करो और यदि तुम धन-सम्पत्ति चाहते हो, तो उसे पाने के लिए प्रयत्न करो, वह तुम्हें अवश्य मिलेगी। यदि तुम प्रतिभा-शाली और मनस्वी होना चाहते हो, तो उसके लिए भी चेष्टा करो, तुम वैसे ही होगे। यदि तुम स्वतंत्रता चाहते हो, तो प्रयत्न करो, तुम देवता बनोगे। 'निर्वाण' चिदानन्द का आश्रय लो।" भूल यहीं पर होती थी। अद्वैतवाद का आत्मिकक्षेत्र में ही प्रयोग किया गया था, पर अब समय आ गया है, जबकि तुम्हें उसे भौतिक क्षेत्र में भी लाना है। अब वह रहस्य न रहेगा, ऋषियों के साथ वनों में, कन्दराओं में व हिमालय पर्वत में वह छिपा न रहेगा। संसार का प्रत्येक प्राणी उसे कार्यरूप में लावेगा। राजा के मन्दिर में, सन्यासी की गुफा में, गरीब की झोपड़ी में—

प्रत्येक जगह उसका प्रयोग किया जा सकता है। एक भिक्षुक भी उसका प्रयोग कर सकता है, क्योंकि हमारी गीता में लिखा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

इसलिए चाहे तुम स्त्री हो, चाहे शूद्र हो, चाहे अन्य कुछ, तुम तनिक भी भय न करो, क्योंकि श्रीकृष्णजी ने कहा है कि यह धर्म इतना विशाल है कि थोड़ा सा करने पर भी बहुत सा फल देता है। इसलिए हे आर्य सन्तानों, आलस्य को त्याग दो। जागो और उठ खड़े हो और जब तक लक्ष्य-सिद्धि न हो आगे बढ़ते ही चलो। अद्वैतवाद को कार्य-रूप में लाने का यही समय है। आओ, उसे आकाश से पृथ्वी पर उतारें, यही हमारा वर्तमान कर्तव्य है। देखो, तुम्हारे जन्म-दाता महर्षि तुमसे पुकार कर कह रहे हैं कि "बच्चो अब रुक जाओ। अपनी शिक्षा और उपदेशों को नीचे उतरने दो और समाज की नसों में भर जाने दो। उन्हें प्रत्येक प्राणी के जीवन का भाग तथा समाज का सार्वजनिक धन बनने दो। मनुष्यों की धमनियों में रक्त के साथ उन्हें बहने दो।" सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा; पर पश्चिम के लोग वेदान्त को तुमसे अधिक कार्य-रूप में लाये हैं। न्यूयार्क के समुद्र-तट पर खड़ा होकर मैं देखता था कि किस प्रकार विविध देशों से पद-दलित और आशाहीन परदेशी वहाँ पर आते हैं। उनके पहनने के कपड़े फटे हुए हैं, एक छोटी सी मैली गठरी ही उनकी सारी सम्पत्ति है, किसी मनुष्य की आँखों से आँखें मिला कर वे देख नहीं सकते। यदि वे किसी पुलिसवाले

को देखते हैं, तो भय से हटकर रास्ते के दूसरी ओर हो जाते हैं और छः महीने में ही वे अच्छी पोशाक पहिने, सबकी दृष्टि से दृष्टि मिलाये, अकड़ते हुए चलते दिखाई देते। और इस अद्भुत काया-पलट का कारण क्या था? मान लो यह पुरुष आर्मीनिया या अन्यत्र कहीं से आया है, जहाँ पर उसकी तनिक भी चिन्ता न कर सब उसे ठोकरें मारते थे, जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति उससे यही कहता कि तू .गुलाम पैदा हुआ है और आजीवन .गुलाम ही रहेगा, जहाँ वह यदि तनिक भी हिलने की चेष्टा करता, तो उस पर सहस्रों पदाघात होते। वहाँ प्रत्येक वस्तु उससे यही कहती—".गुलाम, तू .गुलाम है, वहीं रह। आशाहीन तू पैदा हुआ था, आशाहीन ही रहेगा।" वायु-मण्डल भी गूँज-गूँज कर प्रतिध्वनि करता—"तेरे लिए कोई आशा नहीं, तू .गुलाम है।" वहाँ पर सबल ने उसे पीस डाला था और जब वह न्यूयॉर्क की विस्तृत सड़कों में आया, तो उसने अच्छी पोशाक पहिने हुए एक सभ्य पुरुष को अपने से हाथ मिलाते पाया। अच्छे और बुरे कपड़ों ने कोई अन्तर न डाला। आगे चलकर उसे एक भोजनालय मिला जहाँ पर एक मेज़ पर बैठे हुए कई सभ्य पुरुष भोजन कर रहे थे; उसी मेज़ पर बैठकर भोजन करने के लिए उससे भी कहा गया। वह चारों ओर आया गया और उसे एक नवीन जीवन का अनुभव हुआ। यहाँ कम-से-कम वह भी मनुष्यों में एक मनुष्य था। शायद वह वाशिंगटन भी गया और वहाँ संयुक्त-राज्य के सभापति से हाथ

मिलाया। वहाँ पर उसने फटे कपड़े पहिने, सुदूरस्थ गाँवों से किसानों को भी आते हुए देखा, जो कि सभापति से हाथ मिलाते थे। अब माया का पर्दा हट गया। ग़ुलामी और निर्बलता के कारण वह भूल गया था कि मैं ब्रह्म हूँ। एक बार फिर जागकर उसने देखा कि संसार के अन्य मनुष्यों की भाँति वह भी एक मनुष्य है। हमारे ही इस देश में, वेदान्त के इस पुण्य जन्म-स्थान में ही, शताब्दियों से हमारा जन-समुदाय इस अधोगति को पहुँचा हुआ है। उनके साथ बैठना भी पाप है! 'आशा-हीन तुम पैदा हुए थे, आशाहीन ही रहो,—परिणाम यह होता है कि वे दिन-पर-दिन गिरते ही जाते हैं, गिरते ही जाते हैं, यहाँ तक कि मनुष्य की जो पतित-से-पतित अवस्था हो सकती है; वे आज उस तक पहुँच गए हैं। संसार में ऐसा कौनसा देश है, जहाँ मनुष्य को पशुओं के साथ सोना पड़ता है? और इसके लिए अज्ञानियों की भाँति दूसरों को दोष न दो। जहाँ कार्य है, वहीं कारण भी है। दोषी हमीं हैं। दृढ़तापूर्वक खड़े होकर दोषों को अपने ही सिर पर लो। दूसरों के ऊपर कीचड़ न फेंकते फिरो। उन तमाम दोषों के, जिनके कारण तुम दुख पाते हो, एक मात्र उत्तरदायी तुम्हीं हो।

लाहौर के नवयुवको, इस बात को भली-भाँति समझ लो। सारे पैतृक और जातीय पापों का भार तुम्हारे ही कन्धों पर है। तुम चाहे जितनी सभा-सोसाइटियाँ और कान्फ्रेंसें कर डालो, तुम्हारा तब तक भला न होगा जब तक कि तुम्हारे पास वह

५९, वह प्रेम, वह सहानुभूति न होगी, जो कि दूसरे के दुख-

सुख को अपना समझती है। जब तक भारतवर्ष में एक बार फिर बुद्ध का हृदय नहीं आता, जब तक योगेश्वर कृष्ण के शब्द कार्य-रूप में नहीं लाये जाते, तब तक हमारे लिये कोई आशा नहीं। तुम लोग यूरोप-वासियों की नक़ल करते जाओ; पर सुनो, मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ, जो कि मेरी आँखों देखी हुई एक सच्ची घटना है। यहाँ से कुछ यूरेशियन कुछ बर्मा-निवासियों को लण्डन ले गये और वहाँ उन्हें जनता को दिखाकर पैसे वसूल किये। इसके बाद उन्होंने उन्हें यूरोप में ले जाकर मरने-जीने के के लिये छोड़ दिया। वे बिचारे कोई यूरोप की भाषा भी न जानते थे; पर आस्ट्रिया के अंग्रेज राज-दूत ने उन्हें लण्डन भिजवा दिया। लण्डन में भी वे किसी को न जानने के कारण असहाय थे। वहाँ पर एक अंग्रेज़ महिला को उनका पता लगा। वह उन्हें अपने घर ले गई तथा पहनने के लिये अपने कपड़े और सोने के लिये अपने बिस्तर दिये। फिर उसने उनकी दशा की खबर अखबारों में भेज दी। दूसरे ही दिन सारी जाति मानों सोते से जाग पड़ी। बहुत सा पैसा इकट्ठा हो गया और वे लोग बर्मा भेज दिये गये। इस प्रकार की सहानुभूति पर ही उनकी सामाजिक व राजनैतिक संस्थाएँ और व्यवस्थाएँ स्थित हैं। उनमें कम से कम अपने देशवासियों के लिये अटल प्रेम है। उन्हें चाहे दुनिया से प्रेम न हो, सब लोग चाहे उनके दुश्मन ही हों, पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि स्वजाति के लिये उनमें प्रगाढ़ प्रेम तथा द्वार पर आये हुए परदेशी के लिये

दया और न्याय है। यह मेरी कृतघ्नता होगी, यदि मैं तुम्हें न बताऊँगा कि किस प्रकार पश्चिम के प्रत्येक देश में मेरा बड़े ही आदर व सम्मान के साथ स्वागत किया गया था। यहाँ वह हृदय कहाँ है, जिस पर तुम राष्ट्र का प्रासाद खड़ा करोगे ? हम लोग एक छोटी सी कम्पनी बनाकर कार्य शुरू नहीं करते कि झट एक दूसरे को धोखा देने लग जाते हैं और शीघ्र सारा मामला ठप हो जाता है। तुम कहते हो कि हम उनका अनुकरण करेंगे, उन्हीं की भाँति अपना भी राष्ट्र बनावेंगे ; पर उनकी सी यहाँ नींवें कहाँ हैं ? यहाँ पर तो बालू ही बालू है और इसलिए जो इमारत खड़ी भी करते हो, वह तुरन्त ही बहराकर बैठ जाती है। इसलिए हे लाहौर के नवयुवको, एक बार फिर उसी अद्वैत के अद्वितीय झण्डे को उठाओ। जब तक तुम सब में एक ही परमात्मा को समान रूप से प्रकट होते न देखोगे, तब तक तुम्हारे हृदय में सच्चा प्रेम उत्पन्न न होगा। उस प्रेम के झण्डे को फहरा दो।'' जागो, और उठ खड़े हो और जब तक लक्ष्य सिद्धि न हो, आगे बढ़ते ही चलो।'' जागो, जागो, एक बार फिर जागो ; क्योंकि बिना त्याग के कुछ नहीं हो सकता। यदि तुम दूसरों की सहायता करना चाहते हो, तो अपनी चिन्ता करना छोड़ दो। जैसा कि ईसाई कहते हैं, तुम एक साथ ही ईश्वर और शैतान दोनों की उपासना नहीं कर सकते। तुम्हारे जन्मदाता तपस्वी पुर्खों ने बड़े-बड़े काम करने के लिए संसार त्याग दिया था। आज भी ऐसे पुरुष दुनियाँ में हैं, जिन्होंने

मुक्ति पाने के लिए संसार को छोड़ दिया है; पर तुम सब मोह त्याग दो, अपनी मुक्ति की भी चिन्ता छोड़ दो और जाओ, दूसरों की सहायता करो। तुम लोग सदा लम्बी-चौड़ी हाँका करते हो, यह देखो वेदान्त का कार्य-क्रम। अपने इस छोटे से जीवन का उत्सर्ग कर दो। हमारे तुम्हारे से सहस्रों के भी भूख से प्राण गँवा देने से क्या होगा, यदि हमारी जाति जीवित रहेगी! हमारी जाति डूबी जा रही है। उन असंख्य भारतवासियों की आहें, जिन्हें तुमने निर्मल जल वाली नदी के होते हुए भी पीने के लिए पोखरे का गन्दा जल दिया है, जिन्हें भोजन के ढेर लगे रहने पर भी तुमने भूखों मारा है, जिन्हें तुमने अद्वैत का उपदेश दिया है; पर जिनसे तुमने हृदय से घृणा की है, जिनके लिए तुमने लोकाचार के अनोखे सिद्धान्तों का आविष्कार किया है, जिनसे तुमने केवल सिद्धान्तरूप से कहा है कि हम सब में एक ही ईश्वर है; पर जिस सिद्धान्त को तुमने कभी कार्य-रूप में लाने की चेष्टा नहीं की—भारतवर्ष के ऐसे असंख्य पतित निवासियों का अभिशाप आज तुम्हारे सिर पर है। तुमने सदा यही कहा है—"मित्रो, यह सब विचार अपने हृदय में ही रक्खो, उन्हें कार्य-रूप में कदापि न लाओ।" अरे इस काले धब्बे को मिटा दो। "जागो, और उठ खड़े हो।" यदि यह छोटा सा जीवन जाता है, तो जाने दो। संसार के प्रत्येक प्राणी को मरना है, पापी को भी, पुण्यात्मा को भी, अमीर को भी, ग़रीब को भी। जागो, उठो, अपने हृदय में सत्य प्रेम को जन्म दो। हम लोगों में वेदन

धोखेबाज़ी आ गई है। हमें वह चरित्र-बल और दृढ़ता चाहिए, जो मनुष्य को मृत्यु के समान जकड़ कर पकड़ ले।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्,
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

"नीतिज्ञ चाहे निन्दा करें, चाहे स्तुति करें, लक्ष्मी आवे, चाहे जाय, मौत आज आती हो, तो आज आजावे और सौ बरस बाद आती हो, तो तब आवे, धैर्यशाली पुरुष किसी की भी चिन्ता न कर न्याय-पथ से एक पग भी विचलित नहीं होते।" जागो, उठ खड़े हो। समय बीता जा रहा है। इस प्रकार हमारी सारी शक्ति बातें करने में ही खर्च हो जावेगी। जब मुसलमान भारतवर्ष में पहिले-पहल आए थे तब यहाँ साठ करोड़ हिन्दू थे, आज वहीं वे बीस करोड़ से भी कम हैं। दिन पर दिन वे घटते ही जावेंगे, यहाँ तक कि उनका नाम-निशान भी न रहेगा। उनका नाम-निशान रहे अथवा न रहे; पर उनके साथ वेदान्त के उन अनुपम विचारों का भी लोप हो जायगा, जिनके कि हिन्दू अपने सारे दोषों और अन्धविश्वासों के होते हुए भी एक मात्र प्रतिनिधि हैं। उनके साथ इस आत्म-ज्ञान के अमूल्य-मणि अद्वैत का भी लोप हो जायगा। इसलिए मैं कहता हूँ, जागो और उठ खड़े हो। संसार के आत्म-ज्ञान की रक्षा के लिए अपने हाथ फैला दो। और सबसे पहले अपनी

जातीयता की रक्षा करो। हमें आत्म-ज्ञान की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी अद्वैत को कार्य-रूप में लाने की। पहले रोटी, पीछे धर्म। जब तुम्हारे देशवासी भूखों मर रहे थे, तब तुम उन्हें धर्म खिला रहे थे। भूख की अग्नि को धर्म कभी शान्त नहीं कर सकता। हमें पतित करनेवाली दो वस्तुएँ हैं—एक हमारी निर्बलता, दूसरी हमारी ईर्ष्या व घृणा, हमारे सूखे हृदय। तुम लाख सिद्धान्त मानो, लाख धर्म चलाओ; पर जब तक तुम्हारे हृदय में सच्चा प्रेम, सच्ची सहानुभूति नहीं है, तब तक इन सबसे कुछ न होगा। अपने निर्धन देश-भाइयों से उसी भाँति प्रेम करना सीखो, जिस प्रकार तुम्हारे वेद तुम्हें सिखाते हैं। इस बात का हृदय में अनुभव करो कि ग़रीब और अमीर, पापी और पुण्यात्मा, सब एक ही अनन्त ब्रह्म के विभिन्न भाग हैं।

इसी भाँति, सज्जनो, मैं आपके सम्मुख संक्षेप में अद्वैतवाद के प्रमुख सिद्धान्तों को रख सका हूँ और मैंने आपको यह भी बताया है कि किस प्रकार आज उन्हें इस देश में ही नहीं वरन् सारे संसार में कार्य-रूप में लाने का समय आ गया है। आधुनिक विज्ञान के वज्र-प्रहार आज संसार के सभी द्वैत-वादी धर्मों की मिट्टी की बनी हुई नींवों को चूर्ण कर रहे हैं। भारतवर्ष में ही नहीं, यहाँ से भी अधिक यूरोप और अमेरिका में द्वैतवादी, विज्ञान से अपनी रक्षा करने के लिए, अपनी धर्म-पुस्तकों के पाठों को जहाँ तक खींचा जाता है, इधर-उधर खींचते हैं, पर धर्म-पुस्तकों के पाठ कुछ इण्डिया-रबर तो हैं नहीं, जो खिचते ही

चले जायँगे। हमारे अद्वैतवाद के विचारों को वहाँ लेजाना होगा और अभी भी अद्वैतवाद का विचार वहाँ पहुँच चुका है। उसे खूब बढ़ाना होगा, जिससे वह उनकी सभ्यता की रक्षा कर सके। पश्चिम में पुरानी व्यवस्थाओं का अन्त होरहा है और सोने और शैतान की उपासना का जन्म हो रहा है। उनके इस सोने और व्यापारिक होड़ा-होड़ी के धर्म से उनके प्राचीन अन्ध-विश्वासी धर्म कहीं अच्छे थे। कितनी भी बलशाली जाति क्यों न हो, ऐसी नीवों पर वह सदा स्थिर नहीं रह सकती। संसार का इतिहास हमें बताता है कि जिन जातियों की ऐसी नीवें थीं, वे कभी की नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी हैं। सबसे पहिले हमें ऐसी लहर को भारत में आने से रोकना चाहिये। इसलिये अद्वैतवाद का खूब प्रचार करो, जिससे धर्म विज्ञान के इस धावे को सह सके। यही नहीं, तुम्हें दूसरों की भी सहायता करनी होगी। तुम्हारे विचार यूरोप और अमेरिका की रक्षा करेंगे; पर एक वार मैं तुम्हारे सम्मुख कार्य-क्रम की तुम्हें फिर याद दिलाता हूँ कि सबसे पहिले तुम्हें अपने देश के असंख्य पतित भाइयों का उद्धार करना होगा। श्रीकृष्ण के शब्दों का स्मरण करते हुए उन्हें हाथ पकड़कर उठाओ।

"इस जीवन में ही उन्होंने स्वर्ग को पा लिया है, जिनके हृदय में ब्रह्म की एकता का दृढ़ विश्वास है, क्योंकि ईश्वर पवित्र है और सबके लिये समान है। इसलिये ऐसों ही को कहा जाता है कि वे परमात्मा में निवास करते हैं।"

स्थायी ग्राहकों के नियम.

(१) स्थायी ग्राहक बनने की प्रवेश-फ़ीस ||) है।

(२) पुस्तकें प्रकाशित होने के २० दिन पूर्व मूल्य आदि का सूचना-पत्र ग्राहकों की सेवा में भेजा जाता है, उसके उत्तर में किसी प्रकार की सूचना न मिलने पर वी० पी० लेना स्वीकार समझ २५) सैकड़ा कमीशन काटकर पुस्तकें वी० पी० द्वारा भेज दी जाती हैं।

(३) हमारे यहाँ से प्रकाशित सभी पुस्तकों पर स्थायी ग्राहकों को २५) सैकड़ा कमीशन मिलेगा।

(४) स्थायी ग्राहक जिस पुस्तक को चाहे लें, जिस पुस्तक को चाहे न लें। यह उनकी इच्छा पर निर्भर है; पर सूचना पत्र का उत्तर अवश्य देना चाहिये। वी० पी० जाने पर उसे वापिस नहीं करना चाहिये। इससे हमारी हानि होती है। ग्राहकों को हमारी हानि अपनी ही हानि समझना चाहिये।

(५) स्थायी ग्राहकों को अन्य सभी प्रकाशकों की पुस्तकों पर =) फ़ी रुपया कमीशन दिया जाता है। इतना अधिक कमीशन देने का नियम कहीं भी नहीं है।

(६) स्थायी ग्राहक आर्डर देते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिख दिया करें, जिसमें उनके आर्डर पर कमीशन काटने में भूल न हो।

(७) स्थायी ग्राहक की भूल से वी० पी० लौट आने पर खर्च उनको ही देना पड़ता है, और दो बार वी० पी० लौटने पर स्थायी ग्राहकों की सूची से उनका नाम काट दिया जाता है।

नोट—ग्राहकों को पता स्पष्ट और ठीक-ठीक लिखना चाहिये। जब कभी वे स्थान-परिवर्त्तन करें, उनकी सूचना हमें तुरन्त दें। जिसमें हम उनका पता अपने यहाँ ठीक कर सकें।